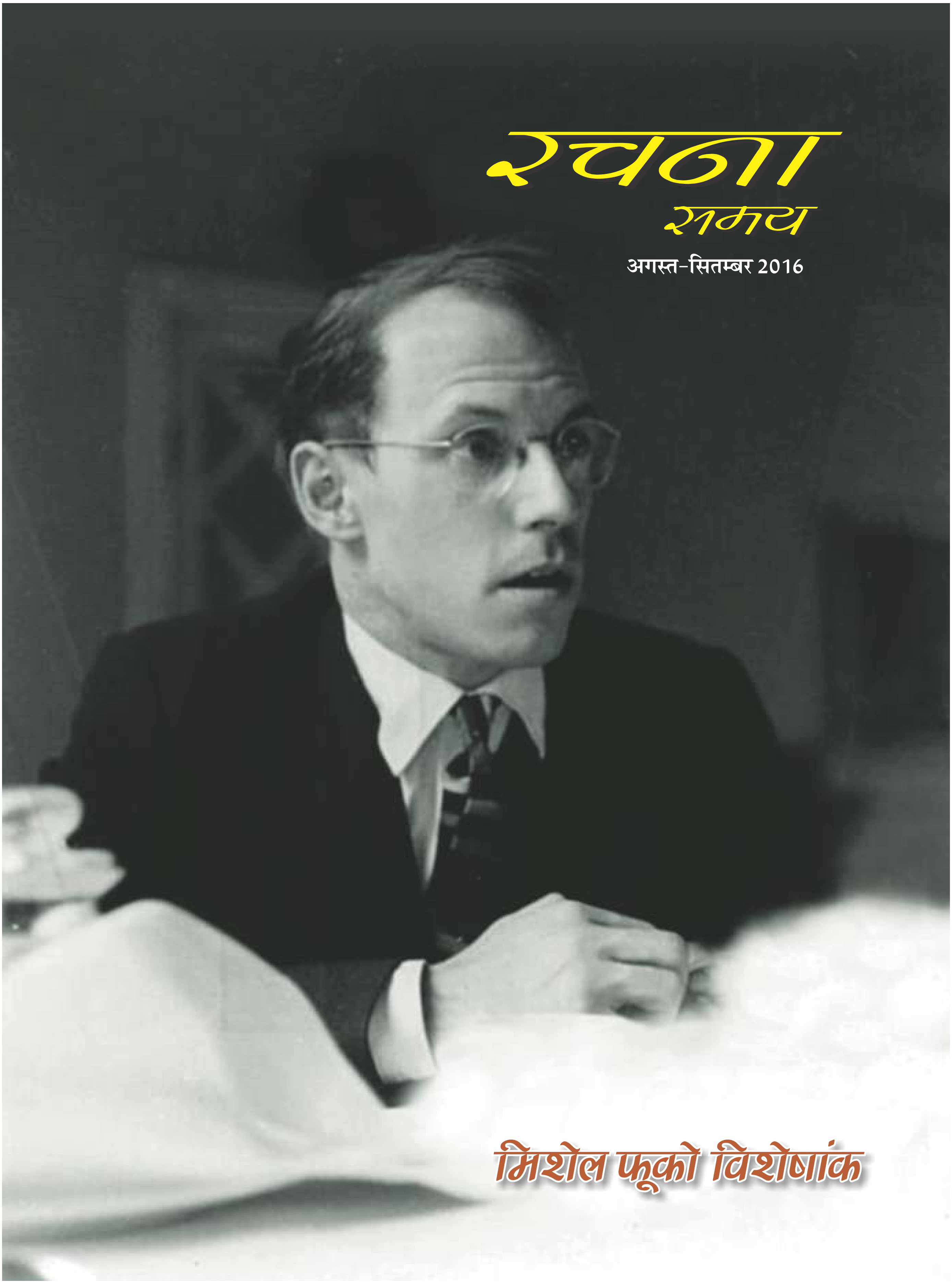
रचना समय

अगस्त-सितम्बर 2016



मिशेल फूको विशेषांक

मिशेल फूको विशेषांक

अनुवाद : पुनर्वसु जोशी

सम्पादक
हरि भटनागर
बृजनारायण शर्मा
•
सहयोग
रवि रतलामी

आवरण पर
मिशेल फूको

सज्जा : प्रीति भटनागर

यह अंक मूल्य : 150 रु.

•

ग्राहकीय एवं सम्पादकीय पता :
रचना समय
हरि भटनागर / बृजनारायण शर्मा
197, सेक्टर–बी सर्वधर्म कालोनी, कोलार रोड,
भोपाल – 462042 (मध्यप्रदेश)
मोबा. : 9424418567, 9826244291
E-mail : haribhatnagar@gmail.com

•

शब्द संयोजन एवं मुद्रक :
बॉक्स कॉरोगेटर्स एण्ड ऑफसेट प्रिंटर्स,
14–बी, सेक्टर–आई, इंडस्ट्रियल एरिया,
गोविंदपुरा, भोपाल : 2587551

•

रचना समय
अगस्त–सितम्बर 2016

यह अंक

> Madness is the absolute break with the work of art, it forms the constitutive moment of Abolition which dissolves in the time of truth of the work of art.
>
> In its function, the power to punish is not essentially different form that of curing or educating.
>
> Freedom of conscience entails more dangerous than authority and despotism.

अर्थात्

कला रचना से पूरी तरह विलगाव ही जुनून है, यह विलोपन के उस विधायक क्षण की निर्मिति करता है, जो काल में समाहित हो जाता है– यही कला का सत्य होता है।

दण्डित करने की ताक़त दरअसल उपचार करने या शिक्षित कर पाने की ताक़त से अलग नहीं है।

अंतःकरण की स्वच्छंदता निरंकुशता और तानाशाही से अधिक ख़तरनाक हो जाती है।

उपरोक्त विचार फ्रेंच दार्शनिक मिशेल फूको के हैं जिनके समूचे सोच का सार–तत्त्व है कि सत्य सत्ता के हितों की रक्षा के लिए बनाए जाते हैं– देखा जाए तो मिशेल फूको का सम्पूर्ण रचना–कर्म इन्हीं प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक जाँच–पड़ताल करता है। स्वीकृत विचार परम्परा के समानांतर नहीं बल्कि उसके प्रतिकूल चलने वाले फूको ने ज्ञान और सत्ता के बीच उन बारीक़ अनावरणों को अनावृत किया जो दर्शन की दुनिया में एक अबूझ पहेली थे। फूको ने मनश्चिकित्सा, औषध विज्ञान, मानविकी तथा कारागार के अतिरिक्त मनुष्य के यौन व्यवहार को अपने अध्ययन का दायरा बनाया। उन्होंने ज्ञान, सम्पदा और हिंसा में देह को एक समांतर सत्ता के रूप में प्रतिपादित किया। मिशेल फूको का मानना है कि सत्ता अपनी आत्यंतिकता में ज्ञान को सामाजिक–नियंत्रण के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करती है। फूको ने तकरीबन 35 पुस्तकें लिखी हैं जिनमें हिस्ट्री ऑफ सेक्सुआलिटी, मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन, डिसिप्लिन एण्ड पनिश तथा बॉयो–पॉवर प्रमुख हैं– जो सामाजिक विज्ञान, मानविकी तथा व्यावसायिक अनुशासन– शिक्षा, प्रबंधन–अध्ययन और स्वास्थ्य की समूची प्रविधियों–परिधियों को प्रश्नांतिक करती हैं। अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के चलते उन्होंने मार्क्सवादी चिंतन को भी प्रश्नांकित किया जिस कारण वे ख़ुद भी प्रश्नों के घेरे में आ खड़े हुए– बावजूद इसके वे इस तर्क के

पक्षधर रहे कि विचारधारा नहीं बल्कि जीवन अंतिम सत्य है। मात्र सर्वहारा ही सामाजिक परिवर्तन का कारक नहीं है– इसकी परिधि का दायरा विस्तृत करना होगा, इसमें उन घटकों का योग ज़रूरी है जो ज़रूरी होते हुए भी जीवन की धारा से च्युत रहे– नस्ल, धर्म, लिंग कहें या स्त्री के नाम पर। इन घटकों को केन्द्र में लाने पर ही सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया अपना वास्तविक रूप ले सकेगी... फूको जीवन–दृष्टि का एक ऐसा संसार रचते हैं जिनके आलोक में आधुनिक विचारकों की एक लम्बी सफ़ आ खड़ी होती है।

'रचना समय' का यह अंक बीसवीं सदी के इस सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिक और उत्तर आधुनिक विमर्श के मूलाधार मिशेल फूको पर केन्द्रित है जिसके अन्तर्गत हमने फूको के लेख, उनकी लम्बी बातचीत और विचारकों की नज़र में फूको पर लेख प्रस्तुत किये हैं।

•

'रचना समय' ने हमेशा समय के प्रतिनिधि साहित्य को प्रस्तुत किया है ताकि पठनीयता का स्पेस निर्मित हो सके– यह प्रयास इसी दिशा में ज़रूरी पहल के रूप में है।

•

फूको विशेषांक का अनुवाद पुनर्वसु जोशी ने किया है जो हाल ही में अमेरिका से पन्द्रह वर्ष बाद अपना उच्च–अध्ययन पूरा करके स्वदेश लौटे हैं। पुनर्वसु कथाकार–चित्रकार प्रभु जोशी के बेटे हैं और इंदौर में रहते हुए स्वतंत्र लेखन में व्यस्त हैं। 'रचना समय' के आंगामी फेडरिक जेमेसन, ज्याँ बुद्रियार, आरिफ डिरलिक तथा स्लाव जिजेक विशेषांकों के अनुवाद वे प्रस्तुत करेंगे।

साहित्यिक परिवार से जुड़े व्यक्ति के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करना महज़ औपचारिकता होगी। उनसे काम कराने का हक़ तो हमारा बनता है।

हरि भटनागर


पुनर्वसु जोशी

पुनर्वसु जोशी

मिशेल फूको : विचारों की दुनिया का अनोखा नागरिक

अमेरिका में पंद्रह वर्षों के एक लंबे कालखंड में, वहाँ के विश्वविद्यालयीन वातावरण में अध्ययन करते हुए मैं अक्सर यह सोचता रहा कि क्या हमारे भारतीय विश्वविद्यालयों के परिसर में भी युवा छात्र समकालीन विचार की दुनिया में, आवाजाही करते हैं अथवा नहीं। मेरे मित्रों का दायरा, एक ओर जहाँ एम.आई.टी., हारवर्ड तो वहीं दूसरी ओर स्टेनफोर्ड और यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कली तक फैला हुआ है। उनसे बहस–मुबाहिस करते हुए मैंने यह पाया कि विचारों के परिसर में जो भी उथल–पुथल मची रहती है, उसमें विमर्शात्मक उत्तेजना के साथ, योरपीय, लातिन अमेरिकी देशों और चीन से अध्ययन के लिए आए छात्र शामिल होते हैं, लेकिन भारतीय छात्र बस इक्का दुक्का ही होते है। मैंने अपने फ्रेंच, स्पेनिश, आइरिश और चीनीभाषी मित्रों में देखा कि उन्होंने बौद्धिक विमर्श के लिए पर्याप्त 'स्पेस' बना रखा है जबकि वे मूलतः विज्ञान के अध्येता रहे हैं। वे थोड़े विस्मित भी रहते थे, ख़ासकर इस बात को लेकर कि यह 'नैनो टेक्नॉलॉजी' का एक भारतीय शोधकर्ता, उत्तर–आधुनिक विमर्शों के बारे में न केवल जानकारी रखता है, बल्कि उनकी किताबें भी पढ़ता रहता है।

आज से पंद्रह वर्षों पूर्व जब मैं बारहवीं कक्षा के बाद उच्च अध्ययन के लिए अमेरिका प्रस्थान कर रहा था, तब भारत में मार्क्सवाद के पराभव का प्रलाप थम चुका था। अख़बार और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, भूमंडलीकरण की चपेट में

आकर, बेलगाम ढंग से, भारतीय मध्यम वर्ग की जीवन–शैली का अपने ढंग से पश्चिमीकरण कर रहे थे और इसका सबसे बड़ा संकेत हिंदी में दिखाई पड़ने लगा था।

जैसा कि मिशेल फूको ने कहा था कि, जिस तरह अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी अपने साथ जो कुछ लेकर गई, उसकी वापसी फिर संभव ही नहीं हुई। ठीक इसी तर्ज पर, हम बीसवीं सदी के बारे में यह कह सकते हैं कि बीसवीं सदी ने अपने रहते विचारों की जो विराट विरासत बनाई थी, वह इक्कीसवीं सदी के आते–आते मलबे में बदल गई। ऐसा लगने लगा था कि इक्कीसवीं सदी, ख़ासकर विकासशील समाजों के लिए, बेछोर उड़ानों की पटकथा लिखने वाली है। बीसवीं सदी में, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, फासीवाद आदि के पतन के पश्चात, पश्चिम के सांस्कृतिक वर्चस्व की जो नई शुरुआत हुई, उसे भारत के 'मेट्रोपोलिटन एलीट' ने बहुत जल्दी स्वीकार कर लिया। मुझे याद है 9/11 की दुःखद घटना के समय अमेरिकी मानस के भीतर कितनी ऊहापोह थी, क्योंकि मैं वहाँ रहते हुए उसका साक्षी था। बाहर से एक शांत दिखते, विराट बहुसंस्कृति वाले, जनतांत्रिक समाज में, एक अजीब–सा भय व्याप गया था– उसके बहुतेरे अध्ययन भी आए, लेकिन उस घटना ने दुनिया भर के चिंतकों को गहरी चिंता से भर दिया था। कहाँ तो द्वंद्व 'लिबरल डेमोक्रेसी' और नवपूंजीवाद के बीच होना था, वह अब जनतंत्र और 'फंडामेंटलिज़्म' के बीच हो गया है। मुझे याद है, उन्हीं दिनों अमेरिकी टेलीविजन पर यह 'क्यों और कैसे' घटा की वैश्लेषिकी के अंतर्गत मैंने सेम्युअल हंटिंगटन का साक्षात्कार सुना जिसमें उन्होंने कहा कि अपनी पुस्तक 'क्लेश ऑफ सिविलाईजेशन एंड द रीमेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर' में जिस विचार की वे स्थापना कर रहे थे, यह घटना उसका दहला देने वाला उदाहरण है। मज़ेदार बात तो यह कि 'यूचर शॉक' और 'थर्ड वेव' के लेखक विचारक एल्विन टॉलर, सन 2000 के दशक के आते–आते तक, एक गंभीर चिंतक की छवि खोकर, एक 'पॉपुलर–डिस्कोर्स' के व्यक्ति की तरह अपनी उपस्थिति दर्ज़ करा रहे थे।

यहाँ, मैं यह याद दिलाना चाहूँगा, आधुनिकता की परियोजना (प्रोजेक्ट) का जो श्रीगणेश, एक निश्चित आश्वस्ति के साथ हुआ था, उसने 'यूटोपिया' को एक सार्वदेशीय सत्य की तरह रखा भी था– लेकिन, इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ के पहले ही सारे 'इज्म', 'वाज्म' में बदल गए। 'फाल्स डॉन' के लेखक जॉन ग्रे ने 'वॉट इट मीन्स टु बी मॉडर्न?' का प्रश्न उठाते हुए कहा भी था कि कोई भी समाज केवल प्रौद्योगिकी के बलबूते, मूल्यों को सुरक्षित नहीं रख सकता। उन्होंने कहा था कि आधुनिकता की परियोजना का 'फंडामेंटलिज्म' ने अपहरण कर लिया है। लेकिन, भारत में, विचारों की दुनिया 'टेक्निकल डिटरमिनिज़्म' के वर्चस्व में फंस कर रह गई और तब से 'ये तो होना ही था' की स्वीकृति पर, मीडिया को संचालित करने वाली बहुराष्ट्रीय शक्तियों ने मुहर लगा कर, उसे हमेशा के लिए वैध करार दे दिया है।

बीसवीं सदी, जहाँ एक ओर विचारों के आकाश में ऊंची उड़ानें भरती चल रही थी, कदाचित ठीक उसी वक़्त, उसके उन उड़ानों के पतन की कई पटकथाएँ भी लिखी जा रही थीं। यह किसी को भी पता नहीं था कि यह महान सदी, अपनी उम्र के आख़री वर्षों में, अवधारणाओं और विश्वासों की ईंट–दर–ईंट रख कर खड़ी की गई इमारत को एक झटके के साथ ध्वंस में बदल देगी और हम सब अपने को यक़ीनों के भग्नावशेष में खड़ा पाएंगे। एक महान विचारधारा जो मनुष्य के लिए पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का भरोसा बन कर, कोई सत्तर वर्षों से यह भरोसा देती आ रही थी कि 'हेव्स' और 'हेव नॉट' का फ़र्क़ मिट जाएगा और वर्गहीन समाज बन

जाएगा। दो तिहाई दुनिया में उस विचारधारा ने सत्ताएँ भी क़ायम कर ली थीं लेकिन, जो कारण 'रचने' के लिए होते हैं, वही एक दिन 'ध्वंस' के लिए भी उत्तरदायी दिखने लगते हैं। इस महान विचारधारा के पराभव में, कहीं, कोई ऐसे छिद्र थे, जिनमें से उसके भीतर, वे कारक दाखिल होने लगे, जो आरंभ से ही उसे ध्वस्त करने के लिए कृतसंकल्प थे। दिलचस्प बात तो यह कि महान वामपंथी विचारक रेमण्ड विलियम्स ही अपने जीवन के उत्तरार्ध में यह कहने लगे थे कि, 'बुद्धिमान लोग अनुभव पर यक़ीन करते हैं, और मूर्खों की विचारधारा होती है।'

इसके साथ ही मार्क्सवाद का प्रतिरोध यह कह कर किया जाने लगा था कि, 'जो विचारधारा सारे संसार को बदलने की प्रतिज्ञा प्रकट करती है, वह स्वयं में कोई परिवर्तन नहीं चाहती'। यहाँ तक कि वह असहमति का प्रतिरोध करती है, उन पर प्रतिबंध और पहरे लगाती है और ऐसा करने में वह हिंसा के लिए भी संकोचशून्य हो जाती है। हमारे यहाँ पश्चिम बंगाल की सत्ता ने सिंगूर में इसी को चरितार्थ किया था।

कार्ल मैनहाइम ने कहा भी था कि, 'विचारधारा मनुष्य को उज्ज्वल भविष्य का यूटोपिया देती है, यह एक विचार का वशीकरण भर है'। और कहने की जरूरत नहीं कि 'यूटोपिया' सदी के आख़िरी दशक तक आते– आते 'डिसटोपिया' में बदल गया। लेकिन, जैसा कि मैंने कहा कि, इस उलटफेर के संकेत तो सदी के उत्तरार्ध में शुरू हो गए थे, और अंतवाद की घोषणाएँ होने लगी थीं जिसमें इतिहास का अंत, कला का अंत, आधुनिकता का अंत था जो कि विचारधारा के अंत के रूप में चरितार्थ भी हुआ। याद कीजिये, ओक्टेवीयो पाज जिसे हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवी सर–माथे उठाते फिरते थे, उनका भी कहना यही था कि, 'विचारधाराएँ समाज के चेहरे के आगे पड़ा हुआ एक छद्म (पर्दा) भर हैं जो शनैः शनैः हट रहा है'। विचारधारा का युग विसर्जित होने को है, और हम यथार्थ को अधिक निकटता से देखने वाले हैं।

सबसे पहले हम देखें कि बीसवीं सदी के फ्रायड प्रेरित चिंतन को 'फ्रांसीसी फ्रायड' जेक लकां ने अपदस्थ करने की पीठिका बनाई। उन्होंने संरचनावाद और मनोविज्ञान के संयोजन से संरचनावादी मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की स्थापना की। लकां ने भाषा और अवचेतन, सास्यूर के संरचनावाद, भाषा विज्ञान और फ्रायड के मनोविश्लेषण के 'मिले–जुले' को प्रस्तुत किया। इस तरह उन्होंने भाषा के अवचेतन पर से नेपथ्य उठाया। नव वाम पंथ का बिगुल बजने लगा। मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को ज्यां पाल सार्त्र ने तो सन '67 में ही नाथ दिया था, जब उन्होंने फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के निर्णय के विरुद्ध छात्र जन आंदोलन को अपना समर्थन दे दिया था। फ्रांस में 1967 में हुए छात्र आंदोलन के समय उन्होंने कहा कि 'कोई मार्क्सवादी हुए बगैर बुद्धिजीवी भी हो सकता है, इसमें मुझे संदेह है।' मिशेल फूको जो 1968 में ट्यूनीसिया के विश्वविद्यालय से पढ़कर फ्रांस लौटे थे और उन्होंने श्रमिक वर्ग के बजाय, हाशिये पर धकेल दिये गए, 'डीवीएंट्स', जिसमें तमाम दलित समूह थे, उन्हें विचार और व्यवस्था के केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया। 'सबआल्टर्निज़्म' में इतिहास को 'गल्प' कह कर ख़ारिज किया जाने लगा। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को निरस्त करते हुए, 'क्लासिक्स और केनन' को अपदस्थ कर दिया गया। लेखन से कर्ता को विलोपित किया गया और 'सब्जेक्टीविटी' की स्वीकृति के लिए मार्क्सवाद को राज़ी कर लिया गया। चौतरफ़ा नए 'बाईनरी अपोजिशन्स' प्रकट होने लगे। हमारे समाज में दलित और स्त्री विमर्श इसी की कोख से जन्मे विमर्श हैं। दरअस्ल, साहित्यालोचक

विमर्शकार घोषित हो गए। इस सारे घाल–मेल (पेस्टीश) से उत्तर–आधुनिकतावाद का मानचित्र बनता है।

इस उत्तर आधुनिकतावाद में तो कई सारे चिंतक बुद्धिजीवी और व्याख्याकार हैं। लेकिन, जिन तीन की सर्वाधिक चर्चाएँ, आरंभिक दौर में हुईं, वे हैं, पॉल डी मान, रोलाँ बार्थ और मिशेल फूको। ख़ास तौर पर फूको की 'हिस्ट्री ऑफ सेक्स्युआलिटी' और 'मेडनेस एण्ड सिविलाईजेशन', 'डिसिप्लिन एण्ड पनिश' तथा 'बायो–पावर' ने बहुत निर्णायक हस्तक्षेप किया।

मिशेल फूको पर अपनी ओर से कुछ बातें करने के पूर्व मैं सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों और परिवेश की उस पृष्ठभूमि को आपसे थोड़ा बाँटना चाहता हूं, ताकि हम समझ सकें कि 'विज्ञान', 'तकनीक', 'उद्योग' और 'पूंजी' के प्रवाह के एक समवेत 'घालमेल' की क्या वजहें हैं और अभी तक उसे किस तरह देखा जाता रहा है। शायद, इसे खंगालने से हम 'उत्तर आधुनिक' विचार की भंगिमा को थोड़ा पहचान सकते हैं, क्योंकि 'उत्तर आधुनिकतावाद' किसी की कोख से नहीं जन्मा है। मैं अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए डेविड लॉक के कथन से शुरू करना चाहता हूं। उनकी किताब 'वॉयस ऑफ साइंस' आई तो तुरंत दार्शनिकों और विचारकों के बीच चर्चा का केंद्र बन गई थी। उस किताब को हम इस बदलती दुनिया में विज्ञान की एक 'आधिकारिक आवाज़' कह सकते हैं। उन्होंने कहा– 'विज्ञान और उसके शोधों और अविष्कारों को केवल समाज के 'कल्चरल–इलीट' तक सीमित नहीं रखा जा सकता, और हमारे समय का एक सबसे बड़ा पैराडॉक्स है, तो वह यही है कि विज्ञान हमारे जीवन में गहरे तक उतर चुका है, जो अब एक 'उत्तर मानव' की गठन तैयार कर रहा है। तकनीक मनुष्य को मनुष्य के विरोध में ले जाकर खड़ी कर रही है।

स्टीवर्ट ब्रोण्ड ने इसीलिए तकनीक की निष्ठुरता के बारे में कहा था– 'जब टेक्नोलॉजी आती है और यदि आप स्टीम रोलर का भाग नहीं हैं तो फिर आप सड़क का भाग बन जाने के लिए खुद को राज़ी कर लीजिए'। इस कथन को मनुष्य और उसके होने के प्रति एक धमकी की तरह लिया जाना चाहिए। कहने का अर्थ यह कि भविष्य अब दूर नहीं है, बल्कि वह आपके–हमारे वर्तमान में घुसपैठ कर चुका है। सोचिए बीसवीं सदी और इकीसवीं सदी के आकाश के बारे में। आज पृथ्वी के आसपास ढेरों मनुष्य निर्मित अंतरिक्ष यान या उपग्रह मक्खियों की तरह भिनभिना रहे हैं।

हमारा संसार सिमट गया है। इंटरनेट, उपग्रह प्रसारण, मल्टीमीडिया, साइबर स्पेस, वर्चुअल रियलिटी– ये एक साथ मिलकर एक 'डिजिटल रियलिज्म' को बना रहे हैं। हम भूल रहे हैं कि हम 'यथार्थ' से अधिक 'यथार्थ की अनुकृति' में जीने के लिए लालायित भी हैं और अभिशप्त भी। उदाहरण के लिए, हाल ही में शुरू हुए 'पोकेमोन गो' जैसे खेल तो 'वर्चुअल रियलिटी' और 'रियलिटी' के बीच की सीमा को धूमिल कर, एक नई 'ऑग्मेंटेड रियलिटी' को जन्म दे रहे हैं। 'उत्तर आधुनिक' चिंतकों ने 'यथार्थ' को बिंबों और चिन्हों में बदल दिया है। हमारी कल्पनाएं बदल गई हैं। क्लोनिंग, नैनो टेक्नोलॉजी, रोबोटिक्स और वर्चुअल रियलिटी जैसी तकनीकों ने मनुष्य की अमरत्व की आकांक्षा में प्रवेश कर लिया है, और वह उसे यक़ीन दिला रहा है।

आपको याद होगा कि जब डोना हार्वे का 'सोशलिस्ट रिव्यू' में 'अ साइबोर्ग मेनिफेस्टो' आलेख प्रकाशित किया गया था तो चतुर्दिक हो–हल्ला मच गया था कि अब क्या होगा? मनुष्य, 'उत्तर औद्योगिक मनुष्य' होगा कि 'उत्तर विज्ञान मनुष्य' होगा। क्योंकि 'साइबरनेटिक ऑर्गेनिज़्म' के जन्म लेने की बातें शुरू हो गई थीं। और उस परिवर्तन से हमारी स्मृति और इतिहास तथा 'मनुष्य' वाली अवधारणा अपने 'बायोलॉजिकल पजेशन' से बाहर निकलकर एक ध्वंस में चली जाएगी। विलियम गिब्स के उपन्यास 'न्यूरो मेंसर' में तो 'मनुष्य–स्नायु' और मशीन के मेल से, क्या उलटफेर हो जाएगा, यह कल्पना ही अनंत थी।

ऐसे में मार्क्सवाद की सिद्धांतिकी और रणनीति ही प्रश्नांकित होने को बाध्य थी। रोजर गेरॉडी की पुस्तक'मार्कसिज्म इन ट्वेंटीअथ सेंचुरी' के प्रकाशन के बाद से ही यह जिरह शुरू हो गई थी।

दरअसल, हुआ यह कि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही मार्क्सवाद अपने अंतर्विरोधों से घिरने लगा था। उसे जिन प्रवाहों को पार करना था, वे उसे अपने बहाव में ले जा रहे थे। मसलन, याद रखिए कि 'आधुनिकतावाद' और मार्क्सवाद के साहित्य में कितनी व्यापक मुठभेड़ होती रही। फिर, यह हुआ कि साठ के दशक के आगमन के कुछ पहले से ही कम्युनिस्ट पार्टियों ने वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता की अवहेलना करते हुए 'रक्तरंजित' क्रांति की जरूरत को हाशिए पर छोड़कर, संसदीय प्रणाली में अपना विश्वास प्रकट करना शुरू कर दिया, जबकि वे उसे एक 'बुर्जुआ डेमोक्रेसी' कहकर ख़ारिज करते रहे थे। इसी हलचल की व्यापकता ने 'योरपीय–साम्यवाद' के लिए स्पेस निर्मित की और सर्वहारा क्रांति की अवधारणा ढीली पड़ी और श्रमिक वर्ग की जगह 'युवा–वर्ग विद्रोह' क्रांति का वाहक मान लिया जाने लगा। यह 'नव वामवाद' जैसे पदबन्ध से बहसों की धुरी बनने लगा।

हालांकि, जो 'क्लासिकल मार्क्सिस्ट' थे, उनकी दृष्टि में यह, 'विचारधारात्मक भटकाव' से अधिक नहीं था। लेकिन, लैटिन अमेरिकी देशों में, यह युवा वर्ग के विरोध पर सवार होकर एक राजनीतिक विजय पर निकल चुका था। उस दौर के तमाम मुक्ति आंदोलनों की परिणति इसमें हुई। यहां तक कि वह 'विमेन लिब' वाला आंदोलन भी, 'स्त्रीवाद' की नई मुद्रा ग्रहण करने लगा और जिसमें वामदृष्टि नहीं, बल्कि 'बुर्जुआ– डेमोक्रेसी' और मुक्त अर्थव्यवस्था की ताक़तें काम कर रही थीं। यह मिल्टन फ्रीडमैन की शातिर सिद्धांतिकी थी, जो सबसे पहले लैटिन अमेरिका में अगुस्टो पिनोशे की तानाशाही में 'सफल' हुई और फिर ब्रिटेन में उस विचार को शिरोधार्य करके मार्गरेट थैचर, अचानक 'लौह महिला' घोषित कर दी गई। एक छोटे समय के उपरांत फ्रीडमैन की इसी सिद्धांतिकी ने अमेरिका में रोनल्ड रेगन की नीतियों में 'ट्रिकल डाउन इकोनॉमिक्स' के नाम से अपनी जगह बना ली और जो आज तक अमेरिका की रिपब्लिकन पार्टी की अघोषित आर्थिक नीति है।

दरअसल, मार्क्सवादी विचारधारा की सबसे बड़ी कमी यह प्रकट हुई कि जिस विचारधारा ने दुनिया के मजदूरों को साथ लेकर, सारी दुनिया को बदलने का संकल्प लिया, वह स्वयं को थोड़ा सा भी बदलने के लिए राजी नहीं थी। विचारधारात्मक शुद्धतावाद का वर्चस्व इतना था कि छोटे से भी परिवर्तन को तुरंत संशोधनवाद कह कर उसका विरोध शुरू हो जाता था। सन साठ के आसपास डेनियल बेल की पुस्तक 'द एंड ऑफ आइडियोलॉजी' आई और विश्व भर के

मार्क्सवाद– विरोधी खेमों में इस पुस्तक को हाथों हाथ लिया गया और योरपीय बुद्धिजीवियों के हाथ वह लगभग आग्नेय अस्त्र की तरह रहने लगी। पहली बार ऐसा हो रहा था कि जो विचारधारा सत्ता के समांतर, सामाजिक नवनिर्माण के लिए, 'प्रति–सत्ता' की तरह पूरे संसार में अपना वर्चस्व बना रही थी, वह वेध्य लगने लगी। इसके पश्चात पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवाद का पतन और सोवियत संघ में भी 'ग्लास्नोस्त' और 'पेरेस्त्रोइका' की सेंध ने अंत में उसे भी विघटन की नियति पर लाकर खड़ा कर दिया।

याद कीजिए, इस घन–मथन के दौर में, जिन चिंतकों की आवाज सुनाई दे रही थी, वह एक लंबी कतार थी, जिनमें अंटोनियो ग्राम्शी, रेमंड विलियम्स, लुई अल्थुसर, मिशेल फूको, हर्बर्ट मार्क्यूज, थियोडोर अडोर्नो, टेरी ईगलटन, क्रिस्टोफर नोरिस थे। ये, यह कह रहे थे कि मार्क्सवाद के कंधे पर लदे इतिहास के बोझ को उतारने के बाद ही मार्क्सवाद ठीक गति से चल पाने में समर्थ होगा, अन्यथा लड़खड़ाकर गिरना उसकी अंतिम नियति होगी।

जब मैंने अमेरिकी विश्वविद्यालय में नैनो टेक्नोलोजी में अपना शोध प्रारम्भ किया तो चूँकि घर में पिता और उनके मित्रों के बीच की तीखी बहसों को सुनते रहने ने इन विषयों के प्रति मुझमें एक नैसर्गिक रुचि पैदा कर दी थी, नतीजतन, मैं सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अध्ययनों के किसी भी विमर्श में, जो मेरे विश्वविद्यालय में लगभग हर सप्ताह ही होते थे, उन्हें नियमित रूप से सुनने जाता रहा। वैसे भी अमेरिकी विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा में रत छात्रों को अपने शोध के 'अनुशासन' के अलावा अन्य अनुशासनों का भी ज्ञान–ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

फिर हार्वर्ड, स्टेनफोर्ड, येल के बारे में तो यह कहा ही जाता है कि वहाँ की 'फेकल्टी क्लब' में बैठा हर आदमी नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने का या तो अधिकारी है या बन जाने वाला है। वहां रहते हुए ख़ास तौर पर मैंने उत्तर आधुनिकता की बहसों और पुस्तकालयों में जाकर उससे संबंधित मुद्दों को समझने की चेष्टा की।

रोला बार्थ ने उत्तर आधुनिकता के हस्तक्षेप को यही कहा कि, 'साहित्य संस्कृति, विज्ञान आदि के पाठ के टुकड़े करके, इसके तत्वों को उलट फेर कर दो'। इसी समय एंड्रयू रॉस द्वारा संपादित किताब 'यूनिवर्सल अबेण्डन' आई। उसमें यह स्थापना दी गई कि अब सारे प्रश्न तमाम अनुशासनों से निकलकर संस्कृति के क्षेत्र में आ गए हैं, और वह नए उत्तरों की मांग कर रहे हैं। ग्राम्शी ने भी यही बात कही थी कि आर्थिक संकट भी अब सांस्कृतिक संकट के मुखौटे में, हमारे सामने आकर खड़ा हो रहा है। कहना ना होगा कि पॉल डि मान, मिशेल फूको, जॉक देरीदा, और ज्यां फ्रांसवा ल्योतार ने समग्रवाद के विरुद्ध 'विरचना' विखंडन की सिद्धांतिकी दी।

मिशेल फूको ने स्थापना दी कि साहित्य को केवल भाषा में देखकर चिन्हित करना पड़ेगा कि वह क्या करता है? मिशेल फूको ने साहित्य क्या है? लेखक क्या है? और इन सबके बीच मनुष्य, उसकी अवस्थिति और सत्ता–संबंध क्या हैं, को गहन दार्शनिक और समाजशास्त्रीय विमर्श के केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया। जब मिशेल फूको चिंतन जगत के क्षितिज पर उभरे, वह दशक एक साथ इतनी बड़ी वैचारिक उथल–पुथल का कालखंड था कि लगा, इतने अरसे से एक शांत धारा बह रही थी, उसमें उलटफेर करके, उसके प्रवाह की दिशा को किसी अन्य के संधान में, हमेशा के लिए मोड़ दिया गया है।

फूको ने 'ज्ञान और सत्ता' के सूक्ष्म और अप्रकट अंतर्संबंधों को, रेशे–दर–रेशे कुछ इस युक्ति से खोला कि उसकी परिधि में, जितनी भी संस्थागत–व्यवहार की परंपरागत भूमिका थी, उसे उन्होंने संकटग्रस्त कर दिया, जिसमें न केवल मार्क्सवाद बल्कि अस्पताल, न्यायालय, कारागार, चिकित्सा और मनोविज्ञान भी कुछ–कुछ असहाय और संदेहग्रस्त हो गए। क्योंकि, जॉक लकां ने विखंडन की सिद्धांतिकी को खुर्दबीन की तरह फ्रायड की स्थापनाओं पर रखा– और लगा कि उन्होंने फ्रायड को अपदस्थ करने की घोषणा कर दी है–लोगों ने उन्हें 'फ्रांसीसी फ्रायड' कह कर उनका परिहास और सराहना दोनों की। लेकिन, यह तो स्पष्ट था कि लकां पहले विचारक थे, जिन्होंने 'संरचनावाद' में अपनी व्यतिरेकी उपकरणों से मनोविज्ञान के भीतर की उन जगहों में, जो फ्रायड के चिंतन से छूट गई थी, वहां संरचनावादी तर्क रखकर, उसको मनोगत व्यवहार से नाथ दिया। और जो निष्कर्ष निकाले, उन्होंने फ्रायड की विचारणा की चूलें हिला दीं –क्योंकि लकां की भाषा विज्ञान के अध्ययन की व्यापकता का दायरा इतना था कि उसने सास्यूर की 'संरचनावादी' दृष्टि को भाषा एवं अवचेतन में मिश्रित किया और फ्रायड को मनोवैश्लेषिकी से जोड़कर एक 'मिक्स पैटर्न' की ऐसी गढ़ंत तैयार की कि फ्रायड की 'डिमेडिकेशन' की प्रक्रिया को ऐसा और इतना बल मिला और अब वह मनोचिकित्सकीय दीवारों को फलांग कर बाहर खड़ी थी। जहां समाज का 'खुलापन' उसका स्वागत कर रहा था। निश्चय ही, इसमें मिशेल फूको ने सास्यूर के 'भाषिक चिंतन' को बाकायदा एक उपकरण की तरह प्रयोग में लिया। क्योंकि फ्रायड ने जहां एक ओर मनुष्य के अवचेतन की भाषा को समझने और उसे धैर्य से पढ़ने की प्रविधियां विकसित की थीं, तो दूसरी ओर, सास्यूर ने भाषा के अवचेतन को 'डिकोड' किया था कि उसमें स्मृति के ऐसे कोटर हैं, जिनमें अलग–अलग प्रजाति के परिंदे रहते हैं, जिनकी कूकें हमारे कान सुन नहीं पाते। उसमें वर्ग, अर्थशास्त्र, सामाजिक विज्ञान और धर्म आदि के अंडे रखे हुए हैं और उनसे हर बार नए परिंदे प्रकट होते रहते हैं। भाषा इन सब का समुच्चय ही है।

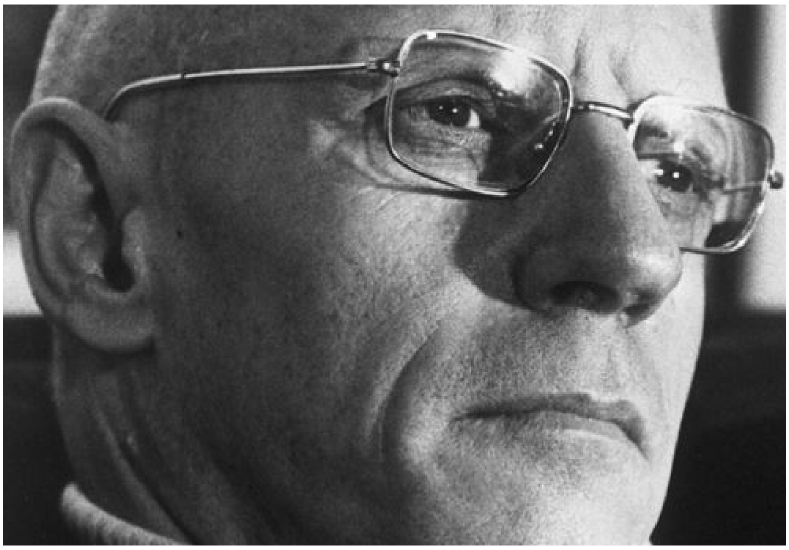
मार्टिन वैन की पुस्तक 'फ्रायड्स आन्सर' में इस सारे 'वैचारिक उठापठक' का बहुत महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है। यह पुस्तक हालांकि 'व्यक्तिवादी– अंतश्चेतनावादी–यौनाश्रित' वैचारिकी को खंगाल कर, फ्रायड का शुद्धिकरण करती है। यहां याद किया जाना चाहिए कि लगभग साठ के दशक के उत्तरार्द्ध में पॉल रोजन की किताब भी आई थी– 'फ्रायड : पोलिटिकल एंड सोशल थॉट', जिसमें पहली बार 'फ्रायडियन टेक्स्ट' का पहला विखंडन बरामद होता है। लेकिन यह काम एक भाष्यकार का सा था, मौलिक स्थापना वाला नहीं। इसी समय रोला बार्थ, मिशेल फूको, पॉल डि मान, अपने अध्ययन के साथ एक बड़े उलटफेर की योजना पर काम कर रहे थे। निश्चय ही मिशेल फूको ने मार्क्स को अपदस्थ करने का पहला प्रयत्न किया और कहा कि सर्वहारा को ही परिवर्तन की धुरी मानकर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को उत्प्रेरित करना, एक एकांगी प्रयास है। क्योंकि तमाम दलित, अपमानित, दमित तथा हाशिए पर धकेल दिए गए समूहों को, जिनमें स्त्री भी है, उनको व्यवस्था के भीतर विचार के संघर्ष के केंद्र में लाना जरूरी हो गया है। क्योंकि अब वर्ग, वर्ण, नस्ल, जाति, धर्म, लिंग आदि स्वतंत्र अस्मिताएं हैं, जिन्हें दबा कर रखा गया। अब वे विस्फोट के करीब हैं और उनके विस्फोट करते ही, तमाम आख्यान– महाख्यान टुकड़े टुकड़े में बदल जाएंगे। ये अस्मिताएं सदियों से एक अप्रकट ढंग से दारुण युद्ध में लगी हुई हैं।

नतीजतन, पहले बहुलतावाद का शंख फूंका गया, फिर बहुसंस्कृतिवाद का। कहना ना होगा कि 'सबआल्टर्निज़्म' ने इतिहास–लेखन को लेकर चली आ रही पुरातन युक्तियों को अपाहिज घोषित करके, उन्हें लगभग खदेड़ कर बाहर ही कर दिया। यही कारण था कि सांस्कृतिक अध्ययन अब एक नए कुरुक्षेत्र में बदल गया। और ऐलन सोकल के जो कि मूलतः भौतिकशास्त्र के प्रोफेसर थे, ने 'सोशल टेक्स्ट' पत्रिका में जो धमाका किया, वह तो उस दौर की विचारों की रणभूमि में छिड़ी लड़ाई का एक बहुत रोचक और प्रामाणिक दस्तावेज़ है। पश्चिम केंद्रित 'मेटा–नैरेटिव' उत्तर आधुनिकतावादी विमर्श, कई जगह हमें 'बायनरी अपोजिशन्स' में दिखाई देते हैं। ठीक इसी के समांतर, उत्तर–उपनिवेशवादी विमर्श भी जारी था। इसको समझने के लिए आरिफ दिर्लिक का लेख 'द पोस्ट कालोनियल औरा' पर्याप्त संदर्भ उपलब्ध करा देता है। यह विमर्श प्रवासी व्यक्तियों की 'विभाजित–संस्कृति' की कोख से उत्पन्न हुआ है, जिसमें हम एडवर्ड सईद, सारा सुलेरी, गायत्री स्पीवाक आदि को ले सकते हैं।

यह कोई विस्मयजनक तथ्य नहीं है क्योंकि मिशेल फूको जिस तरह मार्क्सवादी चिंतन में उलटफेर कर रहे थे, वामपंथी–दृष्टि ने उनके माथे पर तुरंत फासिस्ट के कलंक का टीका खींच दिया। लेकिन, मिशेल फूको इस तरह के लांछनों से भयभीत होने के लिए नहीं बने थे। क्योंकि वे 'ज्ञान और सत्ता' के बीच के गठजोड़ को स्पष्ट कर रहे थे कि मनुष्य के भीतर जागृत 'ज्ञान की इच्छा' प्रकारांतर से सत्ता प्राप्ति की ही इच्छा का प्रतिरूप है। इससे अलग करके देखना, ज्ञान के अंतर्निहित चरित्र और शक्ति की अनदेखी करना है। वह अपनी कोख में सत्ता का बीज लेकर ही पैदा होता है (हम चाणक्य के ज्ञान और उस ज्ञान के सत्ता में बदलने को भी इस दृष्टि से देख सकते हैं)। इमैनुअल कांट को भी वे यहां प्रश्नांकित करते हैं कि न तो शुद्ध–बुद्धि विवेक होता है और ना शुद्ध तर्क। इसका मुख्य कारण यह है कि 'ज्ञान' हमेशा ही कर्ता के रूप में अपना प्राकट्य देखता है। इसे वे 'सब्जेक्ट' की 'ओब्जेक्टिफिकेशन' की प्रक्रिया कहते हैं। आगे चलकर, मिशेल फूको ने 'बायो पावर' की संज्ञा देते हुए, जिसके भीतर वे राजनीति, कानून, सांस्कृतिक अध्ययन, मनुष्य की स्थिति और सत्ता और समाज द्वारा गठित तमाम संस्थाओं को भी देखते हैं। जैसे कारागार, अस्पताल आदि क्योंकि 'बायो–पावर' वह चाबी है, जिससे जब वे तमाम चीजों को खोलते हैं तो 'मनुष्य की देह' केंद्र में आ जाती है। वह 'हिस्ट्री ऑफ सेक्सुअलिटी' के अपने विस्तृत अध्ययन को रखते हैं और उन्हें स्त्री, समलैंगिक जैसी दमित अस्मिताओं की करुण पुकार का सहारा मिलने लगता है। साहित्यिक विमर्शों में उन्होंने सबसे पहला बदलाव और बहुत भंजक किस्म के प्रश्नों की झड़ी लगा दी, जिसमें साहित्य क्या है और ऑथर क्या है, को जिस दार्शनिक विवेक से विवेचित किया वह यहां आपको उनके मूल लेख के अनुवाद में मिल ही जाएगा, इसलिए उस पर अधिक कहने की जरूरत नहीं है।

कुल मिलाकर, मिशेल फूको विचारों की दुनिया के एक ऐसे नागरिक हैं, जिन्होंने अधिकांश अनुशासनों की देह से पुरानी खाल को उतारकर उनका 'ओब्जेक्टिफिकेशन' किया है। सत्ता, देश, स्मृति, कामना इतिहास, कानून, मनश्चिकित्सा से लेकर ज्ञान के दायरे में जो भी आया, उसे उन्होंने प्रश्नांकित किया और उन सबके गरेबां पकड़ कर छुपे हुए उत्तर उगलवाए, जिसे अभी तक और–और किस्म के चिंतक या तो उन्हें पहचानते रहे या उन पहने हुओं के फटे में बराबर थेगले जोड़ते रहे थे।

मैं कोशिश करूंगा कि पिछले 15 वर्षों में अमेरिकी विश्वविद्यालयों में होती रही बहसों और उनके विमर्श के विषयों को हिंदी के पाठकों को उपलब्ध करा सकूं। निश्चित ही यह समय मिला तो मैं यह करना चाहूंगा। मैं अंत में अंकल हरि भटनागर का बहुत आभारी हूं कि जिन्होंने मुझे यह सब करने के लिए अपनी पत्रिका में जगह दी। लेकिन मैं उनसे क्षमा मांगता हूं क्योंकि मैं भारत लौट कर जीवन की जिस आपाधापी के बीच घिर गया उसके चलते उनके आदेश के अनुसार समय पर यह काम नहीं कर पाया। लेकिन जैसा और जितना भी बन पड़ा, वह आपके सामने है।


मिशेल फूको

मिशेल फूको

बातचीत

मिशेल फूको की दूच्च त्रोम्बादोरी से एक लंबी बातचीत

प्रश्न : मुझे ऐसा लगता है कि, जिस तरह आपके काम पर एकाग्र किया गया है, विशेषकर पिछले कुछ वर्षों में, उसकी कुछ इस तरह से व्याख्या दी जा सकती है : किसी भी भाषा या वैचारिक दृष्टिकोण को रखने वाले, किसी भी भाषा में और किसी भी विचारधारा में, ऐसे चिंतनशील बहुतेरे लोग नहीं हैं, जो कि समकालीन विश्व में शब्दों और वस्तुओं के बीच होने वाले प्रगतिशील और एक स्पष्टतः क्षुब्ध कर देने वाले पार्थक्य को स्वीकार नहीं करें। आपके द्वारा विकसित किए गए पथ को जिसका आपने अपने चिंतन और अनुसन्धानों में अनुसरण किया है, आपके विश्लेषण में अन्तरण हुए विषय परिवर्तनों को, नए सद्धान्तिक आधारों की प्राप्ति को, बेहतर समझने को लक्ष्य करते हुए, यह हमारे आज के विमर्श की एक दिशा निर्धारित करता है। मेडनेस एण्ड सिविलाईजेशन में अनुभव के मूलभूत रूपों की छान–बीन से लेकर द हिस्ट्री ऑफ सेक्सुआलिटी के प्रथम खंड में प्रस्तुत अभी हाल ही के तर्कों तक, ऐसा लगता है कि आप अनुसन्धान के एक स्तर से दूसरे स्तर पर स्थानान्तरित होते हुए कई फलांगों में आगे बढ़े हैं। अगर मैं आपके विचार की निरंतरता के बिन्दुओं और मूलभूत तत्वों का एक लेखा–जोखा प्रस्तुत करना चाहूँ तो, मैं संभवतः यह पूछते हुए प्रारम्भ करना चाहूँगा कि आपके सत्ता और 'जानने की इच्छा' पर किए गए तात्कालिक अध्ययन के प्रकाश में ऐसा क्या है जिसने आपके अपने पिछले लिखे हुए का स्थान लिया है?

उत्तर : निश्चित रूप से कई 'वस्तुओं' ने मेरे अब तक के पिछले लेखन का स्थान लिया है। मैं, उन 'वस्तुओं' में–जिनमें मैं रुचि रखता हूँ और उन 'वस्तुओं' में, जिनके बारे में मैंने सोचा है– दोनों के बारे में सतत गतिमान रहने के संबंध में, मैं पूरी तरह से सजग हूँ। जो मैं सोचता हूँ वह हमेशा एक समान नहीं होता, क्योंकि मेरी पुस्तकें मेरे लिए, एक अर्थ में, एक 'अनुभव' हैं, जो मैं जितना संभव हो सके उतना चाहूँगा कि पूर्ण हो। 'अनुभव', कहीं ऐसा कुछ है जिससे व्यक्ति 'रूपान्तरित' हो कर बाहर आता है। जो मैं लेखन के पूर्व, चिंतन कर रहा हूँ, अगर उसे

संप्रेषित करने के लिए मुझे पुस्तक लिखनी पड़े, तो संभवतः मेरे पास शुरू करने का साहस ही नहीं होगा। मैं, किताब सिर्फ इसलिए लिखता हूँ क्योंकि यह 'विषयवस्तु' जिसके बारे में मैं बहुत कुछ सोचना चाहता हूँ, मुझे अभी भी ठीक तरह से नहीं मालूम है कि इसके बारे में मुझे क्या सोचना चाहिए, ताकि किताब मुझे रूपान्तरित कर सके और मैं क्या सोच रहा हूँ उसे भी रूपान्तरित कर सके। हर अगली किताब, अपनी पिछली किताब को समाप्त करते हुए जो मैं सोच रहा था उसको रूपान्तरित करती है। मैं प्रयोगवादी हूँ, सिद्धान्तकार नहीं। मैं उसे सिद्धान्तकार कहता हूँ जो कि या तो निगमनात्मक या विश्लेषणात्मक साधारण तंत्र को खड़ा करता है और उसे एक समान रूप से विभिन्न क्षेत्रों में लागू करता है। मेरे साथ ऐसा नहीं है। मैं, इस अर्थ में भी प्रयोगवादी हूँ कि, मैं स्वयं को बदलने के लिए लिखता हूँ और पहले सोची हुए विषयवस्तु पर पुनः चिंतन न करने के लिए लिखता हूँ।

प्रश्न : बहरहाल, कार्य के 'अनुभव' के रूप में विचार, एक किसी एक विधि–तंत्र संदर्भ बिन्दु का सुझाव देता है, और नहीं तो कम से कम आपके द्वारा शोध में प्रयोग किए गए माध्यमों और आपके द्वारा उजागर किए गए परिणामों के अंतरसंबंध के बारे में कुछ विचारों की संभावना प्रस्तुत करे।

उत्तर : जब मैं कोई पुस्तक लिखना शुरू करता हूँ, तब मुझे यह ज्ञात नहीं होता है कि अंत में, मैं क्या सोचूंगा और ना ही मुझे यह ज्ञात होता है कि, मैं किस विधि को प्रयोग में लाऊँगा। मेरी प्रत्येक पुस्तक, किसी वस्तु को तराशने का तरीका है, और साथ ही साथ विश्लेषण के तरीके को गढ़ने का प्रयास भी है। एक बार जब मेरा काम समाप्त हो जाता है, तब, उस 'अनुभव' से जिससे मैं गुजरा हूँ, उस पर एक प्रकार के सिंहावलोकन से, पुस्तक में जिस तरह की विधि का अनुसरण किया जाना चाहिए था, उसका बहिर्वेशन करता हूँ। तो, इस प्रकार से, मैं वैसी किताबें लिखता हूँ जिन्हें, कुछ रद्दोबदल के साथ अन्वेषणात्मक पुस्तकें और विधियों की पुस्तकें कहा जा सकता है। जैसे, मेडनेस एण्ड सिविलाईजेशन, द बर्थ ऑफ क्लीनिक, और आदि आदि अन्वेषणात्मक पुस्तकें हैं, और उसके बाद लिखी हुई किताबें, जैसे, डिसिप्लिन एण्ड पनिश, और हिस्ट्री ऑफ सेक्सुआलिटी की भूमिका विधियों की पुस्तकें हैं।

अपनी किताबों के अलावा मैं अपने लेखों और साक्षात्कारों में भी विधियों पर कुछ विचार रखता हूँ। यह अक्सर, मेरी किसी लिखी हुई पुस्तक पर होता है, जो मुझे कोई और संभावित परियोजना को निर्धारित करने में मदद करता है। ये एक प्रकार से, उस संरचना की तरह काम करता है, जो कि, मेरे समापन के निकट पहुँचने वाले रचना कर्म को, एक नए प्रारम्भ होने वाले रचना कर्म के मध्य की कड़ी के रूप में, काम करता है। पर यह एक सार्वकालिक विधि नहीं है जो कि, निश्चित रूप से दूसरों के लिए, या स्वयं मेरे लिए वैध हो। जो मैंने लिखा है, वह न तो मेरे लिए और न ही दूसरों के लिए, आदेशात्मक है। अधिक–से–अधिक, यह सहायक और अन्तरिम हो सकती है।

प्रश्न : आप जो कह रहे हैं, वह आपके दृष्टिकोण के मनमौजी पहलू की पुष्टि करता है, और कुछ अर्थों में, यह आपके काम को व्यवस्थित करने के प्रयासों में, या उसे समकालीन दार्शनिक विचारों में एक सटीक स्थिति देने के प्रयासों में आने वाली उन कठिनाइयों को वर्णन करता है जिनका कि आलोचकों, टिप्पणीकारों, और भाष्यकारों ने सामना किया है।

उत्तर : मैं अपने आप को दार्शनिक नहीं मानता। मैं जो करता हूँ, न तो वह दर्शनाभ्यास है और न ही वह दूसरों को दर्शन का अभ्यास करने से हतोत्साहित करने का प्रयास है। वे महत्त्वपूर्ण लेखक जिन्होंने (मैं यह तो नहीं कहूँगा कि मेरे सोच को आकार दिया है), बल्कि, यह कहूँगा कि जिन्होंने मुझे अपनी विश्वविद्यालयीन शिक्षा से विलग होने में सक्षम बनाया है, वे हैं–जार्ज बटैय, फेडरिक नीत्शे, मौरीस ब्लौंशो, और पियरे क्लौसौवस्की, जो कि, शब्द के संस्थागत अर्थ में दार्शनिक नहीं थे। निस्संदेह, कुछेक व्यक्तिगत अनुभवों का भी इस में हाथ था। इन लेखकों के बारे में जिस बात ने मेरा ध्यान आकर्षित किया, और जिस बात ने मुझे अभिभूत भी किया, और जिस बात ने मेरे लिए उनका प्रमुख महत्त्व दिया, वह यह था कि, वे एक 'तंत्र की निर्मिति' की समस्या से नहीं जूझ रहे थे, बल्कि, उनकी समस्या, एक 'अनुभव की निर्मिति' की थी। इसके विपरीत, विश्वविद्यालय में, मुझे हेगेलवाद, घटना–क्रिया–विज्ञान (फिनोमेनोलॉजी), आदि दर्शन के तन्त्रों की दक्षता के लिए, शिक्षित, दीक्षित और प्रेरित किया गया था।

प्रश्न : आप फिनोमेनोलॉजी की बात उठाते हैं, परंतु, सारा फिनोमेनोलॉजी विचार, 'अनुभव' के प्रश्न पर केन्द्रित है, और, अपने सैद्धान्तिक क्षितिज को सीमांकित करने के लिए, उस पर आश्रित है। तब, आपके सोच को उससे कौन सा तत्व भिन्न करता है?

उत्तर : फिनोमेनोलॉजी का अनुभव मूलतः एक प्रकार से 'जीये गए अनुभव' की किसी विषयवस्तु पर एक मननशील दृष्टि डालना है। प्रतिदिन के अस्थायी रूप पर, ताकि हम उसके अर्थ को पकड़ सकें। वहीं, दूसरी ओर, नीत्शे, बटैय, ब्लौंशो, के लिए 'अनुभव', जीवन के किसी उस एक बिन्दु पर पहुँचने का प्रयास है, जो कि जितना हो सके उतना, 'जीने के लिए अनुपयुक्त' यानि वह जिसे 'जिया न जा सके', के निकटस्थ हो। तब इसके लिए जो आवश्यक है, वह है, तीव्रता का आधिक्य और साथ ही साथ असंभाव्य का आधिक्य। इसके उलट,फिनोमेनोलॉजी के काम में, दैनंदिन के 'अनुभव' से संबन्धित संभावनाओं के क्षेत्र का खुलना निहित है।

इसके साथ ही साथ, फिनोमेनोलॉजी दैनंदिन के 'अनुभव' के अर्थ को ग्रहण करने का प्रयास करता है, ताकि, वह उस अभिप्राय का पुनरान्वेषण कर सके जिसमें कर्ता यानि 'मैं' निश्चित रूप से उस 'अनुभव' को और उसके अर्थों के लिए, उसके 'अनुभवातीत' प्रकार्यों में, उत्तरदायी हो। वहीं दूसरी ओर, नीत्शे, बटैय, और ब्लौंशो, के लिए, 'अनुभव' का 'कार्य' कर्ता को स्वयं से छीनना है, और यह सुनिश्चित करना है कि, कर्ता, स्वयं कर्ता न रह सके या वह स्वयं को विनष्ट कर सके, या स्वयं को विघटित कर सके। यह एक डीसब्जेक्टिवेशन की परियोजना है। मेरे, नीत्शे, बटैय, और ब्लौंशो, के पठन में, स्वयं मेरे लिए, एक 'सीमित–अनुभव' का विचार, जो कि, कर्ता को स्वयं कर्ता से छीनता है, महत्त्वपूर्ण था, और जो इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि, मेरी पुस्तकें, जितनी भी उधार ली हुई लगें, जितनी भी पाण्डित्यपूर्ण लगें, मैंने, उनकी कल्पना हमेशा, स्वयं को स्वयं से मुक्त करने के 'प्रत्यक्ष अनुभव' के रूप में, जो कि मुझे एक जैसा रहने से बचा सके, की है।

प्रश्न : आप जो कह रहे हैं, उसे मैं अगर ठीक से समझ रहा हूँ तो, आपकी बौद्धिक मनोवृत्ति के तीन मूलभूत आयाम हैं : लेखन, जो कि एक निरंतर विकसित होता हुआ 'अनुभव' है, विधियों की एक अत्यधिक सापेक्षता, और सब्जेक्टिवेशन के संदर्भ में एक तनाव। इन घटकों को मद्देनजर रखते हुए, प्रश्न यह उठता है कि, क्या यह किसी अन्वेषण के परिणामों को यथेष्ट

विश्वसनीयता प्रदान करेगा और आपके सोच के आयामों के साथ, सत्य के कौन से मापदण्ड एकमत होंगे?

उत्तर : मैं जो कहता हूँ उसकी सत्यता का प्रश्न अत्यंत कठिन है, दरअस्ल, वही मूल प्रश्न भी है। और इस प्रश्न का कोई उत्तर मैंने अभी तक नहीं दिया है। और फिर भी मैं, सबसे परम्परागत विधियों का प्रयोग करता हूँ जैसे कि, निरूपण, ऐतिहासिक मुद्दों में प्रमाण, पाठीय संदर्भ, विषयविदों के उद्धरण, पाठों और तथ्यों के बीच संबंध स्थापित करना, बोधगम्यता की योजनाएँ प्रस्तावित करना, और विभिन्न प्रकार के स्पष्टीकरण देना। जो भी कुछ मैं करता हूँ, उसमें कुछ भी नया नहीं है। इस दृष्टिकोण से, मैं जो भी कुछ अपनी पुस्तकों में कहता हूँ, उसे इतिहास की किसी भी अन्य पुस्तक की तरह सत्यापित या अमान्य किया जा सकता है।

इसके बावजूद, जो मुझे पढ़ते हैं– विशेष तौर पर वे जो मेरे किए गये काम को अहमियत देते हैं–अक्सर हँसते हुए कहते हैं, 'तुम यह बखूबी जानते हो कि, जो भी कुछ तुम कहते हो, वह एक गल्प है।' और मैं हमेशा प्रत्युत्तर में कहता हूँ, 'निस्संदेह, मेरे कहे हुए का गल्प होने के अलावा और कुछ होने का प्रश्न ही नहीं उठता।'

अगर मैं, उदाहरण के लिए, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के बीच के, मनश्चिकित्सकीय संस्थानों के इतिहास के बारे में एक अध्ययन करना चाहता, तो निश्चित रूप से मैं, मेडनेस एण्ड सिविलाईजेशन जैसी पुस्तक नहीं लिख पाता। परंतु, मेरी समस्या पेशेवर इतिहासविदों को संतुष्ट करने की नहीं है, मेरी समस्या, मेरा स्वयं का पुनर्गठन है, और दूसरों को, हमारे 'होने के अनुभव' को, न केवल हमारे इतिहास, बल्कि, हमारे वर्तमान, और हमारी आधुनिकता के 'अनुभव' को इस प्रकार साझा करने के लिए आमंत्रित करना है, ताकि,'हम उससे रूपांतरित हो कर बाहर निकलें। इसका अर्थ यह कि, हम किसी पुस्तक की समाप्ति पर, हमारे सामने प्रस्तुत विषय से एक नया संबंध स्थापित कर सकें। 'मैं' जिसने वह किताब लिखी है, और 'पाठक' जिन्होंने वह किताब पढ़ी है, उनका पागलपन, उसकी समकालीन प्रतिष्ठा, और उसके आधुनिक जगत में इतिहास से एक अलग संबंध स्थापित होगा।

प्रश्न : आपके आख्यान की प्रभावोत्पादकता, प्रमाण के बल और उस 'अनुभव' से जोड़ने की क्षमता के संतुलन पर आश्रित है, जो 'अनुभव', हमारे सांस्कृतिक क्षितिजों–जिनके बरअक्स हम अपना वर्तमान जीते हैं और उसका आंकलन करते है– में परिवर्तन की तरफ ले जाए। मैं अभी भी समझ नहीं पा रहा हूँ कि, आप की दृष्टि में, इस प्रक्रिया का 'सत्य के मापदण्डों', जैसा कि हमने पहले कहा, से क्या लेना–देना है? यानि कि, सत्य से संबन्धित जिन रूपांतरणों की बात आपने की, ऐसा कैसे है कि वे 'सत्य के प्रभावों' की उत्पत्ति करते हैं?

उत्तर : मैंने जिन विषय–वस्तुओं के बारे में लिखा है और उस लिखे हुए के प्रभावों के बीच एक विशेष संबंध है। जैसे, देखिये मेडनेस एण्ड सिविलाईजेशन के साथ क्या हुआ : वह मौरीस ब्लैंशो, रोलाँ बार्थ जैसे लोगों द्वारा स्वीकृत हुई। और प्रथम चरण में, वह मनश्चिकित्सकों द्वारा 'कुछ विस्मय' और 'कुछ सहानुभूति' के साथ स्वीकारी गई, और इतिहासविदों के द्वारा, जिनकी आदतन ऐसे विषय में कोई रुचि नहीं होती है, वह पूरी तरह नजरअंदाज की गई। बाद इसके, अत्यधिक तीव्रता से, उस पुस्तक के प्रति मनश्चिकित्सकों का विद्वेष उस सीमा तक बढ़ गया कि, वह पुस्तक वर्तमान मनश्चिकित्सा पर एक आक्रमण और प्रति–मनश्चिकित्सा के घोषणा–पत्र

की तरह देखी जाने लगी। परंतु, मेरा मन्तव्य, ऐसा दो कारणों से, बिलकुल नहीं था। जब, 1958 में, पोलैंड में, मैंने वह किताब लिखी तब यूरोप में प्रति–मनश्चिकित्सा अस्तित्व में ही नहीं थी, और, वह पुस्तक मनश्चिकित्सा पर आक्रमण इसलिए भी नहीं थी क्योंकि, वह किताब, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ पर आकर रुक जाती है। बावजूद इसके, जन मानस में उस पुस्तक की छवि समकालीन मनश्चिकित्सा पर एक आक्रमण के रूप में प्रचलित है। क्यों? क्योंकि, मेरे लिए, और जिन लोगों ने उसे पढ़ा और उसका प्रयोग किया– उन लोगों के लिए, उस पुस्तक ने एक प्रकार से, पागलपन, मानसिक रूप से विक्षिप्त, मनश्चिकित्सा संस्थान, और यहाँ तक कि, मनश्चिकित्सकीय आख्यान के सत्य से भी उनके ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक, और नैतिक या नीति–शास्त्रीय संबंध को रूपांतरित कर दिया है। अतः यह एक ऐसी किताब है जो कि, उसके लेखक और उसके पाठकों, दोनों के लिए एक समान रूप से, किसी स्थापित ऐतिहासिक सत्य से कहीं अधिक रूप से, एक 'अनुभव' की तरह कार्य करती है। किसी व्यक्ति के लिए, किसी पुस्तक के द्वारा ऐसा 'अनुभव' होना, तभी हो सकता है, जब, जो बात वह पुस्तक कहती है, वह अकादमिक और ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित सत्य हो। वह एक उपन्यास नहीं हो सकती। परंतु, फिर भी, उस पुस्तक की मूलभूत 'विषयवस्तु', उन सच्ची या ऐतिहासिक रूप से प्रामाणित खोजों की शृंखला में नहीं है, बल्कि,उस 'अनुभव में है, जो वह पुस्तक संभव बनाती है। अब, तथ्य यह है कि,वह अनुभव न तो सत्य है और न ही निरा मिथ्या। एक अनुभव हमेशा कल्पित होता है वह ऐसा कुछ है जिसकी निर्मिति हम स्वयं करते हैं, और न जो पहले अस्तित्व में होता है और न ही जो बाद में अस्तित्व में रहेगा। यही तो सत्य के साथ का दुरूह संबंध है, उस प्रकार से, जिसमें वह अनुभव से घिरा हुआ है, परंतु उससे बंधा हुआ नहीं है, और कुछ हद तक उसे नष्ट भी करता है।

प्रश्न : सत्य के साथ का यह दुरूह सम्बन्ध क्या आपके शोध के साथ निरंतर चलता है, और क्या इसे मेडनेस एण्ड सिविलाईजेशन के अलावा और भी रचनाओं में पहचाना जा सकता है?

उत्तर : यही बात, डिसिप्लिन एण्ड पनिश के लिए भी कही जा सकती है। मेरा अनुसंधान 1830 के दशक पार आकर रुक जाता है। इस प्रसंग में भी, पाठकों ने, आलोचनात्मक या नहीं, उस पुस्तक को, उस समकालीन समाज के वर्णन को, एक कारागार के समाज के रूप में समझा। मैंने ऐसा कभी नहीं लिखा, हालाँकि, यह सच है कि, उस पुस्तक का लेखन, हमारी आधुनिकता के एक विशेष अनुभव से जुड़ा हुआ था। वह पुस्तक सच्चे और प्रामाणिक दस्तावेजों का इस्तेमाल करती है, परंतु, इस प्रकार से कि, उनके द्वारा न केवल सत्य तक पहुंचा जा सकता है, बल्कि, ऐसा कुछ भी 'अनुभव किया जा सकता है, जो कि, जरूरी परिवर्तन की अनुमति देता है, उस 'सम्बन्ध' के रूपान्तरण की, जो हमारे और उस जगत के मध्य है, जहाँ, अभी तक, हम स्वयं को समस्या–विहीन प्राणियों की तरह देखते थे। संक्षेप में कहें तो– हमारा, हमारे ज्ञान के साथ के सम्बन्ध का रूपान्तरण।

तो, 'सत्य' और 'कल्पित' का यह खेल– या अगर आप चाहें तो, 'सत्यापन' और 'गढ़ंत' का यह खेल, ऐसे कुछ को प्रकाश में लाता है, जो कि हमें, कई बार पूर्णरूपेण अनभिज्ञता में, हमारी आधुनिकता से जोड़ता है, और इसके साथ ही साथ, उसे बदलता हुआ भी दिखाता है। वे अनुभव, जिनके द्वारा हम, कुछ रचनातंत्रों (उदाहरण के लिए, कारावास, दण्ड, आदि, आदि)

की बोधगम्यता को पकड़ते हैं, और, जिस प्रकार से, उन रचनातंत्रों को दूसरे रूप में समझ कर हम स्वयं को उनसे विलग कर लेते हैं, वह एक ही है। यही मेरे कार्य के मर्म में निहित है। यह विचारणीय है कि इसके क्या परिणाम या अभिप्राय हो सकते हैं? पहला यह कि, मैं आंकड़ों की एक अनवरत और सुव्यवस्थित पृष्ठभूमि पर आश्रित नहीं रहता हूँ। दूसरा यह कि, मैंने अभी तक ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं लिखी है, जो कि, कम से कम आंशिक रूप से, सीधे मेरे व्यक्तिगत अनुभवों से प्रेरित न हो। मेरा, पागलपन और मनश्चिकित्सक संस्थानों से एक जटिल, व्यक्तिगत सम्बन्ध रहा है। और मेरा, मृत्यु और बीमारी से भी एक विशेष सम्बन्ध रहा है। मैंने, अस्पतालों के जन्म और चिकित्सा विज्ञान में मृत्यु के बारे में उस समय लिखा, जब उनका मेरे स्वयं के जीवन में कुछ महत्त्व था। यही, कुछ दूसरे कारणों से कारावास और यौनिकता के सम्बन्ध में भी है।

एक तीसरा अभिप्राय यह है कि, यह सारा व्यक्तिगत अनुभवों के ज्ञान में परिवर्तन का ही प्रसंग नहीं है। पुस्तक में, 'अनुभव' के साथ सम्बन्ध, रूपान्तरण को, एक कायान्तरण को सम्भव बनाना चाहिए, और सिर्फ मेरा ही नहीं, बल्कि, दूसरों के लिए भी जिसका कुछ मूल्य हो, जो दूसरों के लिए भी सुगम हो, ताकि, वह अनुभव दूसरों के लिए भी सुलभ हो।

चौथा और अंतिम बिन्दु, यह अनुभव, कुछ मात्रा में, एक किस्म के सोचने के तरीके से, एक सामूहिक अभ्यास से यथोचित जुड़ने में सक्षम हो सके।

और, उदाहरण के लिए, प्रति–मनश्चिकित्सा के आंदोलन या फ्रांस में कैदियों के आंदोलन के साथ यही हुआ।

प्रश्न : जब आप, जैसा कि आप कहते हैं, एक 'सामूहिक अभ्यास' से जुड़ने में सक्षम किसी 'रूपान्तरण' को दर्शाते हैं, तब मैं किसी एक विधि–तंत्र या एक विशेष प्रकार की शिक्षा की रूपरेखा देखता हूँ। क्या आपके विचार में ऐसा नहीं है? और अगर यदि है, तो क्या आप को ऐसा प्रतीत नहीं होता कि, आपकी दूसरी आवश्यकता, जिसे आपने पहले कहा, यानि कि, आदेशात्मक आख्यान, के साथ विरोधाभास में आते हैं?

उत्तर : मैं 'शिक्षा' शब्द को अस्वीकार करता हूँ। एक व्यवस्थित पुस्तक, जो कि अनुभव या ज्ञान के सामान्यीकरण की जा सकने वाली विधियों को प्रयोग में लाती हो या जो कि, किसी सिद्धान्त का निरूपण करती हो, वह पुस्तक सबक सिखा सकती है। मेरी पुस्तकों का वैसा मूल्य नहीं है। वे, आमंत्रण या सार्वजनिक संकेतों की तरह हैं।

प्रश्न : परंतु, क्या 'सामूहिक अभ्यास' उन मूल्यों, उन मानदंडों, और उन व्यवहारों से नहीं जुड़े होने चाहिए, जो कि, व्यक्तिगत अनुभवों से परे जाते हों?

उत्तर : 'अनुभव' ऐसा कुछ है जिससे कि, हम पूरी तरह अकेले गुजरते हैं, परंतु, सिर्फ उसी सीमा तक कि वह विशुद्ध आत्मपरकता से बच कर निकल जाए, और दूसरे लोग भी– मैं यह नहीं कहूँगा कि वे उसे दुहराएंगे, परंतु, कम से कम, उसका सामना तो कर ही सकते हैं– और स्वयम उस 'अनुभव' से गुजर सकते हैं। चलिये, एक क्षण पीछे लौटते हैं और कारागृहों पर लिखी हुई पुस्तक पर बात करते हैं। किसी अभिप्राय में, वह विशुद्ध रूप से इतिहास की किताब है। परंतु, जिन लोगों ने उसे पसंद किया या उससे घृणा की, उन्हें ऐसा इसलिए महसूस हुआ क्योंकि

उन्हें ऐसा आभास हुआ कि वह पुस्तक, उन रूपों में जो कि सर्वमान्य है, उनसे सम्बद्ध थी या विशुद्ध रूप से समकालीन जगत से सम्बद्ध थी, या समकालीन जगत से उनके सम्बन्धों से सम्बद्ध थी। उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि वर्तमान के यथार्थ की किसी वस्तु पर प्रश्न–चिह्न लगाए जा रहे हैं। और, सच्चाई यह है कि, मैंने कई सालों तक उन कार्य–समूहों में भागीदारी के बाद, जो कि दण्ड–विषयक संस्थानों के बारे में या तो सोच रहे थे या उनसे संघर्ष कर रहे थे, उस पुस्तक पर, काम करना शुरू किया। यह एक जटिल और कठिन रचना थी जो कि कई बंदियों, उनके परिवारों, कारावास के कर्मचारियों, न्यायाधीशों और कई और व्यक्तियों की सहायता से पूर्ण हुई।

जब वह पुस्तक आई, तब अलग–अलग पाठकों ने– विशेष तौर पर कारावास के कर्मचारियों ने, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने और अन्य ऐसे लोगों ने– उस पुस्तक पर यह निर्णय दिया कि 'यह किताब पंगु कर देने वाली है। इस में कुछ सटीक निष्कर्ष हैं, परंतु, फिर भी इसकी सीमाएं स्पष्ट हैं, क्योंकि यह पुस्तक हमें अवरुद्ध करती है। यह हमें, हमारे काम करने से रोकती है।' इसके बारे में, मेरा उत्तर यह है कि, इस प्रकार की प्रतिक्रिया ही इस बात का प्रमाण है कि, मेरा कार्य सफल हुआ, और उसने वही किया, जैसा मैं चाहता था। यह दर्शाता है कि लोग उस पुस्तक को, एक ऐसे 'अनुभव' की तरह पढ़ते हैं, जो उन्हें बदल देता है, जो उन्हें हमेशा के लिए एक जैसा रहने से रोकता है या वस्तुओं और दूसरे लोगों के साथ एक जैसे संबंध से रोकता है, जो इस पुस्तक के पढ़ने के पहले थे। यह, यह भी दर्शाता है कि, इस पुस्तक में अभिव्यक्त अनुभव, सिर्फ मेरे स्वयं के अनुभव से कहीं ज्यादा व्यापक हैं। पाठकों ने स्वयं को, एक प्रक्रिया, जो चल रही थी, उसके अंतर्गत पाया है– हम यह कह सकते हैं कि, वह प्रक्रिया थी, समकालीन मानव के स्वयं के बारे में, स्वयं के विचार के रूपान्तरण की प्रक्रिया थी। और इस पुस्तक ने उस रूपान्तरण के लिए कार्य किया। और किसी छोटे रूप में, यह पुस्तक उस रूपान्तरण का 'कर्ता' भी थी। और एक 'अनुभव की पुस्तक' से, बजाए 'सत्य की पुस्तक' या 'निरूपण की पुस्तक' से मेरा यह अभिप्राय होता है।

प्रश्न : हमारे विश्लेषण में इस समय मैं एक चीज नोट करना चाहूँगा। आप स्वयं के बारे में और विशेष कर अपने शोध के बारे में इस प्रकार बात करते हैं कि जिस ऐतिहासिक और उससे बढ़कर सांस्कृतिक संदर्भ में आपका शोध परिपक्व हुआ, आप उससे स्वतंत्र हैं। आपने नीत्शे, बटैय, और ब्लौंशो का उदाहरण दिया। आपने इन लेखकों के बारे में कैसे जाना? आपके अपने स्वयं के बौद्धिक गठन के वर्षों में, फ्रांस में बुद्धिजीवी होने का क्या अर्थ था, और उस दौरान किस प्रकार की सैद्धान्तिक बहसें हुआ करती थीं? आप उस स्तर तक कैसे पहुंचे, जहाँ पहुँच कर आप परिपक्व बौद्धिक चयन कर रहे थे और अपने विचार की अभिमुखता को स्थापित कर रहे थे?

उत्तर : नीत्शे, बटैय, और ब्लौंशो ये वे लेखक थे जिन्होंने मुझे सन पचास के दशक के पूर्वार्ध में मेरी विश्वविद्यालयीन शिक्षा के प्रबल प्रभावों–हेगेल और फिनोमेनोलॉजी से स्वतंत्र होने में मेरी सहायता की। उन दिनों दर्शन, और दरअस्ल आज भी, सिर्फ दर्शन का इतिहास पढ़ना भर था। और दर्शन का इतिहास जहाँ एक ओर, हेगेल की प्रणालियों की सैद्धांतिकी से और वहीं दूसरी ओर 'कर्ता' के दर्शन से, जो कि फिनोमेनोलॉजी और अस्तित्ववाद के रूप में था, से

परिसीमित था। मूलतः, वह हेगेल थे जिनका प्रभाव वर्चस्वी था। फ्रांस के लिए, यह ज्यां व्हाल के काम के बाद और ज्यां ईपोलित की शिक्षाओं के बाद यह एक प्रकार से नई खोज थी। अनुपयुक्त चेतना के मुद्दों पर केन्द्रित, और अस्तित्ववाद और फिनोमेनोलॉजी से व्याप्त, यह एक तरह का हेगेलवाद ही था। और एक प्रकार से, समकालीन जगत को, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध की त्रासदी और उसके पूर्व की बड़ी–बड़ी उथल–पुथल, जैसे कि रूसी क्रान्ति, फासीवाद आदि, से अभी ही बाहर आया था, उसे समझने के लिए सर्वोत्तम प्रणाली थी जो कि फ्रेंच विश्वविद्यालय हमें दे सकता था। जबकि, हेगेलवाद को, एक प्रकार से उस त्रासदी की तार्किक समझ प्राप्त करने के तरीके के रूप में प्रस्तुत किया गया था, जैसी कि हमसे ठीक पहले की पीढ़ी ने भोगी थी, परंतु, वे सार्त्र थे जो अपने 'कर्ता के दर्शन' के साथ, विश्वविद्यालय के प्रचलन में थे। फिनोमेनोलॉजी और अकादमिक दर्शन की परंपरा के बीच एक मिलन बिन्दु स्थापित करते हुए, मौरिस मर्लो–पौन्टी ने अस्तित्ववादी आख्यान का विशिष्ट ज्ञान क्षेत्रों में विस्तार किया, जैसे उदाहरण के लिए, जगत की बोधगम्यता के प्रश्न को आविष्कृत करते हुए, यथार्थ की बोधगम्यता का अन्वेषण। मेरे अपने चयन उन उस बौद्धिक परिदृश्य के बीच परिपक्व हुए। वहीं दूसरी ओर, मैंने तय किया कि मैं अपने अध्यापकों की तरह दर्शन के इतिहास का इतिहासज्ञ नहीं बनूँगा, और मैंने अस्तित्ववाद से कुछ अलग ढूँढने का निर्णय लिया। वह मुझे, ब्लैंशो और बटैय को पढ़ने में, और उनके माध्यम से नीत्शे को पढ़ने में मिला। मेरे लिए वे किसका प्रतिनिधित्व करते थे? पहला तो मेरे लिए वह, कर्ता की श्रेणी, उसकी प्रधानता, और उसके बुनियादी कार्य पर प्रश्न उठाने का आमंत्रण था। दूसरा, यह धारणा कि यह प्रबंध अगर महज परिकल्पना भर रही तो वह अर्थहीन होगा। कर्ता पर प्रश्न चिह्न लगाने का अर्थ उस अनुभव से गुजरना होगा जो कि उसके वास्तविक ध्वंस, उसके विघटन, उसके विस्फोटन, और उसके किसी और रूप में रूपान्तरण की तरफ ले जाएगा।

प्रश्न : तो उस प्रकार का अभिमुख होना सिर्फ दर्शन के प्रभावी वातावरण के प्रति किसी आलोचनात्मक अभिवृत्ति के कारण अवस्थित हुआ, या यह उस फ्रेंच यथार्थ के द्वितीय विश्व युद्ध के अन्तकाल के आयामों पर चिंतन से उत्पन्न हुआ? मैं राजनीति और संस्कृति के सम्बन्धों के बारे में सोच रहा हूँ और उन प्रकारों के बारे में भी जिनसे नई बौद्धिक पीढ़ियों ने राजनीति का अनुभव किया और उसकी व्याख्या की।

उत्तर : मेरे लिए, राजनीति, नीत्शे या बटैय की शैली में एक अनुभव लेने का मौका था। किसी के लिए, जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय बीस वर्ष की आयु का हो, और जो कि उस युद्ध की नैतिकता के प्रश्न में शामिल न हो, उसके लिए राजनीति क्या हो सकती है, जब वह ट्रूमन के अमेरिका और स्टालिन के सोवियत संघ के बीच चुनाव का मुद्दा हो? पुराने एस.एफ.आई.ओ. (साठ के दशक की फ्रांसीसी समाजवादी पार्टी–अनु) या ईसाई लोकतंत्र के बीच? एक बुर्जुवा बौद्धिक, या अध्यापक, या पत्रकार, या लेखक बनना या इस प्रकार का ऐसा कुछ और बनना मेरे लिए पर्याप्त घृणास्पद था। युद्ध के अनुभव ने हमें, जिस समाज में हम रह रहे हैं वही है, यह समाज, जिसने फासीवाद की अनुमति दी, और जो उसके सामने झुक गया, यह समाज जो सामूहिक रूप से चार्ल्स द गाल के साथ चल पड़ा, उस समाज, से मौलिक रूप से भिन्न समाज की अत्यावश्यक जरूरत को हमें दिखा दिया था। फ्रेंच युवा के एक बड़े समुदाय की, उस सब के प्रति तीव्र घृणात्मक प्रतिक्रिया थी। हम एक ऐसा समाज और ऐसी

प्रजा चाहते थे जो कि, न केवल भिन्न हो बल्कि, वह हमारा एक वैकल्पिक रूपान्तरण हो। हम एक अलग ही विश्व में बिलकुल अलग होना चाहते थे। इसके अलावा जो हेगेलवाद और उनके इतिहास की अखंड बोधगम्यता का प्रारूप हमें विश्वविद्यालय में पढ़ाया गया था, वह हमें संतुष्ट करने के लिए कतई पर्याप्त नहीं था। और यही फिनोमेनोलॉजी और अस्तित्ववाद के लिए भी था, जो कि कर्ता और उसकी प्रधानता को बरकरार रखते थे। वहीं दूसरी ओर नीत्शे की विच्छिन्नता की विषयवस्तु, एक अति–मानव की विषयवस्तु, जो कि सामान्य मानव से बिलकुल भिन्न होगा, ऐसे अति–मानव की विषयवस्तु और इसके साथ ही साथ बटैय के सीमित–अनुभवों की विषयवस्तु, जिससे विषय स्वयं से पलायन करता है, का हमारे लिए बहुत मूल्य था। जहां तक मेरा प्रश्न है, ये विषयवस्तुएँ मेरे लिए हेगेलवाद और विषय की दार्शनिक पहचान के बीच का रास्ता था।

प्रश्न : आपने द्वितीय विश्व युद्ध के 'दारुण अनुभवों' की बात की और उनके दर्शन की परंपरा की परिकल्पित योजनाओं के द्वारा लेखे–जोखे की दुष्करता की भी बात की। फिर भी आप ज्यां पॉल सार्त्र की मीमांसा को उस अक्षमता की सीमाओं में क्यों रखना चाहते हैं? क्या उन्होंने अस्तित्ववाद का प्रतिनिधित्व नहीं किया था और क्या उन्होंने, विशेष तौर पर फ्रांस में, सैद्धांतिक परंपरा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया को समाविष्ट नहीं किया था, एक प्रकार से अपने समय के संदर्भ में बुद्धिजीवी की प्रतिष्ठा का पुनर्मूल्यांकन?

उत्तर : सार्त्र के दर्शन जैसे दर्शन में, कर्ता ही जगत को अर्थ देती है। इस बिन्दु को कभी पुनर्प्रश्नांकित नहीं किया गया था। कर्ता ही मुक्त करती है। प्रश्न यह था क्या यह कहा जा सकता है कि केवल कर्ता ही अस्तित्व का एक संभावित रूप है? क्या ऐसे 'अनुभव' नहीं हो सकते, जिनकी कालावधि में कर्ता, अपने संगठनात्मक सम्बन्धों में, कभी स्वीकारी ही ना जाये, यानि ऐसा क्या है जो कि उसे स्वयं से अभिन्न बनाता है? क्या ऐसे अनुभव नहीं हो सकते जिनमें कर्ता, स्वयं से पृथक हो सकें, स्वयं के स्वयं से सम्बन्ध तो विच्छिन्न कर सकें, स्वयं की पहचान खो सकें? क्या, नीत्शे के 'नित्य पुनरावृत्ति' के अनुभव का सार यही नहीं है?

प्रश्न : आपने जिन लेखकों का जिक्र किया उनके अलावा उस काल खंड में और कौन कौन नीत्शे के चिंतन के बारे में लिख या सोच रहे थे?

उत्तर : दरअस्ल, नीत्शे की खोज विश्वविद्यालय के बाहर हुई। क्योंकि जिस तरीके से नीत्शे का नाजियों ने इस्तेमाल किया था, नीत्शे अकादमिक पाठ्यक्रम में पूरी तरह वर्जित थे। वहीं दूसरी ओर, दर्शन के विचार का एक अनवरत पाठ प्रचलन में था, इतिहास के दर्शन के प्रति एक रवैया, जो कि एक प्रकार से हेगेलवाद और अस्तित्ववाद का मिश्रण था। और, सही कहूँ तो, इतिहास के उस दर्शन को मार्क्सवादी संस्कृति भी साझा करती है।

प्रश्न : अब जाकर आप मार्क्सवाद और मार्क्सवादी संस्कृति की ओर इंगित करते हैं, जैसे कि यह अब तक का सबसे बड़ा 'छूटा हुआ तत्व' था। पर मैं नहीं समझता कि ऐसा कहा जा सकता है।

उत्तर : मैं मार्क्सवादी संस्कृति के बारे में बाद में बात करना चाहूँगा। अभी के लिए मैं सिर्फ एक रोचक तथ्य बताता हूँ। मेरी नीत्शे और बटैय में रुचि, मार्क्सवाद या साम्यवाद से दूरी बनाने के लिए नहीं थी– यह, जिसकी हम साम्यवाद से अपेक्षा रखते थे, यह उसी की ओर बढ़ने का एकमात्र

मार्ग था। हमारा, जिस विश्व में हम जीते हैं उस विश्व की अस्वीकृति करना, निश्चित रूप से हम हेगेल के दर्शन से संतुष्ट नहीं थे। और उस सर्वथा भिन्न यथार्थ के लिए, जो हमें लगता था कि साम्यवाद में सन्निहित है, उसे पाने के लिए हम दूसरे तरीकों की खोज में थे। इसीलिए 1950 में, बिना मार्क्स को ज्यादा जाने, हेगेलवाद को रद्द करते हुए और अस्तित्ववाद से असुविधाजनक महसूस करते हुए, मैं फ्रेंच साम्यवादी पार्टी से जुड़ पाया। 'नीत्शेअन साम्यवादी' होना अस्थिर था, बल्कि कहूँ कि असंगत था। यह बात मैं अच्छी तरह से जानता था।

प्रश्न : आप पी.सी.एफ. (फ्रांसीसी साम्यवादी पार्टी–अनु.) में भर्ती हुए। आप साम्यवादी पार्टी में एक असामान्य बौद्धिक भटकाव के बाद आए। उस अनुभव ने आप पर और आपके सैद्धान्तिक शोध की प्रगति पर क्या प्रभाव डाला? एक 'साम्यवादी अतिवादी' की तरह आपका अनुभव कैसा रहा? और अंत में आप पार्टी छोड़ने के निर्णय पर कैसे पहुंचे?

उत्तर : फ्रांस में, साम्यवादी पार्टी में आकर उसे छोड़ जाने वाले युवाओं का आना–जाना अत्यंत शीघ्र था। कई लोग तो पार्टी के अंतिम टूट–फूट के उन क्षणों को अनुभव किए बिना आए और चले गये। मैंने, सन 1952 की शीत में स्टालिन के खिलाफ हुए कुख्यात डॉक्टर्स प्लॉट के बाद पार्टी छोड़ी। और मेरा पार्टी छोड़ने का निर्णय व्याकुलता के एक दृढ़ प्रभाव के कारण था। स्टालिन की मृत्यु के ठीक थोड़ा पहले, यह खबर फैल गई थी कि यहूदी डॉक्टरों के एक समूह ने स्टालिन की जान लेने की कोशिश की थी। आन्द्रे वर्म्जर ने हमारे छात्र प्रकोष्ठ में एक बैठक रखी, यह बताने के लिए कि किस तरह उस प्लॉट को अंजाम दिया गया। हालाँकि, हमें भरोसा नहीं हुआ था, परंतु फिर भी हमने उस कहानी पर विश्वास करने की काफी कोशिश की।

और एक तरह से इस प्रकरण ने पार्टी के उस 'महाविपदा' की या कहें की पार्टी में 'होने के तरीके' को भी थोड़ा बहुत बनाया : यह तथ्य कि हम उस 'बात' को बनाए रखने के लिए बाध्य थे, जो विश्वसनीय होने के सर्वथा विपरीत थी, और साथ ही साथ या 'स्वयं' के विलयन और किसी दूसरे 'कुछ' की खोज के उस कवायद का हिस्सा भी थी, जिसका मैंने पहले जिक्र किया है। स्टालिन की मृत्यु हो गई। तीन महीने बाद हमें पता चला कि डॉक्टर्स प्लॉट जैसा कुछ था ही नहीं। हमने, यह जानने के लिए कि यह सब क्या था, वर्म्जर को लिखा भी कि वे आएँ और हमें इसे तरीके से स्पष्ट करें। परंतु हमें कोई उत्तर नहीं मिला। अब आप कहेंगे कि यह तो एक सामान्य प्रथा थी, रोजमर्रा में होने वाली एक छोटी सी घटना... परंतु तथ्य यह है कि उस घटना के बाद ही मैंने पार्टी छोड़ी।

प्रश्न : जैसा मुझे दिखता है, जो कहानी आप बताते हैं वह मूलतः अतीत के एक परिदृश्य की पुनरावृत्ति है, एक त्रासद वृत्तांत जिसका संदर्भ था शीत युद्ध, स्टालिनवाद की अति, पार्टी और उसके अतिवादियों के बीच, राजनीति और विचारधारा के बीच एक विशेष संबंध। लगभग ऐसी ही या इससे बदतर परिस्थितियों में भी दूसरे लोगों ने पार्टी से नाता तोड़ने का निर्णय नहीं लिया, बल्कि उन्होंने संघर्ष और आलोचना को चुना। मुझे नहीं लगता कि आपका समाधान सबसे उपयुक्त था।

उत्तर : मैं यह जान रहा हूँ कि मैं सारे साम्यवादियों को मुझे धिक्कारने के लिए तर्क दे रहा हूँ कि मैं बहुत ही गलत कारणों से और सबसे घटिया– किसी गंदे पेटी बुर्जुवाजी तुल्य– साम्यवादी हूँ। परंतु मैं यह सब बातें कहता हूँ क्योंकि यह सब सत्य है और क्योंकि निश्चित रूप से उस परिस्थिति में होने वाला मैं अकेला नहीं था, अनुपयुक्त कारणों से जुड़ने के कारण, और रूपान्तरण के थोड़े बहुत हास्यास्पद तत्व जैसे कि 'वैराग्य', आत्मपीड़न, जो कि उस तरीके का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पहलू है जिस प्रकार से कई छात्र– आज भी फ्रांस में–साम्यवादी पार्टी की गतिविधियों में भागीदारी करते हैं। मैंने बुद्धिजीवियों को टीटो–मसले के समय पार्टी छोड़ते देखा है। परंतु वहीं दूसरे ओर, मैं कुछेक दूसरे लोगों को जानता हूँ जिन्होंने ठीक उसी समय और उन्हीं मुद्दों के कारण और जो कुछ उस समय घट रहा, उसके कारण पार्टी से जुड़ गये। और, इसके आगे, एक प्रकार से उन लोगों को उत्तर देने के लिए भी, जिनका पार्टी से मोह–भंग हो गया था और जिन्होंने अपनी सदस्यता के कार्ड जमा करवा दिये थे।

प्रश्न : एक बार जब साम्यवादी पार्टी का यह संक्षिप्त अनुभव पूरा हो गया, क्या आपने अन्य राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी की?

उत्तर : नहीं, उसके बाद मैंने अपनी पढ़ाई पूरी की। उस कालावधि में मैंने लुई अल्थुसर के साथ, जो कि पी.सी.एफ में उस समय काफी सक्रिय थे, के साथ बहुत समय बिताया। वास्तव में, उनके प्रभाव के कारण ही मैं पार्टी से जुड़ा था। और जब मैंने पार्टी छोड़ी तब उनकी तरफ से कोई दर्रेच्छा जैसे मेरे लिए नहीं थी। वे उस कारण से मुझसे से संबंध विच्छेद नहीं करना चाहते थे।

प्रश्न : आपका अल्थुसर से संबंध, या कहें कि एक प्रकार की बौद्धिक रिश्तेदारी का एक मूल अत्यंत दूरस्थ है बजाए जैसा कि आमतौर पर कहा जाता है। मैं इस पर विशेष तौर पर बात करना चाहूँगा कि आपका नाम, 'संरचनावाद' के साथ जुड़े विवादों में, जो कि सन साठ के दशक में, फ्रांस के बौद्धिक परिदृश्य में प्रभुत्व रखे हुए थी, अल्थुसर के साथ कई मौकों पर जोड़ा गया है। अल्थुसर मार्क्सवादी थे, और आप नहीं हैं, और ना ही, क्लॉड लीवाय–स्ट्रास और अन्य, परंतु आलोचना ने आप सब लोगों को 'संरचनावादी' की परिभाषा में नाथ दिया। आप उसकी व्याख्या कैसे करते हैं? और आप सब के शोध का क्या कोई समान आधार था, अगर था भी ऐसा कुछ था तो?

उत्तर : उन सभी के बीच में, जिन्हें पिछले पंद्रह वर्षों में 'संरचनावादी' कहा जा रहा है, परंतु जो कि वे नहीं हैं, सिर्फ क्लॉड लीवाय–स्ट्रास को छोड़ कर, एक समान बिन्दु है अल्थुसर, जॉक लकां और मैं। यथार्थ में, सम्मिलन का वह कौन सा बिन्दु था? वह था 'कर्ता' से प्रश्न को एक अलग तरह से उठाने की उत्कट इच्छा, और स्वयं को उस मूलभूत सिद्धान्त से मुक्त करने की, जिसे फ्रांसीसी दर्शन ने देकार्त के समय से नहीं त्यागा है, और जिसे यहाँ तक कि 'घटना–क्रिया विज्ञान' ने भी प्रचलित किया है। मनोविश्लेषण के परिप्रेक्ष्य से भी, लकां ने इस तथ्य को उजागर किया कि अचेतन की सैद्धांतिकी, 'कर्ता' (देकार्त और फिनोमेनोलॉजी, दोनों के अर्थ में) की सैद्धांतिकी से सुसंगत नहीं है। सार्त्र और जार्ज पोलित्जर ने अचेतन की सैद्धांतिकी की आलोचना करते हुए और यह निर्णय लेते हुए कि अचेतन की सैद्धांतिकी, 'कर्ता' की सैद्धांतिकी से सुसंगत नहीं है, उपयुक्त ढंग से मनोविश्लेषण को रद्द किया था। लकां इस

निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'कर्ता' के दर्शन का परित्याग करना जरूरी है और अचेतन की क्रिया–विधि के विश्लेषण से प्रारम्भ करना अत्यधिक उपयुक्त रहेगा। भाषा विज्ञान– यानि भाषा के विश्लेषण की संभावित प्रविधियाँ– और लीवाय–स्ट्रास के कार्य ने, इस शोध को एक तर्कसंगत साधन दिया, जो कि, बटैय या ब्लैंशो के किसी साहित्यिक या आध्यात्मिक 'अनुभव' के बजाय किसी और चीज पर आधारित था। अल्थुसर ने 'कर्ता' के दर्शन को चुनौती दी, क्योंकि फ्रांसीसी मार्क्सवाद के भीतर, मानवतावाद और फिनोमेनोलॉजी के तत्व मौजूद थे, और 'अलगाव की भावना' की सैद्धांतिकी ने मानव 'कर्ता' को, मार्क्स के राजनीतिक–आर्थिक विश्लेषण को एक दार्शनिक ढंग से परिभाषित करने का सैद्धान्तिक उदाहरण बना दिया था। अल्थुसर के कार्य में, मार्क्स के विश्लेषण का पुनरावलोकन निहित था। यह प्रश्न उठाने में, कि क्या मार्क्स के राजनीतिक–आर्थिक विश्लेषण में, मानवीय स्वभाव की धारणा, 'कर्ता' की धारणा, बहिष्कृत मानव की धारणा, सन्निहित थी, जिन पर, उदाहरण के लिए, कुछ मार्क्सवादी जैसे रॉजर गेरॉडे, के सैद्धान्तिक सूत्र आधारित थे। हम यह जानते हैं कि यह उत्तर पूर्णतः नकारात्मक था।

यही वह सारा सब कुछ है जिसे 'संरचनावाद' का नाम दिया गया है। परंतु, वास्तव में, 'संरचनावाद' या संरचनात्मक प्रविधियों ने, ठोस अर्थों में, अधिक से अधिक, एक अत्यधिक मौलिक 'कुछ'– जो कि 'सबजेक्ट' की सैद्धांतिकी का पुनर्निरीक्षण था– के एक सहायक या एक प्रमाण के रूप में कार्य ज्यादा किया।

प्रश्न : आप 'संरचनावाद' की परिभाषा को एक 'अपर्याप्त' स्तर की तरह निरस्त करते हैं। आप, "कर्ता के विकेन्द्रण" के प्रतिपादन के बारे में, विशेष रूप से 'सीमित–अनुभव' के विचार की ओर इंगित करते हुए, एक वंशावली जो कि नीत्शे से जार्ज बटैय तक जाती है, के बारे में बोलने में अपेक्षाकृत अधिक रुचि रखते हैं। और फिर भी निर्विवाद रूप से यह तो है कि आपके चिंतन का एक बड़ा भाग और आपके सैद्धान्तिक विमर्श की परिपक्वता, ज्ञान–मीमांसा के प्रश्नों और विज्ञान के दर्शन के दुरूह मार्ग से गुजरने का परिणाम है।

उत्तर : यह सही है। विज्ञान का इतिहास, जिसके बारे में मैंने पहले सोचना शुरू किया, उसका बटैय, और नीत्शे के संदर्भ में, जो मैंने पढ़ा उससे बहुत दूर का संबंध आता है। परंतु, यथार्थ में कितना दूर का? जब मैं एक छात्र था, तब विज्ञान का इतिहास, अपने सैद्धान्तिक वाद–विवादों के साथ, एक महत्त्वपूर्ण स्थिति पर प्रभुत्व जमाये हुए था।

फिनोमेनोलॉजी के एक पूरे आयाम ने, विज्ञान के मूल के, उसकी तर्कसंगतता के, उसके इतिहास के, अन्वेषण का रूप ले लिया था। एडमंड हूसर्ल, अलेक्सान्द्र क्वाखे के वृहद पाठों ने घटना–क्रिया विज्ञान के उस आयाम की निर्मिति की। कई अर्थों में, मर्लो–पौण्टी का कार्य भी घटना–क्रिया विज्ञान के उस आयाम के पुनर्ग्रहण का एक प्रयास था।

परंतु, मार्क्सवादी खेमे में से भी एक तद्विषयक व्याख्या आ रही थी, कुछ इस हद तक कि, मार्क्सवाद ने, मुक्ति के बाद के वर्षों में, ना केवल सैद्धान्तिक विचार–क्षेत्र में, बल्कि छात्रों और बुद्धिजीवियों के दैनंदिन के जीवन में भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अर्जित की। निश्चित रूप से, मार्क्सवाद ने स्वयं को एक विज्ञान के रूप में, या कम से कम एक साधारण विज्ञान के

वैज्ञानिक चरित्र का उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया था, एक प्रकार से तर्क का न्यायिक रूप दिया जो किसी को यह भेद करने में मदद कर सके कि क्या विज्ञान से सम्बद्ध है और क्या विचारधारा से सम्बद्ध है। अगर संक्षेप में कहें तो, ज्ञान के किसी भी रूप के लिए तर्कसंगतता की एक सामान्य कसौटी। प्रश्नों और अन्वेषणों के इस मिश्रण ने लोगों को विज्ञान और उसके इतिहास से संबन्धित प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित किया। किस सीमा तक विज्ञान का इतिहास प्रश्नांकित किया जा सकता है या विज्ञान के इतिहास की तर्कसंगतता में पूर्ण स्थापना की पुष्टि की जा सकती है। दरअस्ल, यह वह प्रश्न था जो विज्ञान के इतिहास ने, फिनोमेनोलॉजी के समक्ष रखा था। और मार्क्सवाद ने स्वयं से यह प्रश्न पूछा कि मार्क्सवाद किस सीमा तक, 'समाज के इतिहास' के लिए एक नए ढांचे का गठन करके, 'विज्ञान के इतिहास' का, गणित की उत्पत्ति और विकास का, सैद्धान्तिक भौतिकी की उत्पत्ति और विकास आदि आदि का लेखा–जोखा दे सकता है? प्रश्नों के इस घटाटोप में जिसका अभी मैंने संक्षेप में वर्णन किया– जिसने कि विज्ञान के इतिहास, मार्क्सवाद और फिनोमेनोलॉजी के मिलने के आधार का गठन किया– वह उस समय पूर्ण केंद्र में था। वह एक तरह का छोटा सा लेंस था, जिससे कालावधि के विभिन्न प्रश्न अपवर्तित होते थे। और यही वह जगह थी जहाँ लुई अल्थुसर जैसे लोग, जो कि मुझसे उम्र में थोड़े बड़े थे, और जो मेरे प्रोफेसर थे, मेरे लिए महत्त्वपूर्ण थे।

प्रश्न : आपके विकास में विज्ञान के इतिहास के इर्दगिर्द की समस्यामूलकता ने क्या भूमिका अदा की?

उत्तर : विडम्बना यह है कि, लगभग उतनी ही जितनी कि नीत्शे, ब्लैंशो और बटैय के कारण हुई। एक भाग यह प्रश्न उठा रहा था कि विज्ञान का इतिहास किस हद तक अपनी तर्कसंगतता को चुनौती दे सकता है, अपनी सीमाओं को प्रकट कर सकता है या बाह्य कारकों से सम्बन्ध को रेखांकित कर सकता है। ऐसे कौन से आकस्मिक प्रभाव हैं जो कि विज्ञान में दर्ज होते हैं, यह जानते हुए कि विज्ञान का एक इतिहास है और वह एक 'इतिहास–नियत' समाज में विकसित होता है? और दूसरे प्रश्न भी उठते हैं। क्या विज्ञान का एक तर्कसंगत इतिहास हो सकता है? क्या बोधगम्यता के एक सिद्धान्त को पाया जा सकता है जो विभिन्न चिंतन प्रक्रिया में उतार–चढ़ावों की व्याख्या कर सके और इसके अलावा, कुछ मसलों में, उन तर्कहीन तत्वों की भी व्याख्या कर सके जो कि विज्ञान के इतिहास में कहीं न कहीं से रेंग आते हैं?

अगर बड़े पैमाने पर कहा जाये तो, ये वे प्रश्न थे जो कि मार्क्सवाद और घटना–क्रिया–विज्ञान दोनों में उठाए गए थे। मेरे लिए, हालाँकि, प्रश्न थोड़ी सी अलग भंगिमा में उठाए गए थे। मैं मानता हूँ कि तर्कसंगतता के इतिहास के बारे में सोचना भर ही काफी नहीं है, बल्कि हमें स्वयं 'सत्य' के इतिहास के बारे में सोचना होगा। यानि कि, बजाय विज्ञान से यह पूछने के कि किस सीमा तक विज्ञान के स्वयं के इतिहास ने उसे 'सत्य' के निकट पहुंचाया है (या सत्य तक पहुँचने से रोका है), क्या यह आवश्यक नहीं है कि, स्वयं को यह बताया जाए कि सत्य आख्यान के उस कतिपय संबंध में निहित है जो आख्यान, ज्ञान स्वयं के साथ बनाए रखता है, और सत्य से यह भी पूछा जाए कि क्या वह संबंध ही अपने आप में एक इतिहास नहीं है, या उस संबंध का कोई इतिहास है?

जो मुझे अद्भुत लगा, वह यह कि नीत्शे के लिए तर्क संगतता– फिर भले ही वह विज्ञान की हो, व्यवहार की हो, या फिर किसी आख्यान की हो– को उस 'सत्य' से कतई नहीं मापा जा

सकता जो कि विज्ञान, आख्यान या वह अभ्यास उत्पन्न करता है। 'सत्य' स्वयं ही आख्यान के इतिहास का अंग बन जाता है और किसी भी अभ्यास या आख्यान का भीतरी प्रभाव बन जाता है।

प्रश्न : नीत्शे के, 'सत्य के इतिहास' और 'मानवीय सिद्धान्त की सीमाओं' पर आख्यान, निश्चित रूप से पारंपरिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण की तुलना और परिप्रेक्ष्य के परिवर्तन और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस तथ्य को देखते हुए कि वे पारंपरिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधारों पर, 'ज्ञान के असत्य' की घोषणा करते हुए नकारते हैं। परंतु मैं चाहूँगा कि आप यह बताएं कि आप किस तरह विज्ञान की उत्पत्ति के विश्लेषण को 'सीमित–अनुभव' या 'अनुभव' को रूपान्तरण के रूप में सम्बद्ध करने लगे?

उत्तर : क्या ऐसा नहीं हो सकता कि विज्ञान भी मूल रूप से एक 'अनुभव' की तरह विश्लेषित हो, यानि कि एक ऐसा संबंध जिसमें 'कर्ता' उस अनुभव के द्वारा रूपांतरित हो जाता है। अगर दूसरे शब्दों में कहें तो वैज्ञानिक अभ्यास, विज्ञान के आदर्श विषय के रूप में साथ ही ज्ञान के प्रयोजन के रूप में भी कार्य करे। और क्या ऐसा संभव नहीं कि विज्ञान का ऐतिहासिक मूल उस पारस्परिक, कर्ता की उत्पत्ति और ज्ञान के प्रयोजन में निहित हो। इस तरीके से सत्य का कौन सा प्रभाव उत्पन्न होगा? इसका अभिप्राय यह होगा कि सिर्फ 'एक' सत्य ही नहीं है– इसका यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि यह इतिहास 'अतार्किक' है या विज्ञान 'भ्रामक' है। बल्कि, इस के ठीक विपरीत, यह एक समष्टिगत तार्किक अनुभवों की एक श्रृंखला जो कि उपयुक्त ढंग से, चिह्नित किए जा सकने वाले नियमों के समूह के अनुरूप है, और उनके वास्तविक और विचारणीय इतिहास की उपस्थिति की पुष्टि करता है और परिणामतः ज्ञात कर्ता और ज्ञातव्य कर्ता का गठन करता है।

मुझे लगा कि इस प्रक्रिया को समझने के लिए, सर्वोत्तम यह होगा कि मैं उन नवीनतम, अनौपचारिक विज्ञानों का अध्ययन करूँ जो कि अभी ही स्थापित हुए हैं और जो कि इस सद्य स्थापना के कारण अपने उत्स और उसकी तात्कालिक आग्रहों के निकट हैं– एक तरह से उस प्रकार का विज्ञान जिसका वैज्ञानिक चरित्र अत्यधिक अनिश्चितता के साथ प्रकट होता है और जो 'वह' समझने का प्रयास करता है जो कि तर्कसंगतता के क्षेत्र में प्रविष्टि पाने के लिए अपने न्यूनतम रूप से अनुकूल है। 'पागलपन' विषय के साथ यही बात थी। यह समझने का मुद्दा था कि किस तरह पश्चिम जगत में, सिर्फ अठारहवीं शताब्दी से, पागलपन एक वैज्ञानिक अनुसंधान और विश्लेषण की एक ठोस वस्तु बनने में सफल हो गया, जबकि हमारे पास इस समय के पूर्व के चिकित्सकीय आलेख उपलब्ध हैं जो कि कुछ संक्षिप्त अध्यायों में, मनोरोगों की बात करते हैं। यहाँ पर हम यह प्रदर्शित कर सकते हैं कि जिस तरह यह 'वस्तु', पागलपन, रूप ले रही थी, ठीक उसी समय पागलपन को समझने की 'विषयवस्तु' की रूपरेखा भर बन रही थी। पागलपन के एक अध्ययन वस्तु के रूप में गठन के साथ ही साथ एक 'तर्कसंगत' विषयवस्तु का भी गठन हो रहा था जो कि पागलपन के बारे में जानकार थी और उसे समझती थी। 'मैडनेस एंड सिविलाइजेशन' में मैंने इसी प्रकार के समष्टिगत, संख्या बहुल अनुभवों को जिन्होंने सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच आकार लिया, को समझने की चेष्टा की है और प्रकारांतर से यह उस पारस्परिक क्रिया को समझने की चेष्टा भी की है जो कि एक तार्किक मानव, जो कि पागलपन को पहचान सकता है और उसे समझ सकता

है, के अस्तित्व में आने और एक रूप में पागलपन स्वयं को एक समझ सकने जाने वाले और निश्चित वस्तु के मध्य होती है।

प्रश्न : मुझे ऐसा लगता है कि 'तर्क' और 'अतर्क' के मध्य, विभाजन और विरोध को चिह्नित करने वाला संस्थापक कृत्य, जिसके कि पाश्चात्य संस्कृति की नियति के लिए परिणाम हुए हैं, जिनका की आपने स्वयं विश्लेषण किया है, वह, ऐतिहासिक विकास के लिए, या आधुनिक 'तर्क' के इतिहास के विकास के लिए, एक प्रकार के आवश्यक प्रारम्भिक अवस्था के रूप में दिखता है। क्या यह 'सीमित–अनुभव', जो कि इतिहास की संभावना प्रकट करता है, स्वयं में ही, इतिहास से बाह्य एक 'अकालिक आयाम' की निर्मिति नहीं करता है?

उत्तर : यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मेरे रचना–कर्म ने, 'पागलपन' की एक प्रकार के 'अनुष्ठान' के रूप में निर्मिति नहीं की। और ना ही वह किसी प्रकार का 'तर्क–हीन इतिहास' था। बल्कि, इसके विपरीत, मैं यह दर्शाना चाहता था कि किस तरह यह अनुभव जो कि 'पागलपन' का विषय जो कि स्वयं को जानता है के साथ मिलकर, एक ऐसी 'वस्तु' के रूप में गठन करता है– जिसे पूरी तरह से तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि वह कुछ सर्वज्ञात ऐतिहासिक प्रक्रियाओं, जैसे कि एक प्रकार के, नागरीकरण के कालखंड के तदनुरूप, एक विशिष्ट आर्थिक और सामाजिक संदर्भ में, कारावास की प्रथाओं से जुड़े हुए, एक सामान्यीकरण करने वाले समाज का जन्म, या जैसे, एक गतिमान और विस्तृत आबादी, जिन्हें कि अर्थव्यवस्था और राज्य की नई आवश्यकताएँ, सहन करने में असमर्थ थीं, के अस्तित्व में आने के साथ, पूंजीवाद का जन्म, जैसी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से सम्बद्ध तो नहीं है।

अतः मैंने इतिहास लिखने का प्रयास किया, कदाचित, ज्ञान के गठन का, वस्तुनिष्ठता के नवीन संबंध का, या कहें तो ऐसे 'कुछ' का जिसे 'पागलपन का सत्य' कहा जा सके, के एक अत्यंत तर्क–संगत इतिहास को लिखने का प्रयास किया।

निश्चित रूप से, इसका यह अर्थ नहीं कि, इस नवीन प्रकार के ज्ञान का प्रयोग करके, लोग वास्तव में, उन मानदंडों को सिद्ध कर सकते थे जो कि 'पागलपन' को अपनी 'सत्यता' में प्रकट कर सके। बल्कि, इसके उलट, उन्होंने 'पागलपन' के 'सत्य' के अनुभव को संगठित किया, जो कि एक प्रभावपूर्ण ज्ञान की संभावना से जुड़ा हुआ था। और उस विषय–वस्तु को आकार दिया जिससे ज्ञान को पहचाना जा सकता है और जाना जाता है।

प्रश्न : क्या आप फ्रांस से बाहर अधिक रहे?

उत्तर : हाँ, कई वर्षों तक। मैंने, विदेश में, वारसा, हैम्बर्ग, और उप्सला के विश्वविद्यालयों में, एक सहायक के रूप में, और एक व्याख्याता के रूप में, काम किया। यह अल्जीरिया के युद्ध के दौरान हुआ, जिसे मैंने, कुछ हद तक एक प्रवासी की तरह अनुभव किया। और चूँकि मैंने, उन घटनाओं को एक प्रवासी की तरह देखा, अतः मेरे लिए उन घटनाओं के अनौचित्य को पकड़ना, और साथ ही साथ, उस युद्ध के असंभावी परिणाम को स्पष्टतः देखना, अत्यंत सरल था। स्पष्टतः, मैं उस युद्ध के विरोध में था। परंतु, बाहर होने से और, मेरे देश में, जो भी कुछ घट रहा था, उसे प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं करने से– हालाँकि, एक खास तरह की स्पष्टता तो सरलता से आ गई– मुझे विरोध के लिए, अत्यधिक साहस नहीं दर्शाना पड़ा। मैंने आधुनिक फ्रांस के एक महत्त्वपूर्ण अनुभव में व्यक्तिगत रूप से भागीदारी नहीं की।

जब मैं वापस लौटा, तब मैंने 'मैडनेस एंड सिविलाईजेशन' पुस्तक जो कि एक प्रकार से मेरे उन वर्षों के प्रत्यक्ष अनुभवों को प्रतिध्वनित करती है, का लेखन समाप्त ही किया था। जैसे, मैं स्वीडन के समाज के बारे में कह सकता हूँ कि वह एक अति–संरक्षित, अति चिकित्सा–प्रधान, समाज है जिसकी कि सारी सामाजिक विपदाओं को, सूक्ष्म और चतुर तंत्रों के द्वारा, एक अर्थ में, न्यून कर दिया गया है, या हम देखें कि पोलिश समाज के बारे में यह कहा जा सकता है कि, उस समाज की कारावास की तंत्र प्रणाली एक दूसरी ही किस्म की है। बाद के वर्षों में, पाश्चात्य समाज के लिए, समाज के वे दो प्रकार, एक तरह की मनोग्रन्थि बन गए। परंतु, ऐसी चिंताएँ, युद्ध की व्यस्तताओं और उपनिवेशवाद के युग के अंत से उत्पन्न हुई समस्याओं में डूबे हुए फ्रांस के लिए, फिर भी अमूर्त थी। फ्रांस की वास्तविकता से इस विलक्षण अनासक्ति से उपजने के कारण, 'मैडनेस एंड सिविलाईजेशन' तुरंत ही, बार्थ, ब्लैंशो और क्लौसोवस्की के द्वारा, अनुकूल रूप से स्वीकृत की गई। जबकि चिकित्सकों और मनश्चिकित्सकों के मध्य, प्रतिक्रियाएँ भिन्न थीं। कुछेक ने, जो मार्क्सवादी या उदारवादी विचारधारा की ओर उन्मुख थे, जैसे, लूसियों बोनाफी ने, थोड़ी बहुत रुचि दिखाई, परंतु, बाकियों ने, जो कि अत्यधिक रूढ़िवादी थे, उसे अस्वीकार कर दिया। परंतु, जैसा कि मैंने कहा, कुल मिलाकर, मेरे काम की अनदेखी ही की गई, बुद्धिजीवियों की ओर से एक चुप्पी और उदासीनता ही थी।

प्रश्न : उस रवैये के प्रति, आपकी क्या प्रतिक्रिया थी? एक अल्प समय के पश्चात, 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' को, जो कि उसके तर्कों से सहमत नहीं थे, उन लोगों के द्वारा भी, एक प्रथम श्रेणी की रचना के रूप में स्वीकार किया गया था। आप प्रारम्भ की उस उदासीनता की व्याख्या कैसे करते हैं?

उत्तर : मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं थोड़ा अचंभित था, परंतु मैं अनुचित था। क्योंकि, फ्रांस का बौद्धिक परिवेश, अभी–अभी ही कुछ भिन्न प्रकार के अनुभवों से गुजरा था। वहाँ मार्क्सवाद, विज्ञान, और विचारधाराओं की बहसों का बोलबाला था। मेरा मानना है कि 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' के प्रति ग्रहनशीलता की न्यूनता की कुछ इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है। सर्वप्रथम, ऐसे समय में जब अधिकांश लोगों का ध्यान सैद्धांतिकी या सैद्धान्तिक बहसों पर केन्द्रित था, यह एक ऐतिहासिक अनुसंधान की कृति थी। दूसरे, मानसिक रोगों की चिकित्सा, मनोचिकित्सा जैसे क्षेत्र, उस समय चलने वाली बहसों की तुलना में 'सीमांत' समझे जाते थे, और फिर, अंततः, क्या 'पागल' और 'पागलपन', किसी ऐसे कुछ का प्रतिनिधित्व नहीं करता जो कि समाज के सीमाओं पर स्थित है, एक प्रकार की बाह्य सीमा? मेरे विचार में, उन लोगों की, जिनकी अति–विकसित राजनीतिक चिंताएँ थीं, और कहना न होगा कि उनकी उदासीनता के लगभग ये ही कुछ कारण थे। मैं आश्चर्यचकित था, मुझे लगा कि उस पुस्तक में लोगों की रुचि की चीजें होंगी, क्योंकि मैंने उस पुस्तक में यह देखने का प्रयास किया कि, किस तरह एक विमर्श, (यानि मनश्चिकित्सा), जो कि स्वयं के 'वैज्ञानिक' होने का दावा करता है, मूलतः ऐतिहासिक परिस्थितियों के द्वारा निर्मित है। मैंने, उत्पादन की प्रणालियों के उन रूपांतरणों से, जिन्होंने, जनसामान्य को इस तरह प्रभावित किया कि, जिससे न केवल विपन्न होने की समस्याएँ, बल्कि, दरिद्र, रुग्ण और पागल होने की विभिन्न श्रेणियों के अंतरभेद भी उभर कर आ गए, और उसी के आधार पर, मनश्चिकित्सा के इतिहास को लिखने का प्रयास किया। मैं आश्वस्त था, कि यह सब मार्क्सवादियों के लिए निश्चित रूप से आकर्षक होगा।

और जबकि वहाँ पर पूर्ण चुप्पी थी।

प्रश्न : आपके विचार में, बाद में, आपकी पुस्तक में लोगों की बढ़ती हुई रुचि और उसके साथ के तीव्र वाद–विवाद का क्या कारण था?

उत्तर : अब जाकर मैं, संभवतः, ऐसा कैसे हुआ इस तथ्य को सूत्रबद्ध कर सकता हूँ। जब सन 1968 की घटनाएँ आकार लेने लगीं और अंत में विस्फोटक हो गईं, तब लोगों की प्रतिक्रियाओं और रवैयों में बदलाव और कट्टरता आने लगी। और तब 'पागलपन' की, कारावास की, और समाज के प्रसामान्यीकरण की समस्याएँ, लोगों की, विशेष कर चरम वामपंथी दायरों का, एक तरह से कहें कि, 'स्नेहभाजन' बनने लगीं। जो लोग, जो कुछ भी उस समय 'पक' रहा था, से दूरी बनाना चाहते थे, उन्होंने अपना लक्ष्य मेरी पुस्तक को बनाया, यह दर्शाते हुए कि उसका विश्लेषण कितना आदर्शवादी है, और किस तरह वह समस्याओं के मूल में जाने में असमर्थ रही है, और इस तरह, उस पुस्तक के प्रकाशन के आठ वर्ष के पश्चात, ईवोल्यूशन साईकियाट्रिक जो कि फ्रांस के मनश्चिकित्सकों का एक महत्त्वपूर्ण समूह है, ने तुलूज (फ्रांस का एक शहर–अनु.) में, अपना एक पूरा सम्मेलन, 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' को बहिष्कृत करने के उद्यम में, समर्पित करने का निर्णय लिया। यहाँ तक कि लूसियों, बोनाफी ने भी, जो कि मार्क्सवादी मनश्चिकित्सक थे, और जिन्होंने मेरी पुस्तक में, जब वह प्रकाशित हुई थी, रुचि दिखाई थी– सन 1968 में, उसे एक 'आदर्शवादी पुस्तक' घोषित करते हुए, उसकी निंदा की थी। वाद–विवादों के इस सम्मिलन से, और लोगों की कुछ विषयों में रुचि के पुनर्जागरण से, 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' ने एक प्रकार के समकाल की प्रतिष्ठा अर्जित की।

प्रश्न : आपके कार्य में लोगों की रुचि के पुनर्जागृत होने से, मनश्चिकित्सकीय दायरों में इसका क्या प्रभाव पड़ा? जहाँ तक मुझे याद आता है, उन वर्षों में, एक आंदोलन का विस्तार हो रहा था जो कि, व्यापक रूप से समकालीन सांस्कृतिक व्यवस्था के साथ–साथ परंपरागत मनश्चिकित्सा को भी चुनौती दे रहा था।

उत्तर : कुछ हद तक द्वितीय विश्व युद्ध के पहले और विशेष तौर पर युद्ध के बाद, मनश्चिकित्सकीय अध्ययनों के पुनर्मूल्यांकन का एक आंदोलन, जिसका प्रारम्भ स्वयं मनश्चिकित्सकों के मध्य हुआ था, प्रारम्भ हुआ था। सन 1945, के पश्चात, उन युवा मनश्चिकित्सकों ने अपने विश्लेषणों में, अपने चिंतनों में, और अपनी परियोजनाओं में, जिस 'कुछ' का सूत्रपात किया था, वह जिसे कि 'प्रति–मनश्चिकित्सा' कहा जाता है, वैसे 'कुछ' का, 1950 के दशक के पूर्वार्ध में फ्रांस में आविर्भाव हो सकता था। चूँकि, ऐसा कुछ नहीं हो पाया, तो मेरे विचार से उसके कारण कुछ इस प्रकार से हैं। प्रथम तो, वे सारे मनश्चिकित्सक जिनकी कि मैंने अभी चर्चा की, वे, अगर पूर्णरूपेण मार्क्सवादी नहीं थे तो, कम से कम मार्क्सवाद के अत्यंत निकट तो थे ही, और इसलिए उनका ध्यानाकर्षण, सोवियत संघ में जो कुछ हो रहा था, उसकी ओर हो रहा था और फिर वहाँ से उनका ध्यान पावलोव की ओर, और 'संवेदनशीलता' की ओर, और 'भौतिकवादी मनश्चिकित्सा' की ओर, तथा सैद्धान्तिक और वैज्ञानिक समस्याओं के एक पूरे समूह की ओर, जो कि उन्हें कहीं नहीं ले जाता, की ओर भी आकर्षित हो रहा था। उनमें से एक तो, सन 1954–55 में, सोवियत संघ में, अध्ययन के लिए गया भी, परंतु, उसने वहाँ से लौटने के बाद, अपने वहाँ के अनुभवों के बारे में कुछ लिखा या बोला हो, यह मुझे ज्ञात नहीं है। इसलिए मेरे

विचार में– और इसे मैं बिना किसी आक्रामक आशय के कह रहा हूँ– मार्क्सवादी परिवेश, शनैः–शनैः उन्हें एक विकट स्थिति की ओर ले गया। दूसरा, मेरा यह मानना भी है कि, अन्य कई मनश्चिकित्सकों को– चूँकि उनमें से अधिकतर राज्य के कर्मचारी थे, उनकी स्थिति के कारण –उन्हें मनश्चिकित्सा पर, एक बचाव के श्रम–संगठनों के कोण से, प्रश्न उठाने के लिए लाया गया। अतः, जो व्यक्ति, अपनी रुचियों, अपनी क्षमताओं, और कई विषयों के प्रति अपने खुलेपन के आधार पर, मनश्चिकित्सा की समस्याओं का समाधान ढूंढ सकते थे, उन्हें अंततः गतिरोधों में धकेल दिया गया। सन साठ के दशक में, 'प्रति–मनश्चिकित्सा' के विस्फोट के सामने, उनका रवैया रद्द करने का था, जो कि उत्तरोत्तर सुस्पष्ट होता गया और जिसने बाद में एक आक्रामक मोड़ भी ले लिया। और तब ऐसे में मेरी पुस्तक की निंदा ऐसे की गई, जैसे कि वह शैतान के प्रवचन हों। मैं जानता हूँ कि आज भी कुछ 'परिवेशों' में,'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' की चर्चा एक तरह की असामान्य घृणा के साथ की जाती है।

प्रश्न : आपके लेखन द्वारा उकसाये हुए, वाद–विवादों के बारे में सोचते हुए, मैं उन कुछ लोगों को, जो कि सन साठ में संरचनावाद को लेकर चली उत्तेजक बहसों के बाद आए, को याद करना चाहूँगा। उस कालखंड में, एक तनावपूर्ण बहस चली थी, जिसमें कि आप पर केन्द्रित कुछ कटु टिप्पणियाँ भी थीं, उदाहरण के लिए, सार्त्र की ओर से। परंतु, पहले मैं आपके विचार के विषय में किए गए कुछ अन्य मूल्यांकनों की याद दिलाना चाहूँगा। रॉजर गैराडे ने 'अमूर्त संरचनावाद' की बात की, ज्याँ पियाजे ने 'संरचना विहीन संरचनावाद' की, मिकेल ड्युफ्रेन ने 'नव प्रत्यक्षवाद' की, सिल्वी ली बों ने 'निराशाजनक प्रत्यक्षवाद', मिशेल अमियों ने 'सांस्कृतिक सापेक्षतावाद' की बात की, और इसी तरह और भी कई बातें हुईं। 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' के प्रकाशन के पश्चात के कालखंड में, अवलोकनात्मक टिप्पणियों का एक समूह और उसके साथ ही साथ, आपके तर्कों की आलोचना, विभिन्न, यहाँ तक कि विपरीत शब्दावलियों के मिलन बिन्दु के रूप में, सामने आई। परंतु, फ्रांस की संस्कृति का यह अति–उत्तेजित वातावरण, संभवतः, 'संरचनावाद' को लेकर चलने वाले एक विस्तृत वाद–विवाद पर आधारित था। आप, आज उन टिप्पणियों को किस रूप में देखते हैं, और थोड़े व्यापक रूप में, वह वाद–विवाद, किस बारे में था?

उत्तर : इस 'संरचनावाद' के मसले को सुलझाना अत्यधिक कठिन है, परंतु, फिर भी हमारे लिए एक प्रयास करना रोचक होगा। चलिये, हम वाद–विवादों के उस नाटकीय और यदा–कदा विकृत विस्फोट को, थोड़ी देर के लिए, अलग रख देते हैं। मैं, 'विकृत' की श्रेणी में, सबसे ऊपर सार्त्र के उस जग–प्रसिद्ध कथन को रखना चाहूँगा, जिसमें उन्होंने मुझे 'बुर्जुआजी की अंतिम आदर्शवादी प्राचीर' कहा था। मैं कहना चाहूँगा कि निश्चित रूप से वह एक दुर्भाग्यशाली बुर्जुआ रही होगी। क्योंकि अगर उसके पास मेरे जैसी कोई 'प्राचीर' होती, तो वह निश्चित रूप से सत्ता पर से अपनी पकड़ बहुत पहले ही खो चुकी होती!

बहरहाल, हमें यह प्रश्न पूछने की आवश्यकता है, कि 'संरचनावाद' में ऐसा क्या था, जो कि इतना कष्टप्रद था। मेरे विचार से, लोग यथोचित रूप में तार्किक ही होते हैं, अतः जब वे इस बात पर नियंत्रण खो देते हैं कि, वे क्या कह रहे हैं, तब निश्चित रूप से कोई न कोई गंभीर मुद्दा होना चाहिए। मेरे पास कुछ परिकल्पनाएँ हैं। चलिये, सर्वप्रथम, एक उक्ति से प्रारम्भ करें।

साठ के दशक के मध्य में, 'संरचनावादी' शब्द, उन व्यक्तियों के संदर्भ में प्रयोग में लाया गया था, जिन्होंने, विभिन्न ऐसे अध्ययन किए थे – जो कि अपने आप में तो एक दूसरे से अत्यंत भिन्न थे, परंतु वे एक समन्वित तत्व प्रस्तुत करते थे : उन्होंने, दर्शन के उस एक प्रकार का, चिंतन और विश्लेषण के उस एक प्रकार का, अंत करने का प्रयास किया, या कम से कम उसे दरकिनार करने का प्रयास किया, जो कि मूलतः 'कर्ता' के प्राधान्य के अभिकथन पर केन्द्रित था। मार्क्सवाद, जो कि, उस समय अलगाव की भावना की अवधारणा के जिये गए अनुभव पर केन्द्रित, घटना–क्रिया–विज्ञानीय अस्तित्ववाद से, वशीभूत था, और मनोविज्ञान के उन सूत्रों से भी, जो कि प्रामाणिक मानवीय अनुभव रहे थे– जैसे कि, उदाहरण के लिए कहें कि, 'स्वत्व का अनुभव', के पक्ष में, अचेतन की अवधारणा को रद्द करते थे।

परंतु, मैं सोचता हूँ कि, इस खींचतान के पीछे, फिर भी एक गहरा जैसा 'कुछ' था, एक ऐसा इतिहास, जिस पर, उस समय, कभी अत्यधिक चिंतन नहीं किया गया। देखिये, दरअस्ल, 'संरचनावाद' की खोज, निश्चित रूप से, साठ के दशक के संरचनावादियों के द्वारा नहीं हुई थी, और इससे महत्वपूर्ण बिन्दु यह कि, यह एक फ्रांसीसी आविष्कार कतई नहीं था। इसका वास्तविक उत्स, दरअस्ल सन 1920 के दशक में, सोवियत संघ और मध्य योरप में हुए अध्ययनों की एक शृंखला में था। भाषा–विज्ञान, पुरा–कथाओं, और लोक–साहित्य आदि–आदि के क्षेत्रों में हुआ, वह वृहद सांस्कृतिक विस्तार, जो कि सन 1917 की रूसी क्रान्ति के पूर्व हुआ था, और जो कि एक प्रकार से उससे काफी हद तक मेल भी खाता था, वह, स्टालिनवादी 'स्टीम रोलर' द्वारा, एक दूसरी ओर, धकिया दिया गया था, यहाँ तक कि कुचल भी दिया गया था। इसके पश्चात, संरचनावादी संस्कृति, फ्रांस में, उन तंत्र जालों के द्वारा प्रचलन में आई, जो कि कमोबेश गुप्त थे, या कम–ज–कम अल्पज्ञात थे, उदाहरण के लिए, एवगेनी त्रुबेत्सकोय का स्वर–विज्ञान, क्लॉड–लीवाय स्ट्रास और ज्योर्जेस ड्यूमेजिल पर व्लादिमीर प्रोप्प का प्रभाव, और आदि–आदि। तो, मुझे ऐसा लगता है कि, ऐतिहासिक ज्ञान जैसा कुछ, जिससे कि हम अनभिज्ञ थे, उन कुछ फ्रांसीसी मार्क्सवादियों की उस उग्रता में उपस्थित था, जिससे उन्होंने साठ के दशक के संरचनावादियों का विरोध किया। वह 'ज्ञान' यह था कि 'संरचनावाद', 'स्टालिनवाद' का बड़ा सांस्कृतिक शिकार या पीड़ित रहा है, एक ऐसी संभावना जिसका कि मार्क्सवाद ने सामना नहीं किया।

प्रश्न : मैं यह कहूँगा कि, आप एक सांस्कृतिक प्रवाह को, 'पीड़ित या शिकार' बता कर, उसे विशेषाधिकार प्रदान कर रहे हैं। 'स्टालिनी स्टीम रोलर' ने, जैसा कि आप कहते हैं, 'संरचनावाद' को हाशिये पर नहीं धकियाया, बल्कि, उसने, सांस्कृतिक और विचारधारात्मक अभिव्यक्तियों और प्रवृत्तियों की एक पूरी शृंखला, जिन्हें कि अक्टोबर क्रान्ति ने प्रोत्साहन दिया था, के साथ भी ऐसा ही किया था। मैं नहीं सोचता कि हम इस स्तर पर काफी स्पष्ट भेद स्थापित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यहाँ तक कि मार्क्सवाद भी, उसके लचीलेपन और उसके खुलेपन को क्षति पहुंचाते हुए, एक सिद्धांतवादी कोष में बदल दिया गया था...

उत्तर : परंतु, इस रोचक तथ्य का, जो मैं आगे कहने जा रहा हूँ, का स्पष्टीकरण देना फिर भी आवश्यक है, वह तथ्य यह है कि सन साठ के दशक में, 'संरचनावाद' जैसी एक मूलतः विशेष घटना, कैसे इतने आवेशों को उकसा सकी? और क्यों लोग, बुद्धिजीवियों के एक दल को, जो

कि 'संरचनावादी' नहीं थे, या उन पर वह नाम चस्पां कर दिये जाने को रद्द करते थे, उन्हें 'संरचनावादियों' के रूप में परिभाषित कर दिये जाने पर जोर देते हैं? मेरा मानना यह है कि हम जब तक अपने विश्लेषण के गुरुत्वाकर्षण केंद्र की जगह नहीं बदलेंगे, तब तक हमें एक संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सकेगा। अगर, हम मसले की तह में जाएँ तो, पश्चिम योरप में 'संरचनावाद' की समस्या, दरअस्ल, और कुछ नहीं बल्कि, पूर्वी योरप के, देशों के समक्ष आई अत्यंत तत्ववादी समस्याओं का परिणाम है। इन सबसे सर्वोपरि, हमें, स्टालिनीकरण के विस्थापन के दौरान कई बुद्दिजीवियों, जैसे सोवियत, चेक, और आदि–आदि के द्वारा, कुछ सीमा तक राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त करने के और इसके साथ ही साथ स्वयं को आधिकारिक विचारधाराओं से मुक्त होने के प्रयासों को भी ध्यान में रखना होगा। इस विषय में, वे, निश्चित रूप से, सन 1920 के दशक की, उस 'गुप्त परंपरा' की ओर आकर्षित हो सकते हैं जिसके बारे में मैंने पहले चर्चा की और जिसकी दुगुनी महत्ता थी। पहला, यह नवाचार का एक बड़ा प्रकार था (रूपवाद, संरचनावाद और आदि–आदि), जो पूर्वी योरप के देश, पश्चिम की संस्कृति को प्रस्तुत कर सकता था दूसरा कि, यह संस्कृति, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अक्टोबर क्रान्ति से सम्बद्ध थी, और साथ ही साथ, इसके मुख्य प्रतिपादक उससे जुड़े हुए थे। तो, इस तरह से, यह स्वरूप उभरने लगता है, कि जब स्टालिनीकरण का विस्थापन प्रारम्भ हुआ, तब इन बुद्धिजीवियों ने, सांस्कृतिक रूप से प्रतिष्ठित उस परंपरा से, जिसे कि एक राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रतिक्रियावादी और पाश्चात्य होने का दोष नहीं दिया जा सकता था, से जुड़ कर, अपनी स्वायत्तता को पुनः पाने का प्रयास किया। यह क्रांतिकारी और पूर्वी था। अतः, इसलिए उन प्रवृत्तियों को पुनरुज्जीवित करने और उन्हें बौद्धिक और कलागत प्रचलन में लाने की मंशा हुई। मेरे विचार से, सोवियत सत्ताधारी, इस जोखिम से भली–भांति परिचित थे, और एक सीधी मुठभेड़ नहीं चाहते थे, वहीं दूसरी ओर, कई बौद्धिक शक्तियाँ, ऐसी ही मुठभेड़ होने का अनुमान लगा रही थीं।

मुझे ऐसा लगता है कि फ्रांस में जो कुछ घटा, वह कुछ हद तक, उसी सब का एक लापरवाह, अविचारित परिणाम था। उन घटकों को, जो लगभग मार्क्सवादी थे– फिर भले ही वे साम्यवादी हों या मार्क्सवाद से प्रभावित हों– यह अनुमान निश्चित तौर पर था कि, 'संरचनावाद' में, जिस तरह से उसको फ्रांस में अपनाया जाता था, उसमें ऐसा कुछ था, जो कि परंपरागत मार्क्सवादी संस्कृति के अवसान का आभास देता था। वाम के एक 'मार्क्सवाद विहीन' आयाम का जन्म होने को था। यही उन प्रतिक्रियाओं के लिए भी जिम्मेदार था, जिन्होंने, तुरंत ही, अनुसंधान के इन प्रकारों पर आदर्शवादी और तकनीकोन्मुखी होने का दोषारोपण कर दिया था। 'ल तों मॉदर्न' (ज्याँ पॉल सार्त्र की पत्रिका–अनु.) का 'रूपवाद' और 'संरचनावाद' के बारे में निर्णय, कट्टर स्टालिनवादियों या उन निर्णयों के समरूप था, जो कि ख्रुश्चेव के कालखंड में दिये जाते थे।

प्रश्न : मुझे ऐसा लगता है कि आप पुनः विषय से थोड़ा आगे जा रहे हैं, क्योंकि निर्णयों का साम्य, अपने आप में फिर भी, राजनीतिक तो छोड़िए, सांस्कृतिक स्थितियों का सम्मिलन ही नहीं कहा जा सकता...

उत्तर : मैं आपको दो किस्से सुनाना चाहूँगा। हालाँकि, मैं पहले किस्से, जिसे कि मुझे सन 1974 या

1975 में एक चेक निर्वासित ने सुनाया था, की प्रामाणिकता के बारे में उतना आश्वस्त नहीं हूँ। सन 1966 के अंत में, या सन 1967 के प्रारम्भ में, एक महान पाश्चात्य दार्शनिक को, प्राग में, एक व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया। चेक लोगों ने बड़ी बेसब्री से उनकी प्रतीक्षा की। यह प्राग वसंत (प्राग वसंत, भूतपूर्व चेकोस्लोवाकिया के इतिहास में, द्वीतीय विश्व युद्ध के बाद के, राजनीतिक उदारीकरण के उस कालखंड को दिया गया नाम है, जब चेकोस्लोवा किया भूतपूर्व सोवियत संघ के प्रभुत्व में था—अनु.) के फलने—फूलने के ठीक पहले के सांस्कृतिक और सामाजिक उत्साह का समय था, और वे उस कालखंड में आमंत्रित किए जाने वाले पहले महान गैर—साम्यवादी बुद्दिजीवी थे। लोगों की, उनसे यह अपेक्षा थी कि वे उन तरीकों पर चर्चा करेंगे, जिनसे पाश्चात्य योरप में प्रगतिशील विचार और परंपरागत मार्क्सवादी संस्कृति की भिन्नता का पता चलता था। परंतु, अपने व्याख्यान के प्रारम्भ से ही, इन दार्शनिक महोदय ने, बुद्धिजीवियों के उस समूह, 'संरचनावादियों', पर धावा बोल दिया, जो कि निस्संदेह 'पूँजी' की सेवा में थे और जिन्होंने महान मार्क्सवादी विचारधारात्मक परंपरा के विरुद्ध जाने का प्रयास किया था। वे कदाचित, यह आशा कर रहे थे कि इस प्रकार की— यानि व्यावहारिक मार्क्सवाद की— चर्चा से, वे चेक लोगों को संतुष्ट कर रहे हैं, परंतु, यथार्थ में वे, उस देश के बुद्धिजीवियों के द्वारा किए गए कार्य को दुर्बल कर रहे थे। और साथ ही साथ, वे चेक सत्ताधारियों को, 'संरचनावाद' पर, जिसे कि एक ऐसा दार्शनिक जो कि स्वयं साम्यवादी भी नहीं है, वह ही इसे एक प्रतिक्रियावादी और बूर्जूआजी विचारधारा मान रहा है, पर आक्रमण करने के लिए, एक असाधारण हथियार मुहैया करा रहे थे। यह सब घोर निराशाजनक था, जैसा कि आप समझ सकते हैं।

प्रकारान्तर से अब दूसरे किस्से के बारे में बात करें— जो कि स्वयं मुझसे सम्बद्ध है। यह सन 1967 की बात है, जब मुझे हंगरी में एक व्याख्यान—माला देने के लिए कहा गया था। मैंने, 'संरचनावाद' के बारे में, पश्चिम में उस समय हो रही बहसों की विषय—वस्तु का सुझाव दिया। जिन—जिन विषयों का मैंने प्रस्ताव रखा, वे सभी स्वीकार कर लिए गए। व्याख्यान—माला के सारे व्याख्यान विश्वविद्यालय के सभागृह में होने थे। परंतु, जब 'संरचनावाद' के बारे में मेरे व्याख्यान का समय आया, तब उस अवसर पर मुझे सूचित किया गया कि, व्याख्यान, रेक्टर के कार्यालय में होगा। मुझसे कहा गया कि चूँकि, यह बहुत महीन विषय है, अतः यह लोगों में उत्सुकता नहीं जगा पाएगा। मैं जानता था कि यह सरासर झूठ है। मैंने अपने युवा दुभाषिए से इसके बारे में पूछा, तो उसने उत्तर दिया : "दरअस्ल, तीन विषय हैं, जिनके बारे में आप विश्वविद्यालय में चर्चा नहीं कर सकते हैं, वे हैं नाजीवाद, मिकलोसहोर्ती का शासन, और संरचनावाद"। मैं यह सुन कर स्तब्ध रह गया। इस घटना से मुझे यह समझ में आया कि 'संरचनवाद' की समस्या, दरअस्ल, पूर्व की समस्या है और फ्रांस में इस विषय पर जो व्याकुल और गर्मागर्म बहसें हो रही थीं, वे मूलतः पूर्व योरप के देशों में संचालित हो रहे एक अत्यंत गंभीर, कड़े, और बहुतों के द्वारा ठीक से न समझे गए संघर्ष का प्रतिघात था।

प्रश्न : आप प्रतिघात की बात क्यों करते हैं? क्या फ्रांस में हुई सैद्धान्तिक बहसों की अपनी स्वयं की मौलिकता नहीं थी, जो कि 'संरचनावाद' के प्रश्न से कहीं आगे थी?

उत्तर : जिनका अभी मैंने जिक्र किया वह सब हमें, पश्चिम में 'संरचनावाद' के इर्द—गिर्द होने वाली बहसों की प्रकृति और तीव्रता को बेहतर समझने में मदद करता है। कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे

संबोधित किए गए थे : सैद्धान्तिक प्रश्नों को रखने का एक तरीका, जो कि विषय–केन्द्रित नहीं था, और विश्लेषण जो कि, मार्क्सवादी हुए बिना भी पूर्ण रूपेण तर्कसंगत था। यह एक प्रकार के सैद्धान्तिक चिंतन का जन्म था, जो कि महान मार्क्सवादी आज्ञापालन से विलग था। जो मूल्य और संघर्ष पूर्व योरप, में प्रवृत्त थे, वे पश्चिम में जो हो रहा था, उस पर स्थानांतरित कर दिये गए थे।

प्रश्न : मैं इस 'स्थानांतरण' का अर्थ नहीं समझ पाया। 'संरचनात्मक प्रविधि' के बारे में जिज्ञासा का पुनर्नवीनीकरण, और पूर्वी योरपीय देशों में उसकी परंपरा का, फ्रांस के संरचनावादियों के द्वारा अभिव्यक्त, प्रति–मानववादी सैद्धान्तिक दिशा से कोई लेना–देना नहीं था...

उत्तर : जो पूर्व में हुआ और जो पश्चिम में हुआ, वह एक ही प्रकार की घटना थी। उसमें यह दाँव पर लगा हुआ था। चिंतन और विश्लेषण के रूप, कितनी दूर जाकर गठित किए जा सकते हैं, जो कि ना तो अतार्किक हों, और ना ही दक्षिण पंथी, परंतु फिर भी मार्क्सवादी मत से बंधे हुए ना हों। यही वह समस्यात्मक प्रश्न था, जिसे वे, जो इससे भयाक्रान्त थे, सर्व–ग्रासी, भ्रामक शब्द 'संरचनावाद' कह कर निंदा करते थे। और वह शब्द क्यों परिदृश्य में आया? क्योंकि, 'संरचनावाद' पर बहस, सोवियत संघ और पूर्वी योरपीय देशों में केंद्र में थी। वहाँ पर भी, प्रश्न, यह निर्धारित करने का था कि, एक तार्किक, वैज्ञानिक, और सैद्धान्तिक शोध का गठन किस सीमा तक किया जा सकता है, जो कि, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों और स्वमताभिमान से बाहर हो।

यह पूर्व और पश्चिम में एक जैसा घटा, परंतु, एक भेद के साथ, वह यह कि पश्चिम में यह कड़े अर्थों में, 'संरचनावाद' का मुद्दा नहीं था, जबकि पूर्वी देशों में, यह सिर्फ 'संरचनावाद' ही था, जो छुपा हुआ था, और अभी भी छुपाया जाता रहा है। यह हमें उन कुछ भर्त्सनाओं को समझने में सहायक होता है...

प्रश्न : परंतु, उत्सुकतावश, लुई अल्थुसर भी उन शापों के लक्ष्य रहे हैं, हालाँकि, उनका शोध तो पूर्णरूपेण मार्क्सवाद के साथ पहचाना जाता था, और यहाँ तक कि उसके सबसे विश्वसनीय भाष्य होने का दावा किया जाता था। तो, आप इस बात की, किस तरह व्याख्या करेंगे कि एक ओर तो मार्क्सवादी कृति जैसे 'रीडिंग कैपिटल' और दूसरी ओर आपकी पुस्तक 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स', जो कि दोनों साठ के दशक के मध्य में प्रकाशित हुईं, और जिनका बिलकुल ही भिन्न अभिविन्यास है, एक ही 'प्रति–संरचनावादी' वाद–विवाद के लक्ष्य कैसे बन गए?

उत्तर : मैं, अल्थुसर की ओर से तो आपको ठीक–ठीक उत्तर नहीं दे सकता। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, वे, मेरी दूसरी पुस्तक 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' पर आक्रमण करके मुझसे 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' की क्षतिपूर्ति करवाना चाहते थे। 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' ने एक व्याकुलता प्रस्तावित की थी : उस पुस्तक ने, ध्यान, महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों से हटाकर, गौण विषयों पर केन्द्रित कर दिया था। बजाय, मार्क्स के बारे में बात करने के, उस पुस्तक ने छोटे–छोटे मुद्दों जैसे कि, पागलखाने के कार्य का विश्लेषण किया। वह 'कांड' जो कि पहले घटना चाहिए था, वह तब घटा, जब 1966 में 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' प्रकाशित हुईं, और उसके बारे में कहा गया कि वह विशुद्ध, रूपात्मक और अमूर्त पाठ है, ये वे बातें हैं जो लोग, पागलपन से संबन्धित, मेरी पहली पुस्तक के बारे में नहीं कह पाये। अगर उन्होंने, सचमुच में 'मैडनेस एण्ड

सिविलाईजेशन' और इसके बाद आने वाली पुस्तक 'द बर्थ ऑफ अ क्लीनिक' पर ध्यान दिया होता, तो उन्होंने पाया होता कि 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' मेरे लिए सब कुछ एकत्रित करने वाली पुस्तक का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। वह पुस्तक, कुछ प्रश्नों के उत्तर देने के किसी एक आयाम को अधिकृत करती है। मैंने अपनी सारी पद्धतियाँ और चिंताएँ सिर्फ उसमें ही नहीं डाली हैं। इसके अलावा, उस पुस्तक के अंत, मैं पुनः–पुनः– इस बात की पुष्टि करता हूँ कि, यह विश्लेषण, 'ज्ञान' और 'ज्ञात' के रूपान्तरण के स्तर पर किया गया है, और यह भी कि, 'कारणत्व' का एक सम्पूर्ण अध्ययन और एक गहन स्पष्टीकरण अभी बाकी है। अगर मेरे आलोचकों ने, मेरी पिछली कृतियाँ पढ़ी होतीं, और उन्होंने उन पिछली कृतियों को भूलने पर जोर नहीं दिया होता तो, वे यह पहचान पाते कि, उन पुस्तकों में, मैं पहले ही कुछ स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर चुका हूँ। यह एक पुरातन प्रथा है, कम से कम फ्रांस में तो कि, लोग किसी पुस्तक को ऐसे पढ़ते हैं कि, जैसे वह अपने आप में पूर्ण हो, अपने आप में एकल इकाई हो। जबकि, मैं अपनी पुस्तकें एक श्रृंखला की तरह लिखता हूँ पहली पुस्तक कुछ प्रश्नों को अनुत्तरित छोड़ देती है, जिन पर दूसरी पुस्तक आधारित होती है और तीसरी की दरकार करती है, और इन सबके बीच में कोई सीधी निरंतरता नहीं होती है। वे पुस्तकें, एक दूसरे में गुत्थम–गुत्था और परस्पर–व्यापक होती हैं।

प्रश्न : तो आप पद्धतियों की एक पुस्तक, जैसे कि 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' को पागलपन और 'नैदानिक चिकित्सा' की पुस्तकों, जो कि अन्वेषण की पुस्तकें हैं, से जोड़ते हैं। एक व्यवस्थित प्रकार के सर्वेक्षण के लिए आपको किसने प्रेरित किया और 'ज्ञान', यानि कि नियमों के सूत्र–समूह, जो किसी सांस्कृतिक या ऐतिहासिक कालखंड में, विवाद पैदा करने वाली कवायद का नियमन करते हैं, का उद्धरण कैसे किया?

उत्तर : 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' में मैंने, अनुभवजन्य ज्ञान की व्यवस्था में, प्रक्रियाओं का, वर्गीकरण का, सारणीयन का, और समन्वय का, एक विश्लेषण विकसित किया। यह एक ऐसा प्रश्न था, जिसे मैंने पहले ही, जब यह मेरे सामने उठा था, चिह्नित कर लिया था, जब मैं, 'बर्थ ऑफ अ क्लीनिक', जो कि जीव–विज्ञान, चिकित्सा और प्राकृतिक–विज्ञान के प्रश्नों से सरोकार रखती है, पर काम कर रहा था। परंतु, जब मैं 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' पर काम कर रहा था, मैं चिकित्सकीय वर्गीकरण के प्रश्नों का सामना पहले ही कर चुका था, यह देखते हुए कि एक समरूप कार्यप्रणाली का, मानसिक रोगों के क्षेत्र में पहले से ही प्रयोग प्रारम्भ हो चुका है। प्रश्न, शतरंज के मोहरों की तरह विस्थापित होते रहे, एक चौखाने से दूसरे चौखाने पर धकियाए गए, कभी आड़े–तिरछे, तो कभी छलांग लगा कर, परंतु हमेशा उसी बिसात पर। इसीलिए मैंने, उन जटिल प्रतिमानों को, जो कि मुझे मेरे शोध में प्रत्यक्ष दिख रहे थे, उन्हें एक पाठ में सुव्यवस्थित करने का, निर्णय लिया। इसने 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' को जन्म दिया, एक प्राविधिक पुस्तक जो कि, मूलतः विज्ञान के इतिहास के कारीगरों को संबोधित करके लिखी गई थी। मैंने उसे ज्योर्जेस कॉंगिल्हेम से चर्चा के बाद, मूलतः शोधार्थियों के लिए लिखा था। परंतु, सच बात तो यह है कि, ये वे प्रश्न नहीं थे जिनमें कि मेरी रुचि थी। मैं, 'सीमित–अनुभवों' के बारे में पहले ही चर्चा कर चुका हूँ, और यह वह विषय है जो मुझे वास्तव में आकर्षित करता है, मेरे लिए, पागलपन, यौनिकता, और अपराध अधिक गहन विषय हैं। वहीं इसके विपरीत, 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' मेरे लिए एक प्रकार से एक औपचारिक अभ्यास भर था।

प्रश्न : निश्चित रूप से, आप मुझसे यह उम्मीद तो नहीं करते हैं कि, मैं यह मान लूँ कि 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' का आपके लिए कोई महत्त्व नहीं था। उस कृति में आपने, अपनी वैचारिकी में, एक महत्त्वपूर्ण कदम आगे उठाया। वह यह कि अन्वेषण का क्षेत्र, सिर्फ वह अनुभव ही नहीं था जिसने कि पागलपन को स्थापित किया, बल्कि, संस्कृति और इतिहास के संयोजन का मापदण्ड था।

उत्तर : उस कृति में प्रस्तुत परिणामों से स्वयं को विलग करने के लिए मैं ऐसा नहीं कहता, परंतु, 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' वह पुस्तक नहीं है जो कि पूरी तरह मेरी है। यह उस अर्थ में एक सीमांत पुस्तक है, जो कि दूसरों में उत्साह उत्पन्न कर दे। परंतु, फिर भी विचित्र रूप से, द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' ही वह पुस्तक है, जिसने जन–साधारण के मध्य सबसे बड़ी सफलता अर्जित की। आलोचना, कुछ अपवाद छोड़ कर, अविश्वसनीय रूप से प्रचंड थी, और लोगों ने, यद्यपि, यह अत्यंत कठिन पुस्तक थी, मेरी दूसरी पुस्तकों से कहीं अधिक इस पुस्तक को खरीदा। मैं यह, एक सैद्धान्तिक पुस्तक के उपभोग, और फ्रांसीसी बौद्धिक पत्रिकाओं में ऐसी पुस्तकों की आलोचना– जो कि सन साठ के दशक का एक विशिष्ट लक्षण था– के मध्य के रुग्ण संबंध की ओर इंगित करने के लिए कहता हूँ।

उस पुस्तक में मैंने, तीन 'वैज्ञानिक अभ्यासों' की तुलना का प्रयास किया। 'वैज्ञानिक अभ्यास' से मेरा अर्थ है, आख्यानों के विनियमन और उनकी रचना का एक तरीका, जो कि वस्तुओं के एक विशिष्ट क्षेत्र को परिभाषित करता है, और साथ ही साथ, उस आदर्श विषय का स्थान निर्धारित करते हैं, जो कि उन वस्तुओं को, जान सके और अवश्य जाने। मुझे यह विचित्र लगा कि तीन पृथक क्षेत्र, जिनका परस्पर कोई व्यावहारिक संबंध नहीं है– प्राकृतिक इतिहास, व्याकरण, और राजनीतिक अर्थव्यवस्था– जहाँ तक उनके नियमों का प्रश्न है, लगभग एक ही कालावधि में, सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में, गठित किए गए थे, और वे, अठारहवीं शताब्दी के अंत में, एक समान रूपान्तरणों से गुजरे। वह उन विषम जातीय अभ्यासों का विशुद्ध तुलनात्मक कर्म था, अतः, उन लक्षणों को बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी, जैसे, उदाहरण के लिए, संपत्ति के विश्लेषण के उद्गम और पूंजीवाद के विकास के मध्य एक संभावित संबंध के अस्तित्व का। प्रश्न, यह सुनिश्चित करना नहीं था कि, किस तरह राजनीतिक अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ, बल्कि, प्रश्न, विभिन्न असम्बद्ध अभ्यासों के उन बिन्दुओं को ढूंढना था, जो कि समान थे, एक तरह से, वैज्ञानिक आख्यान की आंतरिक प्रक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन। यह एक ऐसा प्रश्न था, जिस में उस समय, विज्ञान के कुछ इतिहासज्ञों को छोड़ कर, बहुत सारे लोग रुचि नहीं दिखा रहे थे। जो प्रश्न, उस समय प्रमुख था और अब भी है, वह मोटे तौर पर यह है कि, किस तरह वास्तविक अभ्यासों से, वैज्ञानिक प्रकार के 'ज्ञान' का उदय होता है? यह अभी भी एक सामयिक प्रश्न है, बाकी दूसरे प्रश्न गौण हैं।

प्रश्न : इसके बावजूद, सामाजिक अभ्यासों से 'ज्ञान' के गठन के प्रमुख प्रश्न को, 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' में निर्वासित कर दिया गया था। मुझे ऐसा लगता है कि, उस पुस्तक पर किए गए अत्यधिक तीखे कटाक्षों में, सबसे तीखा था, 'संरचनात्मक रूपवाद' का आरोप, या इतिहास और समाज के प्रश्नों का, अनिरंतरता और संबंध विच्छेदों की एक श्ृंखला, जो कि ज्ञानार्जन की संरचना में अंतर्निहित हैं, में विघटन।

उत्तर : जो लोग मुझे इस बात का उलाहना देते हैं कि, मैंने इन प्रश्नों का सामना नहीं किया, या उन्हें संबोधित नहीं किया, उनके लिए मेरा उत्तर यही है कि, मैंने, 'मैडनेस एण्ड सिविलाईजेशन' लोगों को यह दर्शाने के लिए लिखी कि, मैं उन प्रश्नों के प्रति अंधा नहीं हूँ। अगर मैंने उनके बारे में, 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' में चर्चा नहीं की तो, वह इसलिए क्योंकि, मैंने किसी और विषय को संबोधित करने का निर्णय लिया। कोई चाहे तो वह मेरे द्वारा की गई विभिन्न असम्बद्ध अभ्यासों के मध्य की तुलनाओं की वैधता पर बहस कर सकता है, परंतु, उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि, मैंने जो किया, वह कुछ प्रश्नों को उजागर करने के उद्देश्य से किया।

प्रश्न : 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' में आपने मार्क्सवाद को, अंततोगत्वा, उन्नीसवीं शताब्दी के 'ज्ञान' के एक आंतरिक प्रकरण में बदल दिया। मार्क्सवाद में, ऐसा आभास मिलता है कि, सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्षितिज से, कोई ज्ञान–मीमांसात्मक विराम नहीं मिलता है। मार्क्स के विचार और उसके क्रांतिकारी महत्त्व के निम्न मूल्यांकन ने कई विषैली, आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया।

उत्तर : हाँ, उस मुद्दे पर एक हिंस्र विवाद हुआ था, वह एक घाव जैसा था। ऐसे समय में जब, मार्क्स को, उन लोगों में सम्मिलित कर लेना, जो कि 'गुलाग' के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी हैं, प्रचलन में आ गया है, मैं, यह सबसे पहले कहने वालों में होने के श्रेय को लेने का दावा कर सकता हूँ। परंतु, वह सत्य नहीं होगा : मैंने अपना विश्लेषण सिर्फ मार्क्स के अर्थशास्त्र तक सीमित रखा। मैंने कभी, मार्क्सवाद के बारे में बात नहीं की, और कभी अगर मैंने इस शब्द का प्रयोग किया भी, तो वह अर्थशास्त्र की सैद्धांतिकी के संदर्भ में ही किया। वास्तव में, मुझे नहीं लगता कि, मैंने ऐसा मूर्खतापूर्ण कुछ कहा होगा, यह प्रस्तावित करने में कि मार्क्सवादी अर्थशास्त्र–अपनी मूलभूत अवधारणाओं के साथ और अपने आख्यानों के व्यापक नियमों के साथ– एक ऐसे असम्बद्ध गठन के अंतर्गत आता है, जो कि डी. रिकार्डो के समय परिभाषित किया गया था। बहरहाल, मार्क्स ने स्वयं, यह कहा था, कि उनका राजनीतिक अर्थशास्त्र अपने मूलभूत सिद्धांत में, डी. रिकार्डो के कारण है।

प्रश्न : मार्क्सवाद के उस संदर्भ का, भले ही वह कितना भी हाशिये पर क्यों ना रहा हो, क्या औचित्य था? क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि यह आपका एक तरह का, उस आख्यान में जो कि बमुश्किल दर्जन भर पन्नों का होगा में, मार्क्सवाद के मूल्यांकन का एक 'त्वरित' प्रयास है?

उत्तर : मैं, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र, जिसका की मार्क्सवाद का एक राजनीतिक विचारधारा, जिसका कि उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म हुआ और जिसके प्रभाव बीसवीं शताब्दी में सामने आए, होने के ऐतिहासिक सौभाग्य के चलते लिखे गए, एक 'सन्त चरित–लेखकीय शैली के महिमा मंडन' के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया देना चाहता था। परंतु, मार्क्सवाद का अर्थशास्त्रीय आख्यान, उन वैज्ञानिक आख्यानों के गठन के नियमों के अंतर्गत आता है, जो उन्नीसवीं शताब्दी में विशिष्ट रूप से पाये जाते थे। ऐसा कहना भद्दा नहीं है। यह विचित्र है कि लोगों को यह सुनना असहनीय लगा। वहाँ, परंपरागत मार्क्सवादियों की ओर से यह स्वीकारने में, एक पूर्ण अस्वीकृति थी कि, कोई ऐसा कुछ भी कह सकता है, जो कि मार्क्स को पूर्व प्रतिष्ठित स्थान ना दे। परंतु, उस समय वे सबसे उग्र नहीं थे। मेरा तो यह भी मानना है कि, जो मार्क्सवादी अर्थशास्त्रीय सैद्धांतिकी के प्रश्नों में रुचि रखते थे, वे मेरे इस बात पर जोर देने से अत्यधिक

क्रोधित नहीं हुए थे। जो वास्तव में, कुपित हुए थे, वे थे, नव–मार्क्सवादी, जो कि अपना दृष्टिकोण विकसित कर रहे थे, और जो फ्रांसीसी साम्यवादी पार्टी के पारंपरिक बुद्धिजीवियों के विरोध में ऐसा करते थे। अर्थात, वे लोग जो कि आगे चल कर, मार्क्सवादी–लेनिनवादी बने, या सन '68 के बाद के वर्षों के माओवादी। उनके लिए निश्चित रूप से, मार्क्स, पूँजीपति विचारधारा के विरुद्ध संचालित एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक युद्ध की वस्तु तो थे ही, परंतु, साम्यवादी पार्टी के विरुद्ध भी, जिसे वे उसके सैद्धान्तिक जड़त्व, और 'सिद्धान्त' के अलावा और कुछ भी ना संप्रेषित कर पाने, के कारण धिक्कारते थे।

जो लोग मुझे क्षमा नहीं कर पाये और जिन्होंने मुझे अपमानजनक पत्र भेजे, वे पी.सी.एफ. विरोधी मार्क्सवादियों की उस एक पीढ़ी से थे, जो कि मार्क्स का, वैज्ञानिक ज्ञान की पूर्ण सीमा के रूप में, जिसके आधार पर विश्व का इतिहास बदल गया है, महिमा–मंडन और मूल्यांकन को प्रचलित करती है।

प्रश्न : जब आप मार्क्सवादी–लेनिनवादियों या माओवादियों की बात करते हैं, तब आप विशेष रूप से किन के बारे में सोच रहे होते हैं?

उत्तर : वे, जिन्होंने सन '68 में, मई में, 'अति–मार्क्सवादी' भाषण दिये, और जो कि मई के आंदोलन में, मार्क्स से उधार ली गई उस शब्दावली के प्रसार के लिए जिम्मेदार थे, जैसी कि फ्रांस में पहले कभी सुनी नहीं गई, और जो कि कुछ वर्षों बाद इस सब को त्याग देंगे। दूसरे शब्दों में कहें तो, मई सन '68 की घटनाओं के पहले, मार्क्स का असाधारण रूप से महिमा–मंडन हुआ–एक प्रकार का सामान्यीकृत मार्क्सवादीकरण, जिसके लिए, जो कुछ मैंने लिखा था– हालाँकि, जो कि एक मामूली टिप्पणी थी, वह यह कि मार्क्स की कृति डी. रिकार्डो के प्रकार की अर्थशास्त्रीय सैद्धांतिकी है, तक ही सीमित था, यह टिप्पणी उनके लिए असहनीय थी।

प्रश्न : बहरहाल, यह अस्वीकृति, उन अस्वीकृतियों में जिनको कि हम अभी तक सूचीबद्ध करते आ रहे हैं, जैसे संरचनावाद की विषय–वस्तु, कतिपय मार्क्सवादी परम्पराओं का प्रतिरोध, प्रजा के दर्शन के संबंध में एक विकेन्द्रीकरण, आदि–आदि, में अंतिम थी जिसने कि अपना प्रभाव छोड़ा।

उत्तर : और, यह तथ्य भी, अगर आप जोड़ना चाहें तो, कि मूलतः लोग, उस व्यक्ति को गंभीरता से नहीं ले पाये, जो कि एक ओर तो 'पागलपन' के बारे में चिंतनशील है, और वहीं दूसरी ओर, उसने, उन समस्याओं, जिन्हें कि वैध और महत्त्वपूर्ण के रूप में मान्यता दी गई थी, के बरअक्स विज्ञानों के इतिहास का पुनर्गठन एक विचित्र और अपरिचित प्रकार से किया। इन कारणों के समूहों के सम्मिलन के चलते, चतुर्दिक'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' को बहिष्कृत और अभिशापित किया गया। जिस पुस्तक की दो सौ से अधिक प्रतियाँ नहीं बिकनी चाहिए थी, उसकी कई हजार प्रतियाँ बिकीं।

मिशेल फूको के लेख

लेखक क्या है?
साहित्य की भाषा का है?
साहित्य क्या है?


मिशेल फूको

मिशेल फूको

लेखक क्या है ?

'लेखक' के होने और कृति में उसके हस्तक्षेप को लेकर आलोचना के मोटे ग्रन्थों में, निरंतर प्रश्न खड़े किए जाते रहे हैं। वह सदा से ही 'प्रश्नबिद्ध' रहा है। उसको ढूँढ कर, कसौटियों पर चढ़ाने का काम 'पाठक' और 'आलोचक' दोनों ही, अत्यन्त रुचिपूर्वक करते रहे हैं। विचारधारा ने तो हमेशा से ही, उसे सुई की नोंक से निकालने के ही उपक्रम किए। नतीजतन, वह कई–कई प्रविधियों से, लहू–लुहान और हलाक होता रहा– लेकिन, कभी 'रचना' या 'कृति' से नहीं पूछा गया कि वह अपने सृष्टा के साथ क्या और कैसा सलूक करना चाहती है। इस उपेक्षित स्थिति ने ही 'पाठ' के प्रश्न खड़े किए, और 'लेखक' को एक 'अनुपस्थित की उपस्थिति' की तरह बरामद किया गया। वाल्टर बेंजामिन ने भी, लेखक को सृष्टा के बजाए, एक 'उत्पादक' के रूप में चिह्नित करते हुए, वांछित प्रहार किए। बहरहाल, एक लम्बे कालखण्ड के बाद, विचारधारा के वर्चस्व से मुक्त होती हुई आलोचना ने, लेखक के अस्तित्व का संरक्षण करने की प्रतिज्ञा प्रकट की– लेकिन, उत्तर–आधुनिक चिंतन में आकर, वह मारा गया। नीत्शे ने ईश्वर का वध क्या किया कि चतुर्दिक 'अंतवाद' का ऐसा हो–हल्ला शुरू हो गया कि, धड़ाधड़ विचारधारा, कला, इतिहास, आदि के भी अन्त का उद्घोष सुनाई देने लगा। बेशक, यह अन्तवाद, लेखक के पास भी पहुँचा और इसकी भी मृत्यु की वैसी ही ख़बर फैलने लगी। इस ख़बर की समवेत निर्मिति करने वाले रहे, उत्तर–संरचनावाद के अधिष्ठाता मिशेल फूको, जैक देरीदा और रोलाँ बार्थ। आज इन्हें संसार में 'पोस्ट–मॉडर्न' सैद्धांतिकी के पुरस्कर्ता की तरह जाना जाता है। इन्होंने कहा कि 'लेखक' संस्थागत स्तर पर संकटग्रस्त हो चुका है। दरअस्ल, लेखन की विषय वस्तु अपने जन्म से ही अनाथ होती है। लेखक स्वयं मृत्यु को आमंत्रित करता है, और फलस्वरूप रचना जन्म लेती है। यहाँ तक कि इन चिन्तकों ने यह भी आविष्कृत किया कि, एक पाठ की अन्विति, उसके सृष्टा में नहीं, बल्कि, उसके अभीष्ट (गंतव्य) के रूप में है– और वह अभीष्ट, या गन्तव्य है, पाठक। रोलाँ बार्थ ने 'डेथ ऑफ ऑथर' जैसी स्थापना भी दी, लेकिन उसके प्रत्युत्तर में, मिशेल फूको ने कुछ भिन्न टिप्पणियाँ दी हैं। उस विमर्श के रूप में प्रस्तुत है, मिशेल फूको द्वारा दिये गए, एक व्याख्यान की प्रस्तुति। –अनुवादक

'ऑथर' (ऑथर शब्द के बहुअर्थी होने के कारण, पाठ की स्पष्टता के लिए मैंने 'ऑथर' शब्द का प्रयोग ही रहने दिया है। हिन्दी के 'लेखक' शब्द का प्रयोग, 'राइटर' के अनुवाद के रूप में हुआ है –अनु.) की अवधारणा का अस्तित्व में आना, ज्ञान, साहित्य, दर्शन, विज्ञान और विचारों के इतिहास में, वैयक्तीकरण के एक विशेषाधिकार के क्षण की निर्मिति करता है। आज भी, जब हम किसी अवधारणा, साहित्यिक श्रेणी या दर्शन की शाखा के इतिहास की पुनर्रचना करते हैं, तब हमें ऑथर और उसकी कृति की ठोस और मूलभूत इकाई की तुलना में ऐसी तमाम श्रेणियाँ कमजोर, दोयम और थोपी हुई जान पड़ती हैं।

मैं यहाँ ऑथर के सामाजिक–ऐतिहासिक व्यक्तित्व का कोई विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करूँगा। परन्तु, निश्चित ही, हमारे लिए यह जाँचना पर्याप्त मूल्यवान होगा कि आखिरकार, हमारी जैसी संस्कृति में, 'ऑथर' सहसा कैसे विशिष्ट हो गया? उसे कैसे इतनी प्रतिष्ठा दे दी गई है? किस क्षण, उसकी प्रामाणिकता और उसके गुणारोपण का विधिवत् और मूलभूत अध्ययन प्रारम्भ हुआ? किस प्रकार की मूल्यवर्धन की प्रणाली में 'ऑथर' संलिप्त था? कहाँ पर हम नायकों के बदले, ऑथर्स के जीवन का ब्यौरा रखने लगे? और अन्ततः कैसे इस' व्यक्ति–और–उसके–काम–की–आलोचना' जैसी विवेचन की मूलभूत श्रेणी का प्रारम्भ हुआ? हालाँकि, फिलहाल, मैं सिर्फ, ऑथर (लेखक) और उसके पाठ के बीच के सम्बन्ध और उस आचरण में, जिसमें पाठ इस 'प्रतिमा' की ओर संकेत करता है, जो कि उससे बाहर और उससे पूर्ववर्ती होने का स्पष्ट आभास देता है, का ही विश्लेषण करूँगा।

कदाचित् बेकेट, इस विषय वस्तु को, जिससे मैं अपना यह विमर्श आरम्भ करना चाहूँगा, उसे अच्छे से सूत्रबद्ध करते हैं, 'इससे क्या फर्क पड़ता है कि कौन बोल रहा है, किसी ने कहा, इससे क्या फर्क पड़ता है कि कौन बोल रहा है!' इस तटस्थता में, समकालीन लेखन (ecriture) का, एक मूलभूत नैतिक सिद्धान्त प्रकट होता है।

मैं इसे स्पष्टतः 'नैतिक' कहना चाहता हूँ, क्योंकि यह तटस्थता वास्तविकता में, किसी के बोलने और लिखने के आचरण का चरित्र चित्रण करने वाला लक्षण नहीं है बल्कि एक प्रकार का वह अंतर्निहित नियम है, जिसे बार–बार रेखांकित करते हुए, काफी तल्ख अन्दाज में उठाया जाता है, और जो कदापि पूर्णरूपेण लागू नहीं होता है, और जो लेखन को कभी पूर्णतः मनोनीत भी नहीं करता है। परन्तु, उस पर वह एक व्यवहार के रूप में, अपरिहार्य ढंग से शासन करता है। चूँकि, यह अन्तर्निहित नियम, एक लंबे विश्लेषण की माँग किए जाने के लिए अतिपरिचित है, अतः मैं यहाँ इसकी दो मुख्य विषय–वस्तुओं का, अचूक अनुसरण करके, उससे उत्पन्न होने वाली उलझन को पर्याप्त रूप से स्पष्ट करने में सफल हो सकता हूँ।

सबसे पहले, बेशक हम यह कह सकते हैं कि आज के लेखन ने, स्वयं को अभिव्यक्ति के आयाम से मुक्त कर लिया है। आज का लेखन, अपने आप को ही संदर्भित और संबोधित करते हुए, अपनी आन्तरिकता की सीमाओं में बँधने से इन्कार करता हुआ, स्वयं की प्रकट होती हुई बहिर्मुखता से पहचाना जाता है। इसका मतलब यह है कि यह क्रमबद्ध किए हुए संकेतों की ही, अप्रकट अंतरक्रीड़ा है, जो कि आशय–गर्भित कथ्य के अनुसार व्यवस्थित न होकर, अर्थवत्ता की मूलभूत प्रकृति के अनुसार ही रीतिबद्ध है। नतीजतन, लेखन एक 'खेल' की तरह खुलता है, और जो अपने ही नियमों से परे चला जाता है और अपनी सीमाओं को अतिक्रमित करता

है। लेखन में, लेखन के प्रकार्य को प्रकट करना या बढ़ाना, अब ये कोई मुद्दा नहीं रह गया है, और न ही भाषा में, किसी विषय को निर्धारित करना है। बल्कि, यह तो उस 'स्पेस' को बनाने का प्रश्न भर है, जहाँ लेखन का 'कर्ता' स्थाई रूप से लुप्त हो सके।

'लेखन' का मृत्यु से संबंध, तो हम सब के लिए और भी परिचित है। यह कड़ी, एक पुरानी परम्परा को, जो कि एक ग्रीक महाकाव्य से उद्धरित है, और जिसका उद्देश्य नायक के अमरत्व को अखण्ड बनाना था। अगर नायक युवावस्था में मृत्यु के वरण के लिए तैयार है, और उसका जीवन, मृत्यु से विराट और प्रतिष्ठित हो गया है, तो वह 'अमरत्व' में प्रवेश कर सकता है। यह नैरेटिव, बाद में, उस सहर्ष स्वीकारी गई मृत्यु में, मोक्ष की तरह प्रतिपादित करता है। मसलन हम देखें कि एक दूसरे प्रकार में, अरबी कहानियाँ–The Thousand and One Nights–का हेतु और साथ ही साथ, विषयवस्तु और पूर्व–पाठ भी, मृत्यु को टालना था। इसमें पात्र, अगली सुबह तक कहानियाँ सुनाता रहता है ताकि मृत्यु को पूर्वबद्ध किया जा सके ताकि निर्धारण का दिन, जो 'किस्सागो' को मौन कर देगा, ऐसी स्थिति को स्थगित किया जा सके। शहरजाद की कथा, एक प्रयास है, जिसका हर रात्रि को पुनर्नवीनीकरण होता है ताकि पूरे कथा–कथन के जरिये, मृत्यु को, जीवन के वृत्त से, बाहर और दूर रखा जा सके।

हमारी संस्कृति ने कथा या कहें कि 'नैरेटिव के विचार' को ऐसे 'कुछ' में कायान्तरित कर दिया है कि लेखन, मृत्यु को टालने के लिए ही बाध्य और परिकल्पित है। लेखन का जुड़ाव, बलिदान से हो गया है, यहाँ तक कि जीवन के परित्याग से भी, अब यह एक 'स्वैच्छिक विलोपन' है, जिसकी प्रस्तुति की आवश्यकता, अब पुस्तकों में भी नहीं रह गई है। क्योंकि, अब यह सब, अच्छी तरह से, लेखक के बुनियादी अस्तित्व से नाथ दिया गया है। 'लेखन', जिसका दायित्व कभी अमरत्व प्रदान करना था, अब वह, उसके स्वयं के ऑथर (सृष्टा या लेखक) के वध का अधिकार रखता है, जैसा कि फ्लुबेर, प्रूस्त, और काफ्का के साथ हुआ। हालाँकि, यही सब कुछ नहीं है, लेखन और मृत्यु के बीच का यह संबंध, लेखन के विषय की वैयक्तिक विशेषताओं के विलोपन में भी प्रकट होता है। उन सारी युक्तियों का प्रयोग करके, जो उसने 'स्वयं' और 'जो वह लिख रहा है', इन दो छोरों के बीच उनको खड़ी करके, लेखन का 'कर्ता' अपनी विशिष्ट होने जाने वाली'वैयक्तिकता' को निरस्त कर रहा है। फलतः, लेखक का वर्चस्व घट कर, उसकी 'अनुपस्थिति की एकवचनीयता', के अलावा कुछ और शेष नहीं रह गया है–वस्तुतः, लेखक को, अब रचने की क्रीड़ा में, एक 'मृत व्यक्ति' की भूमिका धारण कर लेना पड़ेगी।

इसमें से कुछ भी हाल का नहीं है, ऑथर (लेखक) के लुप्त होने के संकेत– या मृत्यु का– अवलोकन, आलोचना और दर्शन ने, कुछ समय पहले ले लिया था। परन्तु, उनकी इस खोज के परिणाम अभी तक पर्याप्त रूप से जाँचे–परखे नहीं गए हैं, और न ही उनके आशय को ठीक से मापा गया है। कुछ अवधारणाएँ, जिनका उद्देश्य ऑथर (लेखक) की, उस विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति की प्रतिस्थापना करना था, वास्तव में उस विशेषाधिकार को संरक्षित करती जान पड़ती हैं और उसकी अनुपस्थिति के वास्तविक अर्थ को छुपाती हैं। मैं इन दो अवधारणाओं को, जो आज बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हें पहले क्रम पर रखूँगा।

पहला विचार है रचना। यह एक अतिपरिचित सिद्धांतिकी है कि आलोचना का काम,

रचना के ऑथर से संबंध को प्रकट करना नहीं है, और न ही पाठ से, एक विचार या अनुभव की पुनर्रचना का है बल्कि आलोचना का काम, रचना के ढांचे से, उसकी संरचना से, उसके अन्तर्ग्रथित रूप से, और उसके आंतरिक संबंधों की क्रीड़ा को समझना, रचना का विश्लेषण करना है। हालाँकि, इस मुद्दे पर एक समस्या खड़ी होती है, रचना क्या है? यह वह कौन सी विलक्षण समग्रता है, जिसे हम 'रचना' नामोद्दिष्ट करते हैं? यह किन तत्वों से निर्मित की गई है? क्या यह वह नहीं है, जो ऑथर ने लिखा है? समस्याएँ तुरन्त खड़ी होती हैं। अगर एक व्यक्ति ऑथर नहीं होता, तो क्या हम यह कह सकते हैं कि, जो कुछ भी उसने लिखा है, कहा है, पन्नों में रख छोड़ा है या जो कुछ भी उसकी टिप्पणियों का संग्रह है, उसे 'रचना' कहा जा सके? जब साद को ऑथर नहीं माना गया, तब उनके लिखे हुए पृष्ठों की क्या हैसियत थी? क्या वे सिर्फ कागजों के बण्डल मात्र थे, जिन पर वे, अपने कारावास के दौरान, अपनी फन्तासियों को सतत खोलते रहे?

मान लीजिए कि जब कोई व्यक्ति एक ऑथर की तरह स्वीकार भी कर लिया गया है, तब भी हमें यह प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि जो कुछ उसने लिखा, कहा, या रख छोड़ा, क्या वह उसके लेखन का भाग है? यह समस्या सैद्धान्तिक और तकनीकी दोनों है। उदाहरण के लिए, नीत्शे के लेखन के प्रकाशन के उत्तरदायित्व पूरा करने के समय, हमें कहाँ रुक जाना चाहिए? निश्चित रूप से उनका सब कुछ प्रकाशित किया जाना चाहिए, परन्तु 'सब कुछ' क्या है? निश्चित रूप से, 'सब कुछ', जिसे स्वयं नीत्शे ने प्रकाशित किया। और उनके लिखे हुए कच्चे मसौदे का क्या होगा? निश्चित रूप से यह भी प्रश्न खड़ा होता है कि उनकी सूक्तियों की योजना?–हाँ। पृष्ठों की पाद टिप्पणियाँ और विलोपित परिच्छेद? मैं फिर कहूँगा–हाँ। चलिये मान लें कि एक कार्य–पुस्तिका, जो कि सूक्तियों से भरी हुई है, उसमें हमें एक सन्दर्भ मिलता है या किसी से मिलने के समय का विवरण मिलता है या किसी का पता मिलता है, या किराने के सामान की सूची मिलती है, क्या यह लेखन है या नहीं? और नहीं है तो फिर क्यों नहीं है? आदि आदि। उन लाखों पदचिह्नों के बीच, जो व्यक्ति अपनी मृत्यु के बाद छोड़ जाता है, उस काम को कोई कैसे परिभाषित कर सकता है? क्योंकि इस तरह के काम का अभी तक कोई सिद्धान्त अस्तित्व में नहीं है और जो लोग अनभिज्ञता में, रचना के सम्पादन का, अपनी नीमहकीमी में कार्य का बीड़ा उठाते हैं, वे सिद्धान्त की अनुपस्थिति में कष्ट का सामना करते हैं।

हम इससे आगे भी जा सकते हैं, क्या The Thousand and One Nights को रचना की निर्मिति मानी जाए? अलेक्सेण्ड्रिया के क्लेमेण्ट के Miscellanies या डायोजिनीस के Lives का क्या करें? लेखन की इस अवधारणा के साथ बहुतेरे प्रश्न खड़े होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप, यह घोषित करना ही काफी नहीं है कि लेखक के बिना हमारा काम चल जाएगा और हमें सिर्फ लेखन का ही विवेचन करना चाहिए। शब्द, लेखन और संरचनात्मक–एकता, जो यह त्रिकोण स्थापित करता है, संभवतः वह उतना ही समस्यामूलक है, जितनी कि ऑथर की वैयक्तिकता की प्रतिष्ठा।

एक और अवधारणा, जिसने ऑथर के विलोपित हो जाने के पूर्ण मूल्यांकन से, जो विघ्न खड़ा किया है, और इस विलोपन के क्षण को धूमिल किया है और ढाँपा है और सूक्ष्म रूप से ऑथर के अस्तित्व को संरक्षित किया है, वही है, लेखन की अवधारणा (ecriture)। जब इसे

कठोरता के साथ लागू किया जाता है, तब यह अवधारणा हमें ऑथर के बारे में, अधिकांश सन्दर्भों को न केवल चतुर्दिक घेरने की अनुमति देता है, बल्कि इसके अलावा, हमें उसकी हाल की अनुपस्थिति को इंगित भी करने देता है। लेखन की यह अवधारणा, जैसी कि यह अभी प्रयोग में है, न तो इसका लेखन के कर्म से सरोकार है, और न ही किसी अर्थ के संकेत या लक्षण– से, जो भी कोई अभिव्यक्त करना चाहता हो। हम, बड़ी मेहनत के साथ, हर पाठ की सामान्य दशा की कल्पना की कोशिश करते हैं, उन दोनों की दशा की, यानि वह 'स्पेस', जिसमें पाठ व्यवहृत हुआ है और वह 'काल', जिसमें वह प्रकट हो रहा है, की कल्पना की कोशिश करते हैं।

हाल ही के प्रयोग में, हालाँकि,लेखन की अवधारणा, ऑथर की आनुभाविक विशेषताओं को, एक अनुभवातीत अनामत्व, में रूपांतरित करती प्रतीत होती है। हम लेखन को वर्गीकृत करने के दो प्रकारों, यानि, 'आलोचनात्मक–विवेक' और 'धर्म दृष्टि' को एक दूसरे से भिड़ा कर, ऑथर की अनुभवजन्यता के अधिक दृष्टिगोचर संकेतों में विसर्जित करने में संतुष्ट हैं। लेखन को एक आद्य प्रतिष्ठा देना, अनुभवातीत शब्दावली में, दोनों, उसकी पवित्र लाक्षणिकता का, 'धर्म दृष्टि' द्वारा स्वीकार और उसके सृजनात्मक चरित्र की आलोचनात्मक स्वीकृति के महज पुनरानुवाद का एक तरीका प्रतीत होता है। यह स्वीकार करना कि लेखन, उस इतिहास के कारण, जिसने उसे संभव बनाया, दमन और विचलन के परीक्षण के अधीन है, उस धार्मिक सिद्धान्त का गूढ़ अर्थ (जिसके लिए अभी व्याख्या की आवश्यकता है) और अव्यक्त अर्थवत्ता, मौन निश्चय, और धुंधले कथ्यों के आलोचनात्मक सिद्धान्त (जो कि टिप्पणियों को पैदा करता है) का, अनुभवातीत शब्दावली में, प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। लेखन की 'अनुपस्थिति' के रूप में कल्पना करना, अनुभवातीत शब्दावली में, एक सरल पुनरावृत्ति प्रतीत होता है, दोनों का अपरिवर्तनीय परन्तु फिर भी कभी परिपूर्ण नहीं की गई परंपरा के धार्मिक सिद्धान्त का, और लेखन के अस्तित्व, ऑथर के मृत्यु के बाद ऑथर के काम का नैरन्तर्य, और ऑथर के संबंध में, ऑथर के काम की प्रचुर गूढ़ता, इन सबका का सौंदर्य सिद्धान्त, लेखन के सन्दर्भ में अन्तरग्रथित है।

लेखन की अवधारणा का प्रयोग, ऑथर के विशेषाधिकार को लेखन की पूर्व–स्थिति को सुरक्षित बनाए रखने का जोखिम उठाता है, प्रभावहीनता की धूसर रौशनी में, यह उन पुनर्प्रस्तुतियों की व्याख्या को जीवित रखता है, जिन्होंने ऑथर की एक विशिष्ट छवि बनाई। ऑथर की अनुपस्थिति, जो कि मलार्मे के समय से, एक निरन्तर होने वाला प्रसंग है, अनुभवातीत अवरोधों की एक श्रृंखला के अधीन है। ऐसा लगता है कि जो इसमें विश्वास रखते हैं कि वे अभी भी आज की विच्छिन्नता को, उन्नीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक– अनुभवातीत परंपरा में अवस्थित कर सकते हैं, और दूसरे वो, जो इस परंपरा से सर्वथा के लिए स्वतंत्र होने का प्रयास करते हैं, के बीच एक महत्त्वपूर्ण विभाजन रेखा है।

हालाँकि, यह काफी नहीं है, इस सतही स्वीकार को दुहराना कि ऑथर लुप्त हो गया है। और इन्हीं कारणों से, यह दुहराना (नीत्शे के बाद) भी काफी नहीं है कि ईश्वर और आदमी दोनों की एक सामान्य मृत्यु हो चुकी है। इसके बदले, हमें ऑथर के 'विलोपित' होने से उस 'स्पेस' को ढूँढना ही होगा, उन अंतराल और दरारों की खोज करना होगा, और उन आरम्भों

पर ध्यान एकाग्र करना होगा, जो कि ऑथर के विलोपन ने उघाड़े हैं।

पहले तो हमें ऑथर के नाम के प्रयोग से उपजी समस्याओं को संक्षेप में स्पष्ट करना होगा। ऑथर का नाम क्या है? वह कैसे कार्य करता है? बहरहाल, समाधान प्रस्तुत करने के बदले, मैं सिर्फ, कुछ उन कठिनाइयों की तरफ संकेत करूँगा, जो ऑथर के नाम के प्रयोग से उपजती हैं।

ऑथर का नाम, एक व्यक्तिवाचक नाम है, और इसलिए यह उन समस्याओं को उठाता है, जो कि सारे व्यक्तिवाचक नामों में समान है। (यहाँ पर मैं सर्ल के विश्लेषण का संदर्भ दूँगा।) प्रत्यक्ष रूप से, एक व्यक्तिवाचक नाम को एक सीधे और सरल संदर्भ में नहीं बदला जा सकता। इसके संकेतक प्रकार्यों के अलावा और भी कुछ प्रकार्य हैं। यह, संकेत, या मुद्रा, या किसी की ओर उठी हुई उँगली से कहीं अधिक, एक बखान के समकक्ष है। जब कोई, 'अरस्तू', कहता है, तब वह एक शब्द को नियुक्त करता है, जो कि एक निश्चित विवरण, या उसकी शृंखलाओं के समकक्ष है, जैसे कि, Analytics का लेखक, Ontology के प्रवर्तक, और आदि आदि। हालाँकि, हम सिर्फ यहाँ ही नहीं रुक सकते, क्योंकि व्यक्तिवाचक नामों का सिर्फ एक ही अभिप्राय नहीं होता। हमें जब यह मालूम पड़ा कि रिम्बू ने La Chasse spirituelle नहीं लिखा है, तब हम यह बहाना नहीं कर सकते कि, इस व्यक्तिवाचक नाम का अर्थ, या लेखक के नाम का अर्थ, उलट हो गया है। व्यक्तिवाचक नाम और लेखक का नाम, विवरण और पद के दो ध्रुवों के बीच स्थित है और जिसका वे नामकरण करते हैं, उसके साथ उनका एक निश्चित सम्बन्ध सेतु होना ही चाहिए। परन्तु ऐसा सम्बन्ध, जो कि, न तो पूरी तरह पद के रूप में हो, और न ही विवरण के बल्कि उसको एक विशिष्ट सम्बन्ध सेतु होना चाहिए। हालाँकि, यहाँ पर ऑथर के नाम की विशिष्ट कठिनाई उपजती हैं—व्यक्तिवाचक नाम और व्यक्ति, जिसका नामकरण किया जा रहा है और ऑथर का नाम और ऑथर, जिसका नामकरण करता है, के बीच की समरूपता नहीं हैं, और वे एक ही प्रकार से कार्य नहीं करती हैं। इनमें कई भेद हैं।

उदाहरण के लिए, जैसे, पियरे ड्यूपोण्ट की आँखें नीली नहीं हैं, या उसका जन्म पैरिस में नहीं हुआ था, या वह चिकित्सक नहीं है, यह नाम पियरे ड्यूपोण्ट, सर्वदा उसी व्यक्ति को सन्दर्भित करेगा। दरअसल उपरोक्त चीजें, पद के सम्बन्ध को रूपान्तरित नहीं करती हैं। परन्तु, ऑथर के नाम से उपजी हुई समस्याएँ अधिक जटिल हैं। अगर मुझे यह पता पड़े कि, शेक्सपियर का जन्म उस घर में नहीं हुआ था, जहाँ हम आज जाते हैं, तो यह ऐसा परिवर्तन है जो, प्रकटतः, ऑथर के नाम के प्रकार्य को उलट देगा। परंतु, अगर हमने यह प्रमाणित कर दिया कि, शेक्सपियर ने वे सॉनेट्स नहीं लिखे हैं, जो उनके नाम से चलते हैं, तो यह एक आशयगर्भित परिवर्तन पैदा करेगा, और सहसा उस प्रणाली को ही प्रभावित कर देगा, जिससे ऑथर का नाम काम करता है। अगर हमने यह सिद्ध कर दिया कि, शेक्सपियर ने बेकन का Organon लिखा है, यह दिखाकर कि किसी एक ऑथर ने दोनों, बेकन और शेक्सपियर की कृतियों की रचना की है, तब यह एक तीसरे प्रकार का परिवर्तन होगा जो कि, ऑथर के नाम की कार्यप्रणाली को पूरी तरह रूपान्तरित कर देगा। इसीलिए, ऑथर का नाम, बाकी सारे व्यक्तिवाचक नामों की तरह कतई नहीं है अलबत्ता नितान्त भिन्न है।

इसके अलावा भी दूसरे कई तथ्य ऑथर के नाम की अन्तर्विरोधी एकवचनीयता की तरफ

संकेत करते हैं। यह कहना कि, पियरे ड्यूपोण्ट अस्तित्व में नहीं है, यह कहने से सर्वथा भिन्न है कि, होमर या एर्मेस त्रिस्मेगिस्टस अस्तित्व में नहीं थे। पहले प्रकरण में, इसका मतलब यह होता है कि किसी भी व्यक्ति का नाम पियरे ड्यूपोण्ट नहीं है। वहीं दूसरे प्रकरण में, इसका मतलब यह निकलता है कि बहुतेरे लोग इस एक नाम के नीचे एक साथ मिश्रित हैं, या कि वास्तविक ऑथर के पास, वे सारे लक्षण नहीं थे, जो पारंपरिक रूप से एर्मेस या होमर के व्यक्तित्व में आरोपित किए जाते हैं। यह कहना कि फलाँ व्यक्ति का नाम, वास्तव में पियरे ड्यूपोण्ट के बदले जैक द्युरो है, यह कहने जैसा नहीं है कि स्तेन्दाल का नाम हेनरी बेल था। कोई उन प्रस्तावों के अर्थ और उनके कार्यों पर भी प्रश्नचिह्न लगा सकता है, जैसे "बूरबिक फलाँ–फलाँ हैं, आदि और "विक्टर एरेमिता, क्लाइमेक्स और एण्टी क्लाइमेक्स, फ्रेटर टैसिटर्नस, कोंस्टनटिन कोंस्टनटिनस, ये सब कीर्केगार्द हैं।"

ये सारे अन्तर, बुनियादी रूप से, इस तथ्य से उपजते हैं कि, ऑथर का नाम सिर्फ आख्यान का तत्व नहीं है (वस्तु या विषय होने में सक्षम है, या व्यक्तिवाचक से विस्थापित होने में सक्षम है, आदि) ऑथर का नाम विमर्श या आख्यान के संदर्भ में, वर्गीकरण का कार्य करता हुआ, एक विशेष भूमिका अदा करता है। इस तरह का नाम, कई पाठों को एक समूह में, एकत्र करने की अनुमति देता है, उन्हें परिभाषित करता है, और दूसरे पाठों से उन्हें विलगाता है और विपर्यय उत्पन्न करता है। इसके अलावा, यह पाठों के बीच एक अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करता है। एर्मेस त्रिस्मेगिस्टस, और हिप्पोक्रेट्स उस अर्थ में अस्तित्व में नहीं थे, जिस अर्थ में बाल्जाक अस्तित्व में थे– परन्तु, यह तथ्य कि बहुतेरे पाठ, इन समान नामों के अन्तर्गत हैं, यह इंगित करता है कि, इन नामों और पाठों के बीच एक एकरूपता का, उद्‌गम का, दूसरों के प्रयोग द्वारा कुछ पाठों के प्रमाणीकरण का, पारस्परिक व्याख्या का, या सहगामी उपयोग का संबंध स्थापित हो चुका है। ऑथर का नाम, आख्यान के अस्तित्व के एक विशिष्ट प्रकार को वर्गीकृत करता है यह तथ्य कि आख्यान के पास ऑथर का नाम है कि कोई यह कह सकता है कि 'यह फलाँ के द्वारा लिखा गया था' या 'फलाँ इसका ऑथर है', यह दिखाता है कि यह आख्यान दैनंदिन की साधारण भाषा का नहीं है, जो कि सिर्फ 'आती है और जाती है', और न ही यह त्वरित उपभोग के योग्य है। इसके विपरीत, यह वह भाषा है, जो कि एक विशेष प्रकार से ग्रहण की जानी चाहिए, और, किसी भी संस्कृति में, इसे एक विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिए।

ऐसा लगता है कि, ऑथर का नाम, दूसरे व्यक्तिवाचक नामों की तरह, आख्यान के आन्तरिक से वास्तविक और बाह्य के 'वैयक्तिक', जिसने उसे उत्पन्न किया है, तक नहीं गुजरता है बल्कि ऐसा लगता है कि नाम हमेशा ही उपस्थित रहता है, पाठ के तटों को चिह्नित करता हुआ, उसके 'होने के प्रकार' को प्रकट करता हुआ, या कम से कम उसकी लाक्षणिकता को रेखांकित करता हुआ। ऑथर का नाम, एक किसी तर्कमूलक प्रणाली की उपस्थिति को स्पष्ट करता है और समाज और संस्कृति में, उस आख्यान की प्रतिष्ठा की तरफ संकेत करता है। इसकी कोई विधिक प्रतिष्ठा नहीं है, और न ही यह रचना के गद्य में स्थित है बल्कि यह उस विखंडन में स्थित है, जो कि एक तार्किक संरचना और उसके विशिष्ट 'होने के प्रकार' को सीमित करता है। इसके परिणाम स्वरूप, हम यह कह सकते हैं कि, हमारी सभ्यता जैसी किसी सभ्यता में, एक नियत संख्या में कुछेक आख्यान ऐसे हैं, जो 'ऑथर के प्रकार्य' से सम्पन्न हैं, और बाकी आख्यान उससे वंचित हैं। कोई किसी व्यक्तिगत पत्र का हस्ताक्षरकर्ता हो सकता है–

उसका ऑथर नहीं होता, किसी अनुबंध का गारण्टियर हो सकता है– उसका ऑथर नहीं होता। अतः, ऑथर का प्रकार्य, समाज के कुछ आख्यानों के अस्तित्व के प्रकार का, उनके प्रचलन का, और उनकी कार्यप्रणाली का लक्षण है।

चलिये, इस 'ऑथर के प्रकार्य' का, जिसको हमने अभी प्रस्तुत किया है, विश्लेषण करें। हमारी संस्कृति में, कोई ऑथर का प्रकार्य रखने वाले किसी आख्यान को कैसे चित्रित करता है? किन प्रकारों से यह आख्यान दूसरे अन्य आख्यानों से भिन्न है? अगर हम अपनी टिप्पणियों को किसी पुस्तक या पाठ के लेखक तक सीमित रखें तो, हम उन्हें चार विभिन्न गुणावगुणों के आधार पर अलग कर सकते हैं।

सबसे पहले, आख्यान के विनियोजन के कुछ निश्चित लक्ष्य हैं। स्वामित्व का वह रूप, जिससे वे प्रस्फुटित होते हैं, वह एक विशेष प्रकार का है, जिसे सालों से चिह्नित किया गया है। हमें यह दर्ज करना चाहिए कि, ऐतिहासिक रूप से, कि इस प्रकार का स्वामित्व, हमेशा से, जिसे हम दण्ड–विनियोग कह सकते हैं, का उत्तरवर्ती है।

पाठ, पुस्तकों, और आख्यानों के वास्तविक ऑथर होने लगे (मिथकीय, "संस्कार" और "संस्कारित रूप" होने के अलावा), और उस सीमा तक, ऑथर दण्ड के दायरे मे चले गये, जहाँ तक, विमर्श अतिक्रामी हो सकते थे। हमारी संस्कृति में (और निस्संदेह दूसरी कई संस्कृतियों में भी), विमर्श मूलरूप से एक उत्पाद, वस्तु, या एक प्रकार का माल नहीं था। वह अत्यावश्यक रूप से एक कृत्य था– एक कृत्य जो कि पवित्र और पातकी, धार्मिक और ईश–निन्दक के द्विध्रुवीय क्षेत्र में अवस्थित था। ऐतिहासिक रूप से आख्यान, स्वामित्व के कुचक्र में उलझने से पहले, यह एक जोखिम भरी भंगिमा थी।

एक बार जब पाठ के स्वामित्व की व्यवस्था अस्तित्व में आ गई, जब ऑथर– के अधिकारों से, ऑथर प्रकाशक के संबंधों से, और पुनर्प्रकाशन के अधिकारों से संबद्ध कठोर नियम, प्रभावशील हो गए–अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में– तब लेखन के कृत्य से संबंधित अतिक्राम्य की संभावना, उत्तरोत्तर एक प्रकार की निदेशात्मकता का, जो कि साहित्य के लिए विशिष्ट थी, का रूप लेती गई। यह ऐसा था, जैसे कि ऑथर ने, उस क्षण के प्रारम्भ से, जिसमें वह सम्पत्ति की व्यवस्था में, जो कि हमारे समाज की लाक्षणिकता को प्रकट करती है, में अवस्थित हुआ, और इस तरह से अधिगृहित अपने गौरव के लिए उसने, आख्यान के पुराने द्वि–ध्रुवीय क्षेत्र को पुनराविष्कृत करके, व्यवस्थित रूप से अतिक्राम्य होने की चेष्टा करते हुए, उसकी क्षति पूर्ति करनी शुरू की, और इस तरह उस लेखन में, जिसमें अब स्वामित्व के लाभ सुनिश्चित थे,में जोखिम को पुनः प्रतिस्थापित किया।

हालाँकि, यह ऑथर का प्रकार्य सारे आख्यानों को एक समान रूप से प्रभावित नहीं करता। यह उसका दूसरा लक्षण है। हमारी सभ्यता में, हमेशा एक ही प्रकार के पाठों ने, किसी ऑथर के अधिकार का आग्रह नहीं किया है। एक समय था, जब उन पाठों को, जिन्हें हम आजकल 'साहित्यिक' (कथानक, कहानियाँ, महाकाव्य, त्रासदी, व्यंग्य) कहते हैं, वे ऑथर की एक निश्चित पहचान के बारे में बिना किसी प्रश्न के, स्वीकृत होते थे, प्रचलित होते थे, प्रतिष्ठित होते थे, उन पाठों की अनामता से कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी। क्योंकि उनकी,

वास्तविक या काल्पनिक, प्राचीनता को, उनकी प्रतिष्ठा की पर्याप्त गारन्टी माना जाता था। वहीं दूसरे ओर, वह पाठ, जिन्हें हम आज वैज्ञानिक कहते हैं— जो अंतरिक्ष और ब्रह्मांड, चिकित्सा और बीमारी, विज्ञान और भूगोल से सरोकार रखते हैं— मध्य युग में 'सत्य' की तरह तभी स्वीकृत होते थे, जब उनके ऑथर का नाम उन पर होता था। "हिप्पोक्रेट्स ने कहा," "प्लिनी ने याद किया"ये सब विशेषज्ञता पर आश्रित तर्कों के सूत्र नहीं थे। वे विमर्शों में शामिल किए गए चिह्न थे, जिन्हें समर्थन दिया गया था, ताकि वे प्रदर्शित सत्य के, वैध वक्तव्यों की तरह ग्रहण किए जाएँ।

सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी में, जाकर कहीं इसका उलटफेर हुआ। वैज्ञानिक आख्यान, एक स्थापित या हमेशा पुनः प्रकटित सत्य की अनामता में, स्वयं के ही कारण ग्राह्य होने लगे। उन्हें उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के संदर्भ के बदले, एक व्यवस्थित सामूहिकता में, उनकी सदस्यता ही उनकी, गारन्टी की तरह खड़ी हो गई। ऑथर का प्रकार्य धूमिल हो गया, और आविष्कारक का नाम किसी थियोरम, प्रस्ताव—कथन, विशिष्ट प्रभाव, गुणदोष, तत्व समूह, या शारीरिक व्याधि के लक्षण के नामकरण के लिए ही रह गया। और इसी प्रकार से, साहित्यिक आख्यान भी, तभी स्वीकृत होने लगे, जब वे ऑथर के प्रकार्य से सम्पन्न थे। आज हम हर काव्य या गद्य के पाठ से, यह पूछते हैं कि यह कहाँ से आया है? इसे किसने लिखा है? कब, और किन परिस्थितियों में, किस परिकल्पना से इसका प्रारम्भ हुआ है? और जिस तरह से हम इन प्रश्नों के उत्तर देते हैं, उन उत्तरों के आधार पर हम उस 'पाठ' को अर्थ के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं और उसे प्रतिष्ठा या मूल्य प्रदान करते हैं। और अगर कोई पाठ अनामता की स्थिति में पाया जाए— भले ही किसी दुर्घटना स्वरूप या ऑथर की प्रकट इच्छा के अनुरूप— तो उस पाठ के ऑथर को खोजने का खेल शुरू हो जाता है। चूँकि, 'साहित्यिक अनामता' असह्य है, इसलिए हम उसे सिर्फ एक रहस्य के वेश में ही स्वीकार कर सकते हैं। फलतः, आज ऑथर का प्रकार्य, साहित्यिक कृतियों को देखने की हमारी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। (ये निश्चित रूप से सामान्यीकरण हैं, जिन्हें, जहाँ तक आलोचनात्मक चेष्टा का सरोकार है, इसे परिष्कृत करना होगा)

इस ऑथर का प्रकार्य का तीसरा लक्षण यह है कि, ऑथर का प्रकार्य, एक व्यक्ति के विमर्श को श्रेय देने से ही यह अकस्मात विकसित नहीं होता। बल्कि, यह उस जटिल प्रक्रिया का परिणाम है, जो एक बौद्धिक सत्ता को खड़ा करता है, जिसे हम 'ऑथर' नाम से चिह्नित करते हैं। आलोचक, व्यक्ति में एक गहन प्रयोजन, एक सृजनात्मक शक्ति, या परिकल्पना, वह परिवेश, जिसमें लेखन जन्म लेता है, को पुनः स्मरण करते हुए, निस्संदेह, इस 'बोधगम्य—सत्ता' को एक वास्तविक प्रतिष्ठा देने का भरसक प्रयास करते हैं। फिर भी, व्यक्ति के वह आयाम, जिन्हें हम चिह्नित करते हैं कि वे ऑथर को बनाते हैं, वे सिर्फ प्रक्षेपण मात्र हैं कमोबेश मनोविज्ञान की शब्दावली में, उन कार्य व्यापारों का, जो जिसका अनुभव करने के लिए हम पाठ पर दबाव डालते हैं। इस तरह, जो हम जोड़ते हैं, वे लक्षण जिनसे हम संगति बिठाते हैं, वे निरंतरताएँ, जिन्हें हम पहचानते हैं, या बहिष्कार जिनकी हम चेष्टा करते हैं। ये सारी प्रक्रियाएँ विमर्श के प्रकार और काल के अनुरूप तरह—तरह की हो जाती हैं। जैसे हम 'कवि' की संरचना बनाते हैं, वैसे ही हम 'दार्शनिक ऑथर' की संरचना नहीं करते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे कि अठारहवीं

शताब्दी में, कोई उपन्यासकार की संरचना नहीं करता था, जैसा कि हम आज करते हैं। फिर भी, युगों से, ऑथर के गढ़न्त के नियमों में, हमें कुछ स्थिर एकनिष्ठता मिल सकती है।

उदाहरण के लिए, ऐसा लगता है कि, जिस तरीके से साहित्यिक आलोचना ने कभी 'ऑथर' को परिभाषित किया– या, शायद कहें तो, जिस तरह मौजूदा पाठों और आख्यानों से प्रारम्भ करके, 'ऑथर' का प्रारूप गढ़ा – यह उस प्रविधि का सीधा परिणाम है, जिस प्रविधि से ईसाई परंपरा, अपने निर्णय पर पाठों को सत्यापित (या रद्द) करती थी। किसी ऑथर को, उसके काम में 'पुनराविष्कृत' करने के लिए, आधुनिक आलोचना, उन्हीं नियत प्रविधियों का प्रयोग करती है, जिन्हें ईसाई भाष्यकार, ऑथर के संतत्व से किसी पाठ का मूल्यांकन करने में प्रयोग में लाता था। De viris illustribus में संत जेरोम यह स्पष्ट करते हैं कि, एक से अधिक कृतियों के लेखकों को, वैध रूप से पहचानने के लिए, कृतियों का, समनाम होना ही पर्याप्त नहीं है, अलग–अलग व्यक्तियों का एक ही नाम हो सकता है या किसी एक व्यक्ति ने, अवैध रूप से, किसी दूसरे व्यक्ति का पैतृक नाम उधार ले लिया हो। जब कोई पाठ परंपरा में काम कर रहा हो तो, एक व्यक्तिगत मुहर की तरह नाम काफी नहीं है।

तब, कैसे, हम बहुतेरे आख्यानों को, एक ही ऑथर के नाम को श्रेय दे सकते हैं? तब कोई ऑथर के प्रकार्य को कैसे प्रयोग में लाकर, यह सुनिश्चित करे कि वह एक व्यक्ति से, व्यवहार कर रहा है या कि कइयों से? संत जेरोम चार कसौटियों का प्रस्ताव रखते हैं (1) अगर ऑथर के नाम से स्वीकार की गई, बहुत सारी पुस्तकों में से एक पुस्तक, दूसरी पुस्तकों की तुलना में कमतर है तो, वह पुस्तक ऑथर की लिखी हुई पुस्तकों की सूची में से निरस्त कर के बाहर करनी होगी (ऑथर, इसलिए, एक सतत् मूल्य की तरह परिभाषित होता है) (2) यही तब भी किया जाना चाहिए, जब कोई पाठ, ऑथर की दूसरी कृतियों में प्रतिपादित किए गए मत को खंडित करता है तो ऑथर, तब विचारधारात्मक संगति की तरह परिभाषित है (3) उन कृतियों को भी छाँटकर बाहर किया जाना चाहिए जो कि भिन्न शैली में लिखी गई हैं, या जिनमें उन शब्दों और अभिव्यक्तियों का प्रयोग है, जो कि सामान्यतः ऑथर के लेखन में नहीं मिलते हैं (ऑथर यहाँ एक शैलीगत एक्य की तरह कल्पित किया गया है) (4), और अंत में, वे उद्धरण, जो उन वक्तव्यों या उन घटनाओं को उद्धृत करते हैं, जो कि ऑथर की मृत्यु के बाद बोले गए हैं, या घटे हैं, तो उन्हें पहले कहे गये पाठ की तरह माना जाए (ऑथर को यहाँ एक ऐतिहासिक छवि, जो कि कुछेक संकटमय और दिग्भ्रमित है की तरह देखा जा रहा है।)

आधुनिक साहित्यिक आलोचना, प्रमाणीकरण के प्रश्नों से संबद्ध नहीं है, परन्तु वह फिर भी ऑथर को वैसे ही परिभाषित करती है।

ऑथर अपने काम में, न केवल कुछ प्रसंगों की उपस्थिति को व्याख्यात्मक आधार प्रदान करता है, परन्तु उनके रूपान्तरण, अविरूपन, और बहुस्तरीय संशोधनों (अपनी जीवनी से, अपने वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य के निर्धारण से, अपनी सामाजिक स्थिति के विश्लेषण से, और अपनी मूलभूत परिकल्पना के प्रकटीकरण से) भी स्पष्ट करता है। ऑथर, लेखन की एक प्रकार की एकता का सिद्धान्त भी है–विभेदों का कम से कम अंश में विकास, परिष्कार और प्रभावों के सिद्धान्तों से गुँथा हुआ निराकरण। ऑथर, पाठों की श्रृंखला में प्रादुर्भूत होने वाले विरोधाभासों को भी निष्क्रिय करता है। एक बिन्दु ऐसा होना चाहिए–ऑथर के विचार या कामना के एक स्तर पर, ऑथर के

चेतन या अचेतन में– जहाँ सारे विरोधाभास विसर्जित हो जाते हैं, जहां पर वे किसी असंगत छोर में अंत में एक साथ बंध जाते हैं, या किसी मूलभूत या जन्मना विरोधाभास के इर्दगिर्द व्यवस्थित हो जाते हैं। अंत में, ऑथर, एक प्रकार की अभिव्यक्ति का स्रोत है जो, कमोबेश पूर्ण रूप में, और समान वैधता के साथ, अपनी रचनाओं में, अपने रेखाचित्रों में, अपने पत्रों में, अपने लिखे हुये के टुकड़ों में और आदि आदि में समरूप से व्यक्त होता है। स्पष्टतः संत जेरोम के प्रामाणिकता के चार मानदंड (वे मानदंड जो आज के भाष्य के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं), उन चार विभेदों को परिभाषित करती हैं, जिनके मुताबिक आधुनिक आलोचना, ऑथर के प्रकार्य को प्रयोग में लाती है।

परंतु, ऑथर का प्रकार्य, निष्क्रिय सामग्री के रूप में दिए गए पाठ का, दोयम, और एक शुद्ध और नैसर्गिक संरचना नहीं है। पाठ में हमेशा, लेखक की ओर संकेत करने वाले कुछेक चिन्ह समाहित रहते हैं। ये चिह्न, जो कि वैयाकरणों के लिए चिरपरिचित हैं, जैसे व्यक्ति वाचक सर्वनाम, काल और स्पेस के क्रिया विशेषण और क्रिया रूप हैं। ये तत्व, उन आख्यानों, जिनमें ऑथर का प्रकार्य उपस्थित है, में एक जैसी भूमिका नहीं अदा करते हैं, बनिस्बत उन आख्यानों में, जिनमें ऑथर का प्रकार्य नहीं है। इस प्रकार के "पैंतरा बदलने वाले" वास्तविक वक्ता को और उसके आख्यान को क्षणिक आवेग की तरह गिनते हैं (हालाँकि, कुछ संशोधन हो सकते हैं, जैसे कि प्रथम पुरुष में लिखे गए, सम्बन्धित आख्यानों के सन्दर्भ में)। उन आख्यानों में, जिनमें ऑथर का प्रकार्य प्रदत्त है, इन तत्वों की भूमिका अधिक कठिन और भिन्न है। हरेक व्यक्ति जानता है कि प्रथम पुरुष में वर्णित किये गये उपन्यास में, न तो प्रथम पुरुष संज्ञा और न ही निर्दिष्ट वर्तमान या तो ऑथर को या फिर उस विशेष क्षण को, जिसमें लेखक लिखता है, को साफ तौर पर सन्दर्भित करता है, बल्कि इसके साथ ही वह, उस अपर–स्वरूप (अल्टर–इगो) की ओर अचूक संकेत करता है, जिससे ऑथर की दूरी, कृति के दायरे में घटती बढ़ती या बदलती रहती है।

यहां तक आ कर कोई व्यक्ति, यह आपत्ति उठा सकता है कि, यह लक्षण औपन्यासिक या काव्यात्मक आख्यानों की विशिष्टता है, एक 'खेल', जिसमें 'अर्ध–आख्यान' भागीदारी करते हैं। दरअस्ल, हालाँकि, वे सारे आख्यान, जो ऑथर के प्रकार्य से सम्बन्धित हैं, इस स्व की बहुवचनता रखते हैं। वह स्व जो कि गणित के शोध–प्रबन्ध की प्रस्तावना में बोलता है– और जो उस शोध–प्रबन्ध के संयोजन की परिस्थितियों की तरफ संकेत करता है– न तो वह अपनी स्थिति में और न ही अपनी कार्य प्रणाली में, उस स्व के समान है, जो एक आख्यान के दौरान बोलता है, और जो 'मैं इस निष्कर्ष पर आता हूँ' या 'मैं यह अनुमान लगता हूँ' के रूप में सामने आता है। पहले उदाहरण में, 'मैं' उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है, जिसका कोई समकक्ष नहीं है, जो एक निश्चित काल और दिक् में, किसी कार्य को फलीभूत कर्ता है। दूसरे उदाहरण के 'मैं' में, यह एक और घटना–प्रसंग के प्रदर्शन के स्तर की ओर संकेत करता है, जो कोई भी व्यक्ति दे सकता है, जोकि उन समान संकेतों की व्यवस्था और मूल्य–मीमांसा को स्वीकार करता हो। हम उसी शोध–प्रबन्ध में, एक तीसरे आत्म को भी ढूँढ सकते हैं, वह आत्म जो कि शोध–प्रबन्ध के अर्थ को समझाने के लिए, जो व्यवधानों से भिड़न्त करता है, जो परिणाम आए, और शेष समस्याओं के बारे में बोलता है यह आत्म 'पूर्व से ही उपस्थित' या 'जो अभी प्रकट

होने वाला है' उस गणित के क्षेत्र के बारे में बोलता है। ऑथर का प्रकार्य, इन तीनों 'आत्म' में से पहले वाले 'आत्म' के द्वारा, बाकी दूसरे दोनों 'आत्म' के बल बूते पर, क्योंकि अगर ऐसा होता तो वह, पहले 'आत्म'का बाकी दोनों 'आत्म' में कल्पित विखंडन होने के अलावा और कुछ नहीं होता। परंतु, इसके उलट, इन आख्यानों में, ऑथर का प्रकार्य इस तरह कार्य करता है कि इन तीनों 'आत्म' की व्याप्ति पर एक ही साथ प्रभाव डाल सके।

निस्संदेह, विश्लेषण ऑथर के प्रकार्य के कुछ और चारित्रिक लक्षणों को खोज सकता है। परंतु, मैं अपने आप को इन चार चारित्रिक लक्षणों तक ही सीमित रखूँगा, क्योंकि, ये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और सबसे अधिक दृष्टव्य भी। वे चार चारित्रिक लक्षण इस प्रकार हैं (1) ऑथर का प्रकार्य उस न्यायिक और संस्थागत प्रणाली से संबद्ध है, जो कि, आख्यानों के विश्व को घेरता है, निर्धारित करता है, और समन्वित करता है। (2) यह सारे आख्यानों को, एक ही समय में और सारे प्रकार की सभ्यताओं में, एक ही समान व्यवहार नहीं करता है। (3) यह आख्यान के सृष्टा के आकस्मिक आरोपण से नहीं, बल्कि, विशिष्ट और जटिल प्रक्रियाओं की श्रृंखला के द्वारा परिभाषित है। (4) यह शुद्धतः और सहज ही किसी व्यक्ति को सन्दर्भित नहीं करता है, क्योंकि यह एक साथ बहुतेरे 'आत्म' और बहुतेरे विषयों को उपजा नहीं सकता है।

इस बिन्दु तक मैंने अपना विषय कुछ ज्यादा ही सीमित रखा। निश्चित रूप से चित्रकला, संगीत, और दूसरे अन्य कलाओं के ऑथर के प्रकार्य पर भी जिरह की जाना चाहिए, परंतु, अगर हम यह मानकर भी चलें कि हम आख्यानों के जगत तक ही सीमित रहें, जैसा कि मैं करना चाहता हूँ, तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने "ऑथर" को बहुत संकीर्ण अर्थ प्रदान किया है। मैंने ऑथर को, जिसे एक पाठ, एक पुस्तक या रचना से वैधता के साथ जोड़ा जा सके, उस सीमित अर्थ में विवेचित किया है। यह देखना अत्यंत सरल है कि आख्यान के दायरे में, व्यक्ति पुस्तकों के अलावा और भी कई वस्तुओं का ऑथर हो सकता है–कोई किसी सिद्धांत का, किसी परंपरा का, या किसी अनुशासन का ऑथर हो सकता है, जिसमें दूसरी कई किताबें और नतीजतन अपनी जगह बना सकें। ये ऑथर उस स्थिति में हैं, जिसे हम तर्कातीत कह सकते हैं। निश्चिंत रूप से यह ऑथर हमारी सभ्यता जितना पुराना है। होमर, अरस्तू, या चर्च के पादरी, और साथ ही साथ, पहले गणितज्ञ और हिप्पोक्रेटिक परंपरा के प्रवर्तक, इन सबने यह भूमिका निभाई है।

इसके अलावा, उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान, योरप में, एक दूसरे, अधिक अभिनव प्रकार के ऑथर का उदय हुआ, जिसे हमें न तो 'महान' साहित्यिक ऑथर से भ्रमित किया जाना चाहिए, और न ही धार्मिक पाठों के ऑथरों से, और न ही विज्ञान के प्रतिष्ठापकों से। कुछ ऐच्छिक रूप में हम, इस आखरी समूह में आने वाले लोगों को, हम 'तर्कमूलकता के प्रतिष्ठापक' कह सकते हैं। यह समूह इस प्रकार से अनोखा है कि, इस समूह के लोग, न केवल अपनी कृतियों के ऑथर हैं, बल्कि उन्होंने कुछ और उत्पन्न किया है, वह है, दूसरे अन्य पाठों की निर्मिति की 'संभावनाएं और नियम' उत्पन्न किए हैं। इस अर्थ में, वे बहुत भिन्न हैं, जैसे उदाहरण के लिए, किसी उपन्यासकार से, जो कि सिर्फ अपनी कृति का ऑथर होने के अलावा कुछ और नहीं है। फ्रायड, सिर्फ The Interpretation of Dreams या Jokes and Their Relation to the Unconscious ही ऑथर ही नहीं हैं, मार्क्स, सिर्फ Communist Manifesto या Das

Kapital ही ऑथर नहीं हैं बल्कि, इन दोनों ने, आख्यानों की एक अनंत संभावना को स्थापित किया है।

जाहिर है, आपत्ति उठाना आसान है। कोई यह कह सकता है कि यह सच नहीं है कि एक उपन्यास का ऑथर, सिर्फ उसके लिखे हुए पाठ का ही ऑथर है, एक अर्थ में वह, बशर्ते कि वह कुछ 'महत्त्व' हासिल कर ले, उससे कहीं अधिक नियमित और आदेशित करता है। अगर हम एक सरल उदाहरण लें, हम यह कह सकते हैं कि, एन रेड्क्लिफ ने The Castle of Athlin and Dunbayne और अन्य उपन्यास ही नहीं लिखे, बल्कि, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गौथिक हॉरर उपन्यासों के सृजन को संभव बनाया। उस संदर्भ में, उनका ऑथर का प्रकार्य उनके स्वयं के काम से कहीं अधिक है। परंतु, मेरे सोचने में इस आपत्ति का एक उत्तर है। उन 'तर्कमूलकता के प्रतिष्ठापकों' (मैंने यहाँ फ्रायड और मार्क्स का उदाहरण दिया है, क्योंकि मैं उन्हें, दोनों, सबसे पहले और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रसंग मानता हूँ) ने ऐसा कुछ सर्वथा भिन्न संभव बनाया, उससे, जो कि एक उपन्यासकार संभव बनाता है। एन रेड्क्लिफ के पाठों ने, एक प्रकार की, उस साम्य और अनुरूपता के लिए रास्ता खोला, जिनका आदर्श या सिद्धान्त उनके लेखन में था। जबकि फ्रायड और मार्क्स का काम उन विलक्षण संकेतों, रूपों, संबंध और ढाँचे समाहित किए हुए है जो कि अन्य ऑथर अपनी रचना में पुनः प्रयोग में ला सकते हैं। यानि, दूसरे शब्दों में, यह कहना कि एन रेड्क्लिफ ने गौथिक हॉरर उपन्यास की नींव डाली, इसका अर्थ होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के गौथिक उपन्यास में, हमें वह सब मिलेगा, जैसा कि हमें एन रेड्क्लिफ के उपन्यास में मिलता है, यानि कि अपनी अबोधता के पाश में फँसी हुई नायिका, गुप्त किला, और एक विषादी, अभिशप्त नायक, जो कि उसकी साथ की गई बुराइयों का जगत के द्वारा क्षतिपूर्ति कराने के लिए समर्पित है, और ऐसा ही बाकी सारा तामझाम।

वहीं दूसरी ओर, जब मैं मार्क्स या फ्रायड के बारे में 'तर्कमूलकता के प्रतिष्ठापकों' के रूप में बात करता हूँ, तो मेरा यह अर्थ होता है कि उन्होंने न केवल कुछेक अनुरूपताएँ संभव बनाईं, बल्कि (और उतनी ही महत्त्वपूर्ण), कुछ अंतरों को भी संभव बनाया। उन्होंने 'कुछ ऐसे' की संभावना बनाई जो कि उनके अपने आख्यानों के अलावा है, फिर भी, उनके द्वारा स्थापित किए से संबद्ध है। यह कहना कि फ्रायड ने मनोविश्लेषण की नींव डाली, इसका अर्थ (सिर्फ) यह नहीं है कि, हम काम–लिप्सा की संकल्पना या स्वप्न विश्लेषण की तकनीक कार्ल अब्राहम या मेलनी क्लाईन के काम में पाते हैं। इसका मतलब यह है कि, फ्रायड ने –स्वयं के पाठों, संकल्पनाओं और प्रकल्पनाओं के संदर्भ में– कुछेक विस्तारों को, जो कि मनोविश्लेषणात्मक आख्यान से उदित होती हैं, उन्हें संभव बनाया।

यह, हालाँकि, एक नई कठिनाई खड़ी करता है। उपरोक्त जो कहा गया है, क्या वह, आखिरकार, विज्ञान के किसी भी प्रतिष्ठापक या ऐसा कोई भी ऑथर जिसने कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन विज्ञान में प्रस्तावित किया हो, उस पर खरा नहीं उतरता? आखिरकार, गेलैलियो ने, न केवल वे आख्यान संभव बनाए थे, जो उनके द्वारा सूत्रबद्ध किए हुए नियमों को दुहराते थे, परंतु, वे वक्तव्य भी संभव बनाए थे, जो उनके स्वयं के कहे से बहुत भिन्न थे। अगर क्यूविए, जीव विज्ञान के प्रतिष्ठापक हैं, या सास्यूर, भाषा विज्ञान के प्रतिष्ठापक हैं, तो वे इसलिए नहीं हैं क्योंकि उनका अनुकरण हुआ, और न इसलिए क्योंकि लोगों ने तब के बाद से जीव या संकेतों

की अवधारणा स्वीकार कर ली है, यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि, क्यूविए ने, एक सीमा तक, अपने स्थिरत्व के ठीक विपरीत, उद्‌भव का एक सिद्धान्त संभव बनाया, क्योंकि, सास्यूर ने, अपने ढांचागत विश्लेषण से मौलिक रूप से भिन्न, एक उपजाऊ व्याकरण को संभव बनाया। सतही तौर पर तब, तर्कमूलक व्यवहार की दीक्षा किसी भी वैज्ञानिक उद्यम के प्रतिष्ठापन के समान दिखती है।

फिर भी, कुछ विशिष्ट भिन्नता है। विज्ञान के प्रसंग में, वह कृत्य जो उसे स्थापित करता है, अपने भविष्य के रूपांतरणों के साथ समान आधार पर है। यह कृत्य, एक प्रकार से संशोधनों के उस दल का भाग बन जाता है जो उसे संभव बनाते हैं। निस्संदेह, यह संबद्धता बहुतेरे रूप ले सकती है। विज्ञान के भविष्य के विकास में, प्रतिष्ठापन का कृत्य, किसी अधिक सामान्य सूत्र जो कि स्वयं को इस प्रक्रिया में उजागर करता है, के विशिष्ट दृष्टांत से थोड़ा अधिक भर दिख सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि, यह पूर्वाभास और अनुभवजन्य पूर्वाग्रह के कारण भंग हो जाए तब उसे कुछेक पूरक सैद्धान्तिक प्रक्रियाओं की वस्तु बना कर, पुनर्सूत्रबद्ध करना होगा, ताकि वे उसे कठोरता से स्थापित कर सकें। अंत में, यह एक त्वरित सामान्यीकरण लग सकता है, जो कि बहुत सीमित होना चाहिए, और जिसके सीमित क्षेत्र की वैधानिकता का पुनरानुसरण किया जाना चाहिए। यानि, दूसरे शब्दों में, विज्ञान के प्रतिष्ठापन के कृत्य सर्वदा उन रूपांतरणों के यंत्रों के भीतर पुनः प्रवेश किया जा सकता है, जो उससे व्युत्पन्न होते हैं।

इसके विरोधाभास में, किसी विमर्शात्मक चेष्टा की शुरुआत, अपने आगामी रूपांतरों के प्रति विजातीय है। किसी प्रकार की विमर्शता का विस्तार करना, जैसे कि फ्रायड द्वारा स्थापित मनोविश्लेषण का, उसे एक औपचारिक समानता जिसकी उसे आरंभ से अनुमति नहीं होती, वह देना नहीं है, बल्कि उसे कुछेक संभावित अनुप्रयोगों के लिए खोलना है। मनोविश्लेषण को एक प्रकार की विमर्शात्मकता के रूप में, सीमित करना, यथार्थ में, ऐसा है जैसे कि उसके प्रतिष्ठापन के कृत्य में एक सीमित संख्या में प्रस्तावक कथन या वक्तव्यों का पृथककरण करना ताकि उन्हें और केवल उन्हें प्रतिष्ठापन का मूल्य दिया जा सके और जिसके संबंध में, फ्रायड द्वारा स्वीकृत की हुई कुछ संकल्पनाएँ और सिद्धांतों को व्युत्पन्न, दोयम, और अनुषंगी माना जा सके। इसके अलावा, इन प्रतिष्ठापकों के काम में हम कुछ प्रस्तावक—कथनों को मिथ्या घोषित नहीं कर सकते। इसके बदले, प्रतिष्ठापन के कृत्य को पकड़ने की कोशिश में, उन वक्तव्यों को दरकिनार कर दिया जाता है, जो कि प्रासंगिक नहीं हैं, क्योंकि वे अनावश्यक हैं या फिर, वे "प्रागैतिहासिक" समझ लिए जाते हैं, और किसी दूसरी प्रकार की विमर्शात्मकता से व्युत्पन्न होते हैं। यानि, दूसरे शब्दों में, विज्ञान की प्रतिष्ठापना से भिन्न, किसी विमर्शात्मक व्यवहार का प्रारम्भ उसके बाद के रूपांतरणों में भागीदारी नहीं रखता।

इसके फलस्वरूप, किसी प्रस्तावना की सिद्धांतपरक वैधानिकता, उसके प्रतिष्ठापकों के काम के संबंध में परिभाषित होती है— जबकि, न्यूटन और गेलैलियो के प्रसंग में, उन महानुभावों के द्वारा रखे गए किसी प्रस्तावना की वैधानिकता की स्वीकृति, भौतिकी या खगोल विज्ञान क्या है (अपने आंतरिक संरचना और "नियामकता" में) इस संबंध में होता है। अगर इसे सुसंगत रखें तो विमर्शात्मकता के प्रवर्तकों का काम उस दिक में अवस्थित नहीं है, जिसे विज्ञान परिभाषित करता है बल्कि, यह विज्ञान या विमर्शात्मकता है जो कि उनके काम को पुनर्संदर्भित करती है।

इस प्रकार से हम, इन विमर्शात्मकता के क्षेत्र के भीतर "उत्पत्ति की और पुनरागमन" करने की अवश्यंभावी आवश्यकता को समझ सकते हैं। यह पुनरागमन, जो कि स्वयं इस विमर्शात्मक क्षेत्र का भाग है, उसे कभी संशोधित करना बंद नहीं करता। यह पुनरागमन, एक ऐतिहासिक पूरक नहीं है। जो कि विमर्शात्मकता में जोड़ा जाएगा, या महज एक आभूषण भी नहीं है बल्कि इसके विपरीत, यह विमर्शात्मक व्यवहार को रूपांतरित करने का एक प्रभावी और आवश्यक कार्य संगठित करता है। गेलैलियो के पाठों का पुनरान्वेषण, संभवतः हमारे यांत्रिकी के इतिहास में परिवर्तन कर दे, परंतु, वह, यांत्रिकी स्वयं में परिवर्तन नहीं कर सकेगा। वहीं, दूसरी ओर, फ्रायड के पाठों का पुनरान्वेषण, स्वयं मनोविश्लेषण को संशोधित कर देगा, ठीक वैसे ही जैसे मार्क्स के पाठों का पुनरान्वेषण मार्क्सवाद को संशोधित कर देगा।

विमर्शात्मक व्यवहारों के आरंभ के संदर्भ में मैंने अभी जो रेखांकित किया, वह निस्संदेह काफी ढांचागत है यह, विमर्शात्मक दीक्षा और वैज्ञानिक प्रतिष्ठापन के विरोधाभासों को चित्रित करने में, विशेष रूप से, सत्य है। इन दोनों को विलग करना सर्वदा सरल नहीं होता, इसके साथ ही साथ, ऐसा कुछ भी नहीं है जो यह प्रामाणित करता हो कि दोनों परस्पर असम्मिलित प्रक्रियाएँ हैं। मैंने इस अंतर का प्रयास सिर्फ एक कारण से किया है लेखक का प्रकार्य, जो वैसे ही जटिल है जब उसे किसी पुस्तक या पाठ श्रृंखला जो कि एक दिया हुआ हस्ताक्षर अपने साथ लेकर चलती हैं, उनके स्तर पर स्थित करने का प्रयास किया जाता है, तब अगर वृहद इकाइयों में जैसे कि कृतियों के समूह या समूचे अनुशासनों, में उसके विश्लेषण का प्रयास होता है तो वह और भी कई अधिक निरूपण करने वाले कारकों को सम्मिलित करता है।

समापन के लिए, मैं उन कारणों की समीक्षा करना चाहूँगा जिनके कारण मैं अपने कहे को महत्त्व देता हूँ।

पहला, कई सैद्धान्तिक कारण हैं। जो दिशा मैंने रेखांकित की है, उस दिशा में विश्लेषण, किसी आख्यान के वर्गीकरण के लिए दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कम से कम प्रथम दृष्टि में, कि ऐसा वर्गीकरण सिर्फ वैयाकरणिक वैशिष्ट्य, औपचारिक संरचनाओं और आख्यानों की वस्तुओं भर से निर्मित नहीं किया जा सकता। बल्कि संभवतः ऐसे गुणधर्म या संबंध अस्तित्व में हैं (जो व्याकरण और तर्क के नियमों में विघटित करने योग्य नहीं हैं), आख्यान के विशेषक हैं, और उन्हें प्रयोग में लाकर ही आख्यानों की प्रधान श्रेणियों में भेद किया जा सकता है। ऑथर के साथ संबंध (या असंबंध), और कई विभिन्न रूप जो यह संबंध लेते हैं, काफी दृष्टिगोचर हैं । इनमें विमर्शात्मक गुण–धर्मों में से किसी एक को ऑथर से सम्बद्ध करके देखा जा सकता है।

वहीं दूसरी ओर,यहाँ पर हमें आख्यानों के ऐतिहासिक विश्लेषण का परिचय भी मिल सकता है। शायद, अब आख्यानों को न केवल उनके अभिव्यक्तात्मक मूल्य या औपचारिक रूपांतरणों की परिभाषा में, बल्कि उनके अस्तित्व की रीति के अनुरूप अध्ययन करने का समय आ गया है। आख्यानों के प्रचलन, मूल्यवर्धन, आरोपण और विनियोग की रीतियाँ, हर संस्कृति के साथ बदलती हैं और हर संस्कृति के भीतर संशोधित भी होती हैं। जिस प्रकार से वे सामाजिक सम्बन्धों के अनुरूप स्पष्ट होते हैं, मैं समझता हूँ, वह बहुत सरलता से समझा जा सकता है, ऑथर के प्रकार्य की गतिविधि और उसमें हुए संशोधनों से, बजाए आख्यानों के द्वारा

प्रचलित किए गए विषयों और अवधारणाओं के।

इससे ऐसा लगता है कि, इस प्रकार के विश्लेषणों से प्रारम्भ करके, विषय के विशेषाधिकारों का भी पुनरानवीक्षण किया जा सकता है। मैं यह समझता हूँ कि, किसी कृति (भले ही वह साहित्यिक पाठ, दार्शनिक व्यवस्था, या वैज्ञानिक कृति हो) के आंतरिक और स्थापत्य–विषयक विश्लेषण का उत्तरदायित्व उठाना, जीवनात्मक और मनोवैज्ञानिक संदर्भों को दरकिनार करते हुए, हमने विषय के प्रतिष्ठापन की भूमिका और सम्पूर्ण चरित्र पर प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं। फिर भी, शायद हमें इस प्रश्न पर पुनः लौटना चाहिए, किसी जन्मना वस्तु के विषय को पुनर्स्थापित करने के लिए नहीं, बल्कि, विषय की प्रविष्टि के द्वारों, कार्यप्रणाली के प्रकार, और निर्भरताओं की व्यवस्था पर अपनी पकड़ सुदृढ़ करने के लिए। ऐसा करने का अर्थ है, पारंपरिक समस्या को उलटना और उन प्रश्नों को नहीं उठाना जैसे कि कोई स्वतंत्र विषय कैसे वस्तुओं के सार–तत्व का भेदन कर सकता है और उन्हें अर्थ प्रदान कर सकता है? वह कैसे भाषा के नियमों को भीतर से सक्रिय कर सकता है और उन परिकल्पनाओं का उदय कर सकता है जो कि यथोचित रूप से उसकी अपनी हैं? इसके बदले, ये प्रश्न उठाए जाएंगे किसी व्याख्यान के क्रम में, विषय जैसा कुछ, किन परिस्थितियों में और किन रूपों में, कैसे प्रकट होगा? संक्षेप में, यह विषय को उसके व्युत्पक की भूमिका से वंचित करने का प्रसंग है और विषय का आख्यान के एक परिवर्तनशील और एक जटिल कृत्य के रूप में विश्लेषण करने का मसला है।

दूसरा, ऑथर के "विचारधारात्मक" प्रतिष्ठा से व्यवहार करने के कई कारण हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि कोई कैसे उस अति जोखिम को, कम कर सकता है, जिससे गद्य हमारे जगत को धमकाता है? इसका उत्तर है। इसे ऑथर के साथ घटाया जा सकता है। ऑथर, अभिप्रायों के खतरनाक और कैंसर कारक बहु–प्रसार का उस जगत में सीमाओं की अनुमति देता है, जो पहले से ही, न केवल अपने संसाधनों और संपन्नता के साथ मितव्ययी हैं, बल्कि, अपने आख्यानों और उनके अभिप्रायों के साथ भी मितव्ययी हैं। इसके परिणामस्वरूप, हमें ऑथर का पारंपरिक विचार, पूर्णतः उलटना होगा। हम यह कहने के आदी हैं, जैसा कि हमने पहले देखा, कि ऑथर कृति का आल्हादित सृष्टा है, जिसमें वह, एक अनंत पूंजी और उदारता के साथ, अभिप्रायों का एक असीम विश्व जमा करता है। हम यह सोचने के आदी हैं कि ऑथर दूसरे मनुष्यों से भिन्न है और सारी भाषाओं के संदर्भ में इतना अनुभवातीत है कि जैसे ही वह बोलता है, अर्थ स्वतः ही प्रसारित होना प्रारम्भ हो जाते हैं, सतत् प्रसारित होने के लिए।

सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। ऑथर, किसी कृति को पूरित करने वाली व्यंजकता का एक अनंत स्रोत नहीं है। ऑथर कृतियों को अग्रगामी नहीं करता, वह एक प्रकार का कार्यान्वयन का सिद्धान्त है, जिसे हमारी संस्कृति में, सीमित किया जाता है, बहिष्कृत किया जाता है, और चयन किया जाता है, संक्षेप में, जिसके द्वारा गद्य के स्वतंत्र प्रचलन को, स्वतंत्र रद्दोबदल को, स्वतंत्र संयोजन को, विसंयोजन को, और पुनरसंयोजन को, बाधित किया जाता है। दरअस्ल, हम ऑथर को एक जीनियस के रूप में, एक आविष्कार के सतत फैलाव के रूप में, प्रस्तुत करने के आदी हैं, क्योंकि, यथार्थ में, हम उसे ठीक विपरीत रूप में कार्य करने देते हैं। यह कहा जा सकता है कि ऑथर एक विचारधारात्मक उत्पाद है, क्योंकि, हम उसका, उसके ऐतिहासिक रूप

से वास्तविक कार्य के विपरीत प्रतिनिधित्व करते हैं। (जब ऐतिहासिक रूप से दिया गया कार्यभार का उस रूप में प्रतिनिधित्व होता है जो कि उसे उलटाता है, तब विचारधारात्मक उत्पादन होता है।) ऑथर, इसलिए वह विचारधारात्मक आकृति है, जिससे काम करने का वह तरीका चिह्नित होता है जिसमें हम अर्थ के प्रसारण से भयभीत होते हैं।

यह कहने में, ऐसा लगता है कि, मैं, संस्कृति के उस रूप की दरकार कर रहा हूँ जिसमें, गद्य, ऑथर की छवि के द्वारा सीमित नहीं होगा। हालाँकि, ऐसी संस्कृति की कल्पना करना जिसमें गद्य निरंकुश स्वतंत्र अवस्था में कार्य करे, जिसमें गद्य सबके निर्धारण पर हो और जो किसी आवश्यक या संतुलनात्मक जैसे कुछ रूप से गुजरे हुए बिना कल्पनाजन्य, शुद्ध रूमानीवाद होगा। हालाँकि, अठारहवीं शताब्दी से, ऑथर ने गद्य के नियंत्रक की भूमिका निभाई है, वह भूमिका जो कि हमारी औद्योगिक और बुर्जुआजी समाज के समय का, व्यक्तिवाद और निजी संपत्ति का, निरा लक्षण है फिर भी, ऐतिहासिक संशोधन जो कि घट रहे हैं, उनके चलते, ऐसा आवश्यक नहीं लगता कि ऑथर का प्रकार्य, अपने रूप, जटिलता, और यहाँ तक कि अपने अस्तित्व में सतत् रहे। मैं सोचता हूँ कि, जैसे हमारा समाज परिवर्तन के दौर से गुजरता है, ठीक उसी क्षण में जब वह परिवर्तन की प्रक्रिया में होता है, ऑथर का प्रकार्य विलोपित हो जाएगा, और इस प्रकार से विलोपित होगा कि, गद्य और उसके अर्थ–बहुल पाठ, पुनः एक बार एक दूसरे प्रकार के मुताबिक कार्य करेंगे, परंतु फिर भी, परिसीमाओं के एक तंत्र के साथ– वह जो कि ऑथर नहीं होगा, परंतु, जिसे निर्धारित या शायद अनुभव करना होगा।

सारे आख्यान, जो भी उनकी प्रतिष्ठा, या मूल्य, या रूप, हो और जिस भी व्यवहार के वे सामने किए जाएंगे, तब वे एक गुनगुनाहट की अनामता विकसित कर लेंगे। तब हमें वे प्रश्न नहीं सुनाई पड़ेंगे, जो काफी अरसे से पुनर्प्रचलित किए जा रहे हैं 'वास्तव में कौन बोला?' क्या सचमुच में वह था और कोई और तो न था? किस प्रामाणिक मौलिकता से? और अपने गहनतम स्वत्व के किस भाग को उन्होंने अपने आख्यानों में अभिव्यक्त किया? बजाए इनके, दूसरे प्रश्न होंगे, जैसे कि इस आख्यान के अस्तित्व के कौन से प्रकार हैं? यह कहाँ प्रयोग में लाया जा चुका है, यह कैसे प्रचालन में आ सकता है, और कौन इसे स्वयं के लिए युक्तियुक्त कर सकता है? इसमें ऐसी कौन सी जगहें हैं, जहाँ संभावित विषयों के लिए जगह हो सकती है? कौन इन विभिन्न विषय कार्यभारों का भार उठा सकता है? और इन सारे प्रश्नों के पीछे, हम एक विरक्ति की एक थरथराहट के अलावा शायद ही कुछ और सुन पाएँ।

क्या फर्क पड़ता है कि कौन बोल रहा है?

मिशेल फूको

साहित्य की भाषा क्या है ?

साहित्य में, जब भी 'भाषा' की बात उठती है, तो आलोचक–बिरादरी, समवेत स्वर में, कार्ल सैण्ड्बर्ग की बात दुहराते हुए कहते रहे हैं कि, 'उसे, अधिकतम लोगों से अधिकतम तादात्म्य करने वाली होना चाहिये' अर्थात् काव्य–भाषा हो या कथा–भाषा, उसमें सम्प्रेषण को प्राथमिक शर्त माना जाता है। जबकि, उत्तर–आधुनिक विचारकों का कहना है कि, 'सम्प्रेषण' शब्द, साहित्य का नहीं, समाजशास्त्र का है, और एक कृति की चिंता के केंद्र में यह शब्द, वह नहीं है। कृति की चिन्ता दूसरी है। सबसे पहले तो वह अपने 'होने' की चिंता करती है, बाद इसके वह स्वयं 'कर्ता' के विरुद्ध भिड़न्त लेती है। वह मूलतः अपने आत्यन्तिक आशय में, 'भाषा' हो जाना चाहती है, लेकिन, वह वैसी भाषा नहीं होना चाहती है, जिसमें, 'सरलता' उसकी और उसके भीतर से 'रचे जाने वाले' के जीवन–मरण की शर्त बना दी जाये। यहाँ उसके, 'मेटाफोरिक' और 'मेटानिमिक' होने का द्वन्द्व भी नहीं है। बल्कि, ऐसी 'आत्म–सजग भाषा, जिससे बाहर कुछ भी नहीं है। वह 'स्वयंसिद्धा' है। वह एक अतिक्राम्य भाषा है, जो अपने को ही आविष्कृत करने की जद्दोजहद में होती है––'जो एक असम्भाव्य में, भाषा के उस 'स्पेस' को दृश्य बनाती है, जो कहीं छुपा हुआ है। 'भाषा' का वह अदृश्य 'स्पेस', जो न केवल मलार्मे के लेखन में विद्यमान है, बल्कि, हर उस रचनाकार के लेखन में उसका 'होना' जरूरी है, जिसे कि हम पढ़ना चाहते हैं, वही रचने की वास्तविक गुंजाइश बनाती है।

पॉल डी मान ने, अपनी किताब 'ब्लाइण्डनेस एण्ड इनसाइट' में, आलोचना की, जिस भाषा की चर्चा की है, मिशेल फूको, उसको एक नया आयाम देते हैं। प्रस्तुत व्याख्यान में उन्होंने, साहित्य की भाषा पर विचार करते हुए, जिस दार्शनिकता के साथ, अपनी स्थापनाएँ दी हैं, इससे पूरी नव–आलोचना प्रभावित और प्रेरित रही है। कहना चाहिए कि, उत्तर– आलोचनात्मक विवेक को उन्होंने, प्रतिमानित करते हुए, कुछ बुनियादी प्रश्न उठाए हैं, जो एक गंभीर सर्जक को पुनर्विचार के लिए प्रेरित करते हैं। –अनुवादक

कल मैंने, साहित्य के बारे में कई विचारों को प्रस्तुत किया और उस वैपरीत्य और सादृश्य प्राणी की प्रस्तुति की कोशिश की, जिसे पुस्तक रूप में साकार भी कर दिया गया है। आज इस शाम को, मैं साहित्य के बारे में दिये गए अपने वक्तव्यों को, किंचित् ध्वस्त करूँगा। ऐसे में पूछा जा सकता है कि आखिरकार, साहित्य के बारे में बोलना, इतना स्पष्ट, इतना प्रकट, और क्या सचमुच ही इतना तात्कालिक है? क्योंकि, जब हम साहित्य के बारे में सम्वाद करते हैं, तब हमारे पास किस प्रकार का धरातल होता है? कैसा क्षितिज होता है? निस्सन्देह, साहित्य के चतुर्दिक, एक शून्य के अलावा कुछ और नहीं, जिसके फलित ऐसा कुछ है, जो कि लगभग काफी और संभवतः अनोखा भी है, या कहें कि साहित्य एक ऐसी अनन्त भाषा है जो कि हमको एक अन्तहीन विमर्श की अनुमति देती है।

मैं यहाँ, इस बिन्दु पर पहुँच कर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना चाहूँगा कि यह भाषा के द्वारा साहित्य का, साहित्य के बारे में सतत पुनर्प्रतिलिपिकरण क्या है? यह साहित्य की कैसी भाषा है, जो कि, भाष्यों, टिप्पणियों, प्रति–टिप्पणियों और इस तरह से निरन्तर द्विगुणन को जन्म देती है? समस्या, मुझे ऐसा लगता है कि स्पष्ट नहीं है। यह अपने आप में ही बहुत स्पष्ट नहीं है, और मुझे ऐसा भी लगता है कि पहले की अपेक्षा आज के समय में तो यह और भी अस्पष्ट है।

मेरे ऐसा मानने के पीछे बहुतेरे कारण हैं। पहला तो यह कि जिसे हम आलोचना कहते हैं, उसमें हाल ही में, काफी कुछ परिवर्तन आ चुका है। हम यह कह सकते हैं कि आलोचनात्मक भाषा की परत, समकाल में, पहले से कहीं अधिक जटिल हो गई है। आज के बनिस्बत, कभी यह 'दूसरी भाषा' जिसे हम आलोचना के नाम से जानते हैं, इतनी बहुलता से प्रयोग में नहीं लाई गई है और न ही परस्पर रूप में, पूर्णतः 'प्रथम भाषा' भाषा जो कि, स्वयं के बारे में बोलती है और स्वयं के ही नाम का जाप करती है, आनुपातिक रूप से, कभी इतनी जटिलतम नहीं रही है जितनी की वह आज, हमारे मौजूदा समय में है।

फिर भी, यह सघनता, यह आलोचना–कर्म का निरन्तर गुणन, एक विरोधाभासी तथ्य के साथ सम्बद्ध है। यह सम्बद्धता, जो यहाँ विद्यमान आलोचक की छवि यानि, 'होमो क्रिटिक्स', जिसका आविष्कार तकरीबन उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास, 'ला आर्प' और 'सेन्त बव' के मध्य हुआ था, ठीक उन्हीं क्षणों से, वह निरन्तर मिटाये जाने की प्रक्रिया में है, जब आलोचना के प्रकार्यों की संख्या में अभिवृद्धि आरम्भ हुई है।

इस कथन से मेरा कुल आशय यह है कि आलोचना का काम आलोचना को समर्पित 'पाठों' में अटके न रह कर, अब स्वयं के प्रसार या कहें कि एक बड़ी व्याप्ति में आ गया है। ऐसे प्रकार्य अब उपन्यासों, निबन्धों, और संभवतः दर्शन में पाए जाते हैं। आज आलोचना के वास्तविक प्रकार्य रेने शाख की कविताओं या फिर मौरिस ब्लैंशो के वाक्यांशों में मिलते हैं, और या फिर, फ्रांसिस पोंज के पाठों में प्राप्त होते हैं। और,वे भाषा के, उस दिये गए अंश से कहीं अधिक, जो कि प्रकट रूप से, और उसके 'लेखक' के नाम के कारण, 'आलोचना के कार्य' के रूप में निरूपित हैं। हम यह कह सकते हैं कि, आलोचना, आमतौर पर, भाषा का एक सामान्य, असांस्थानिक और कर्ता–विहीन प्रकार्य बन गया है।

और इस सब के बावजूद, यह तीसरा तथ्य होगा जो कि, 'समकालीन आलोचना' को समझने में व्यवधान और दुरूहता उत्पन्न करेगा। फिर भी, आज, एक नया तथ्य सामने आया है, और वह है हमने, हर भाषा में, एक संबंध का, और जो कि किसी भी प्रकार से आलोचना का नहीं है, का संस्थापन देखा है। और, जो किसी भी प्रकार से, परम्परागत आलोचना से सुसंगत नहीं है, यह आकलन करने वाली, यह श्रेणीबद्ध करने वाली संस्था, यह मध्यस्थ संस्था, जो कि, 'सृजनात्मक भाषा', 'सृजनात्मक लेखक', और 'लोग' (पाठक), जिसे सिर्फ उपभोक्ता की तरह देखा जाता है, के बीच बन गया है। आज, जिसे हम कह सकते हैं 'प्रथम भाषा', और जिसे हम सिर्फ 'साहित्य' कह सकते हैं, और यह 'दूसरी भाषा', जो कि साहित्य के बारे में बात करती है, और जिसे हम 'आलोचना' कहते हैं, इन तीनों के बीच एक बहुत ही भिन्न सम्बन्ध स्थापित हो गया है। दरअस्ल, आलोचना का इस्तेमाल, साहित्य और स्वयं आलोचना के बीच दो नए तरह के सम्बन्धों की स्थापना के द्वारा हो रहा है।

साहित्य के संदर्भ में, आलोचना, आज उस 'प्रथम भाषा' से संदर्भित होकर, एक प्रकार के वस्तुगत संजाल को स्थापित करना चाहती है, जो कि विमर्शात्मक हो, स्वयं के सारे धरातलों पर न्यायसंगत हो, और प्रदर्शक हो। इसके समान्तर उसमें, आलोचक की सुरुचि, जो कि, अक्सर गुप्त और अप्रकट है, महत्त्वपूर्ण न हो, मूलभूत न हो, बल्कि, आवश्यक रूप से, एक प्रकार की सुस्पष्ट पद्धति का काम कर सके। कहना न होगा कि यह पद्धति, विश्लेषणात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, भाषाई, सैद्धान्तिक, या जो भी हमारे पास हो, औपचारिक रूप में हो सकती है। अतः आप कह सकते हैं कि, आलोचना, 'निश्चयात्मकता' या एक तरह की वैज्ञानिक व्यवस्था के भीतर, स्वयं के लिये ही आधार की समस्या को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में है।

फिर भी, वहीं दूसरी ओर, आलोचना, एक नई भूमिका अदा करती है, और जो कि, उस भूमिका से भिन्न है, जो वह पहले निभाती आ रही थी, जो कि, 'साहित्य' और 'लेखन' के बीच एक मध्यस्थ की भूमिका में थी। लेकिन, अब एक सहज प्रश्न यह उठता है कि सेन्त बव के समय से लेकर आज तक, अन्ततः आलोचना करने का अर्थ क्या होता था? पूर्व में, इसका अर्थ होता था, एक प्रकार का पहला, 'अधिकृत पाठ', एक पाठ (रीडिंग) जो कि दूसरों के 'पढ़े जाने से पूर्व' का है। जो लेखक की रचना– जो कि, अपरिहार्य रूप से थोड़ी अपारदर्शी, दुरूह या गूढ़ है– उस 'दूसरी श्रेणी' के पाठक (जिसमें कि हम सब सम्मिलित हैं) को समझ पाने के लिए बोधगम्य बनाती है। इसी हेतु ही आलोचना की आवश्यकता है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो, आलोचना एक प्रकार से, 'रचना' के पाठ का, एक विशेषाधिकार प्राप्त, परम, और प्रथम रूप है।

मुझे, अब निस्सन्देह ऐसा प्रतीत होता है कि'आलोचना' में, जो महत्त्वपूर्ण है, वह यह है जैसे कि अब 'आलोचना' स्वयं ही लेखन (सृजनात्मक) की दिशा में अग्रसर होने की प्रक्रिया में है। और ऐसा दो प्रकारों से होता है। पहला, क्योंकि आलोचना की उत्सुकता, अब रचना के सृजन के मनोवैज्ञानिक क्षण को जानने में नहीं है, बल्कि, स्वयं 'लेखन' ही है। 'लेखन' की 'संश्लिष्टता' में है, जिसका अपना रूप है, अपने विन्यास हैं। और दूसरा, चूँकि, आलोचना ने, 'पाठ' का एक पूर्व–पठन, या बेहतर तैयार रूप होना बन्द कर दिया है, क्योंकि आलोचना स्वयं अब 'लेखन' होने की प्रक्रिया में है। निस्सन्देह, यह लेखन (आलोचना) जो कि पहले लेखन (सृजनात्मक) के समक्ष दूसरा है, परन्तु, समरूप है। अतः यह लेखन भी अन्य लेखनों की तरह

ही, एक भूल–भुलैया, या अन्तर्ग्रथित बिन्दुओं और कथा–रेखाओं के एक संजाल की निर्मिति करता है। इस लेखन के, ये बिन्दु और कथा–रेखाएँ, आम तौर पर, एक दूसरे को दुहराते हैं, एक दूसरे को काटते हैं, एक दूसरे को ढाँपते हैं, अपनी जगह भी बदलते रहते हैं, अन्ततः, एक 'सम्पूर्ण निरपेक्षता', को बनाने के लिए, जिसे हम 'साहित्य और आलोचना की संपूर्णता' कह सकते हैं–अर्थात् इसे हम कह सकते हैं कि यह है लेखन का वास्तविक तैरता हुआ, दृश्यालेख।

मैं, अब यह अनुमान लगा सकता हूँ कि आप उस 'अस्पष्टता' को समझ सकते हैं जिससे हमें इस 'दूसरी भाषा' को समझने में, विशिष्ट चुनौती का सामना करना पड़ता है जिसे अभी ही साहित्य की 'प्रथम भाषा' से जोड़ा गया है और जो उस प्रथम भाषा से सम्बन्धित, एक पूर्णरूपेण सकारात्मक, पूर्णरूपेण विमर्शात्मक और प्रकट प्रदर्शनीय आख्यान का दावा करती है, और जो कि, एक ही समय में, आलोचना भी है और साहित्य की तरह, 'लेखन' (सृजनात्मक) होने का प्रयास करती है। यहाँ थोड़ी उलझन भी है कि आप कहेंगे कि हम इस अंतर्विरोध का निराकरण कैसे करेंगे? आलोचना, कैसे यह दूसरी भाषा भी है? और वह कैसे साथ ही साथ, एक ही समय में, प्रथम भाषा का दायित्व भी पूरा करती है? अर्थात् साहित्य भी है। मैं, आज, ठीक वही स्पष्ट करना चाहूँगा कि अन्ततः आलोचना क्या है?

अभी हाल ही में, तकरीबन एक दशक पहले से ज्यादा नहीं हुआ होगा जब रोमन जेकब्सन नामक एक भाषाविद् ने, आलोचना की प्रकृति की व्याख्या करने की चेष्टा करते हुए, तर्कशास्त्रियों से एक अवधारणा उधार लेकर, एक 'मेटा–लैंग्विज' की अवधारणा प्रस्तुत की। जेकब्सन, ने कहा कि आलोचना, आमतौर पर, व्याकरण की तरह, शैली विज्ञान की तरह, भाषा विज्ञान की तरह, एक 'मेटा–लैंग्विज' है। निश्चित रूप से, यह बहुत ही सम्मोहक अवधारणा है और प्रथम दृष्टया, यह आलोचना पर लागू करने योग्य भी जान पड़ती है। क्योंकि, 'मेटा–लैंग्विज' की अवधारणा, हमें उन दो गुणधर्मों की उपस्थिति से अवगत कराती है, जो कि, गहराई में जाकर 'आलोचना' को परिभाषित करने के लिए अत्यावश्यक भी है। पहला तो है, किसी एक भाषा के रूपों, उसके सूत्रों, और उसके नियमों को, किसी दूसरी भाषा में परिभाषित करने की सम्भावना। और इस 'मेटा–लैंग्विज'का दूसरा गुणधर्म यह है कि यह 'दूसरी भाषा', जिसमें हम पहली भाषा के रूपों, सूत्रों, और नियमों को परिभाषित करते हैं, यह दूसरी भाषा, जरूरी नहीं है कि 'पहली भाषा' से अभीष्ट में भिन्न हो। क्योंकि, अन्ततः, हम जर्मन, अँग्रेजी, या किसी अन्य भाषा को, फ्रेंच की 'मेटा–लैंग्विज' की तरह प्रयोग में ला सकते हैं। और तो और, हम फ्रेंच को ही, फ्रेंच की 'मेटा–लैंग्विज'' की तरह प्रयोग में ला सकते हैं। हम, इस गुणधर्म को समझने के उद्देश्य के लिए एक सांकेतिक भाषा का आविष्कार भी कर सकते हैं। इसके फलस्वरूप, इस 'पहली भाषा' से परम दूरी की सम्भावना में, हमारे पास, उस एक आख्यान की प्रयुक्ति की पूरी सम्भावना है, जो कि, पूर्णरूपेण विमर्शात्मक हो और फिर भी ,उसी धरातल पर अवस्थित हो, जिस पर कि वह भाषा है।

हालाँकि, मैं आश्वस्त नहीं हूँ कि, 'मेटा–लैंग्विज' की यह अवधारणा, जो कि, कम से कम एक अमूर्त रूप में, उस एक तार्किक स्थल (site) को परिभाषित करती दिखती है, जहाँ कि आलोचना को रखा जा सके। मुझे ऐसा नहीं लगता कि 'आलोचना' को परिभाषित करने के लिए, इस अवधारणा का प्रयोग किया ही जाना चाहिए।'मेटा–लैंग्विज' की अवधारणा के संदर्भ में, इस

मौन की व्याख्या में, शायद हमें उस बात पर लौटना चाहिए, जब हम 'साहित्य' के बारे में विमर्श कर रहे थे। आप को याद होगा कि, पुस्तक, साहित्य के मुकाम के रूप में आई थी, यानि, वह 'स्पेस', जिसमें कोई रचना, साहित्य की 'प्रतिकृति' बन जाती है। कहना चाहिये, 'माया' और उसके 'परावर्तन' की एक लीला बन जाती है, जहाँ पर, अतिक्रमण और मृत्यु, दोनों का प्रश्न था। अगर हम उसी प्रश्न की, भाषाविदों की शब्दावली का प्रयोग करते हुए, पुनराभिव्यक्ति का प्रयास करें, तब शायद हम ऐसा निम्नांकित–सा कुछ कह सकते हैं।

मसलन, 'साहित्य, निश्चित रूप से, 'वाक्य' के, उन अनगिनत तथ्यों जो कि मानवजाति द्वारा प्रभावोत्पादकता के साथ अभिव्यक्त होते हैं, में से एक है। सारे 'वाक् तथ्यों' की तरह, साहित्य, सिर्फ उन्हीं शब्दों (paroles) तक सम्भव है, जहाँ तक वे शब्द, आम तौर पर भाषा से अविभेद्य हैं, उस सामान्य क्षैतिज से, जो कि किसी भाषा के सूत्रों का गठन करता है। अतः, पूरा साहित्य, एक उक्ति के रूप में, सिर्फ उसी भाषा के सन्दर्भ में सम्भव है, सिर्फ उन संरचनाओं और सूत्रों के सन्दर्भ में, जो कि उस भाषा के हर शब्द को एक 'सटीक अभिव्यक्ति' बनाते हैं। वे, उसे पारदर्शी बनाते हुए, उसे समझे जाने की अनुमति देते हैं। अगर वाक्यों का अर्थ है, तो वह इसलिए है, क्योंकि, हर 'वाक्–तथ्य', भाषा के आभासी, परन्तु पूर्णतः सीमित विस्तार में अवस्थित है। निश्चित रूप से, ये सारे विचार अब सर्वविदित हैं।

परन्तु, क्या हम यह नहीं कह सकते कि साहित्य, दूसरे सारे 'वाक्–तथ्यों' से विलग, एक नितान्त अभिनव वाक्–तथ्य है? दरअस्ल, यह बात किंचित् दुरूह लग सकती है कि––'साहित्य, गहराई में जा कर, वह उक्ति है, जो उस सूत्र का जिसमें वह अवस्थित है, उसका सम्भवतः आज्ञापालन तो करती है, परन्तु जो कि, ठीक अपने जन्म के क्षण में, और उन सारे शब्दों में, जो वह अपने 'उद्गार' के लिए प्रयोग में लाती है, उन सूत्रों को संकटग्रस्त करती चलती है, जिसमें वह समझी जाती है। और,जिसमें वह अवस्थित है। यानि, कहने का तात्पर्य यह है कि, जब भी कोई कुछ लिखने के लिए कलम उठाता है, तो यह 'साहित्य' है और उस सीमा तक 'साहित्य' है, जहाँ तक उन सूत्रों का परिसीमन, उस शब्द को लिखने के कृत्य में, स्थगित है, क्योंकि, यह 'स्थगन' ऐसा है कि, एक समय ऐसा भी हो सकता है, जबकि, 'शब्द' स्वयं ही, उन सूत्रों की आज्ञा को पालन करने से इनकार भी कर सकता है। अगर लेखक द्वारा लिखा गया हर शब्द, वास्तव में भाषा के उन सूत्रों के नियमानुसार न हो तो, वह किसी भी प्रकार से समझा न जा सकेगा। वह नितान्त असम्प्रेष्य हो जायेगा। और वह तब निश्चित रूप से 'पागलपन' की भाषा होगी, और शायद, यह आज 'भाषा' (स्मरण रहे, जिसे फूको पहले 'साहित्य' कह चुके हैं–अनुवादक) और 'पागलपन' के बीच के अत्यावश्यक सम्बन्ध का कारण भी है।

'साहित्य और पागलपन', यह एक अलग मुद्दा है, जिस पर हम बाद में कभी चर्चा करेंगे।

फिलहाल, हम सिर्फ यह कह सकते हैं कि साहित्य, हमेशा हर वाक्य के, हर शब्द द्वारा उठाए जाने वाला जोखिम है और हो सकता है कि यह शब्द, या यह वाक्य, या यह बाकी सब, उन सूत्रों के नियमों का अनुसरण न करे। उदाहरण के लिए, इन दो वाक्यों को लीजिये, 'काफी अरसे तक, मैं सोने के लिए बिस्तर पर जल्दी गया' और 'काफी अरसे तक, मैं सोने के लिए बिस्तर पर जल्दी गया।' ध्यान दीजिए कि इसमें पहला वाक्य वह है, जो मैंने कहा है, और दूसरा वाक्य वह है, जो मैंने प्रूस्त की पुस्तक में पढ़ा है। कहना न होगा कि ये दोनों वाक्य, अपने

'वाचिक' रूप में तो निस्सन्देह एक ही समान हैं, परन्तु, यथार्थ में, वे परस्पर गूढ़ रूप से भिन्न हैं। जिस क्षण, In Search of Lost Time में वे शब्द प्रूस्त द्वारा लिखे गए, यह सम्भव है कि उनमें से एक भी शब्द का ठीक वही अर्थ नहीं होगा, जो उन शब्दों का अर्थ आज है। और जिससे हम आज, अपने दैनन्दिन के जीवन में परिचित हैं। शायद यह भी सम्भव है कि, भाषा (वाणी) ने अपने उन सूत्रों को 'स्थगित' कर दिया हो, जिनसे वह उधार ली गई है।

हम यह कह सकते हैं कि, यहाँ पर एक जोखिम है, हमेशा अत्यावश्यक, मूलभूत, हमेशा अनुन्मूलनीय, संरचनात्मक रहस्यवाद का जोखिम। यह भी बहुत सम्भव है कि उन सूत्रों का ही अपेक्षित सम्मान न किया जाये। खैर, बहरहाल, साहित्यिक भाषा के पास, उन सूत्रों के स्थगन का संप्रभुसत्तात्मक अधिकार सर्वदा रहता है, और इस सम्प्रभुता की उपस्थिति, भले ही वह उपयोग में न लाई जाए, साहित्य की रचना की भव्यता और अनिश्चितता की निर्मिति करती है। इस हद तक, मुझे ऐसा नहीं लगता कि साहित्यिक आलोचना की एक विधि के रूप में 'मेटा–लैंग्विज' प्रयोग में लाई जा सकती है या वह उस तार्किक क्षैतिज की तरह प्रस्तावित की जा सकती है, जिसके बरक्स हम आलोचना की कोई पहचान कर सकें। क्योंकि, 'मेटा–लैंग्विज' का विशिष्ट रूप से, यह अभिप्राय निकलता है कि, हमारे पास एक सैद्धान्तिकी है, जिसके अंतर्गत वे सारे उच्चरित शब्द आते हैं, जो कि, भाषा के लिए स्थापित किए गए सूत्रों पर आधारित हैं। तब अगर, वे सूत्र भाषा में संकटग्रस्त होते हैं, अगर किसी समय, वे सूत्र अपना आत्यन्तिक मूल्य खो बैठते हैं, तब उस क्षण, ऐसी भाषा के लिए, 'मेटा–लैंग्विज' की स्थापना करना सम्भव नहीं है। तब हमें अन्य साधनों को खोजना होगा। तब, जबकि हम, 'मेटा–लैंग्विज' की अवधारणा को अपने वास्तविक अभिप्राय के साथ प्रयोग में नहीं ला सकते। तब आखिरकार, फिर प्रश्न उठता है कि ऐसे में, अब हम, साहित्य को ठीक से परिभाषित करने के लिए किस ओर देखें?

यहाँ आकर मैं एक पुनर्विचार का प्रस्ताव करता हूँ। दरअसल, हमें सम्भवतः थोड़ा सन्तुलित होना चाहिए, और बजाये हड़बड़ी में, तर्क से उधार लिए गए, इस धूल–धूसरित शब्द–यानि 'मेटा–लैंग्विज' को बढ़ाने के, हमें एक लगभग अतिसूक्ष्म साक्ष्य को स्वीकार कर लेना चाहिए, जो कि मेरे विचार में सर्वथा निर्णायक है, वह यह कि, भाषा ही इस विश्व में ऐसा जीव है, जिसकी पूर्णरूपेण पुनरावृत्ति हो सकती है।

बेशक, इस जगत में ऐसे और भी जीव हैं जिनकी पुनरावृत्ति हो सकती है, जैसे कि दो एक जैसे प्राणी, दो एक जैसे पौधे। परन्तु, प्राकृतिक व्यवस्था में, पुनरावृत्ति, वास्तव में, एक आंशिक परिचय है, और जो कि इसके अलावा, आसानी से विमर्शात्मक रूप में विश्लेषित की जा सकती है। और भाषा के बहुत कठोर अभिप्राय के बाहर, किसी भी प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं है। और एक दिन हमें, निश्चित रूप से, भाषा में पुनरावृत्ति के सभी रूपों का विश्लेषण करना होगा, और शायद तब पुनरावृत्ति के उन रूपों के विश्लेषण से हम, भाषा की सत्ता–मीमांसा जैसा 'कुछ' रेखांकित कर सकें। परन्तु, अभी के लिए तो हम बस इतना भर कह सकते हैं कि, भाषा कभी स्वयं की पुनरावृत्ति को स्थगित नहीं कर सकती।

भाषाविद्, इस विचार से भलीभाँति परिचित हैं और यह दिखा चुके हैं कि, भाषा की सम्पूर्ण शब्दावली के संगठन के लिए सिर्फ कुछ ही ध्वनि–ग्रामों की आवश्यकता है। वे ही

भाषाविदों, और साथ ही साथ, शब्दकोशों के रचनाकार, यह जानते हैं कि, सारे उद्‌गारों का लेखा–जोखा रखने के लिए कितने कम शब्दों की आवश्यकता होती है, फिर भी हमारे पास, एक असीमित संख्या, जो कि निश्चित रूप से एक मुक्त संख्या है, और ये वे उद्‌गार हैं, जिन्हें हम दैनन्दिन में बोलते हैं। हम लगातार एक पुनरावृत्त ढाँचे को बोलते हैं–ध्वन्यात्मक पुनरुक्ति, शब्दों की अर्थगत पुनरुक्ति। हम यह भी जानते हैं कि, भाषा, जैसे ही बोली जाती है, वह उसी क्षण, जिस क्षण में बोली जाती है, दुहराई भी जा सकती है। हम वही वाक्य कह सकते हैं, हम उसी बात को दूसरे शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं, और ठीक यही वह पुनर्प्रस्तुति है, जो कि, भाष्य, टीका, और आदि आदि को बनाता है। यहाँ तक कि हम भाषा के रूप को भी दुहरा सकते हैं, लगभग पूरी तरह उसके अर्थ को स्थगित करते हुए, और भाषा के सिद्धान्त ठीक यही करते हैं, जब वे भाषा को उसके वैयाकरणिक या आकृतिमूलक संरचना के सहारे दुहराते हैं।

खैर, आप यह देख सकते हैं कि, भाषा ही सम्भवतः एक ऐसा 'होना' है, जिसमें 'पुनरावृत्ति' जैसा 'कुछ' पूर्णरूपेण सम्भव है। भाषा में पुनरावृत्ति का यह तथ्य, निस्सन्देह, भाषा का एक गठनात्मक गुणधर्म है। परन्तु, यह गुणधर्म अपने आप में निरपेक्ष नहीं है, और लेखन के सन्दर्भ में अ–क्रिय भी नहीं है। लेखन का अर्थ, भाषा की अत्यावश्यक पुनरावृत्ति से बच कर निकलना नहीं है। मेरा यह मानना है कि, साहित्यिक अर्थ में लेखन में, पुनरावृत्ति को रचना के मर्म में रखना है। और सम्भवतः हमें यह भी कहना होगा कि पाश्चात्य साहित्य, निस्संदेह क्योंकि, मैं दूसरे अन्य साहित्यों से अनभिज्ञ हूँ और मैं नहीं जानता कि मैं, उनके बारे में क्या कह सकता हूँ– तो पाश्चात्य साहित्य का आरम्भ होमर से हुआ होगा, जिन्होंने The Odyssey में पुनरावृत्ति की अद्‌भुत संरचना का प्रयोग किया है। आप The Odyssey की पुस्तक 8 को याद कीजिये, जहाँ हम, यूलिसिस को Phaeacians के मध्य पाते हैं, परन्तु, जहाँ उन्होंने अभी यूलिसिस को पहचाना नहीं है। यूलिसिस को Phaeacians ने एक भोज में आमन्त्रित किया गया है परन्तु कोई उसे पहचानता नहीं है। क्रीड़ाओं में उसका बल, उसके विरोधियों पर उसकी विजय ही, वे प्रसंग हैं जो कि यह दर्शाते हैं कि वह पराक्रमी है, परन्तु ये भी उसकी वास्तविक पहचान को उद्‌घाटित नहीं करते हैं। इसलिए, वह उपस्थित भी है और गुप्त भी। और उस भोज के मध्य, एक भाट आता है, और वह भाट, यूलिसिस की शौर्यगाथाएँ गाने आया है, वह यूलिसिस के कारनामों के गीत गाने आया है, वे शौर्यगाथाएँ और कारनामे, जो कि भाट की आँखों के सामने घटित हुए हैं, क्योंकि यूलिसिस वहाँ उपस्थित है। वे कारनामे, जो कि अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं, अतः अपने ही वृत्तान्त में, एक उपाख्यान की तरह समाहित हैं। क्योंकि, यह यूलिसिस की शौर्यगाथाओं का एक भाग है कि किसी भी क्षण, वह (यूलिसिस स्वयं) एक भाट को यूलिसिस की शौर्यगाथाएँ गाते हुए सुनेगा। और इस प्रकार, The Odyssey स्वयं अपने ही भीतर पुनरावृत्त होती है, उसके केंद्र में एक प्रकार का दर्पण है, अपनी ही भाषा के मर्म में, इसी कारण, होमर का पाठ, अपनी ही ओर मुड़ता है, अपने ही केंद्र को लपेटता हुआ या अपने ही केंद्र के इर्दगिर्द खुलता हुआ, और वह उस गति में पुनरावृत्त होता है, जो कि उसके स्वयं के लिए अत्यावश्यक है। मुझे ऐसा लगता है कि, यह संरचना, जिसे कि हम बहुधा पाते हैं– जैसे कि उदाहरण के लिए हम इसे The Arabian Nights में पाते हैं, जहाँ एक रात की कथा, जिसे कि हम बहुधा पाते हैं, शहरजाद के द्वारा सुल्तान को किस्सा–ए–हजार रात सुनाने की कथा

है ताकि वह मृत्यु से बच सके– संभवतः यह प्रकारान्तर से साहित्य के अस्तित्व का संघटक है, सारे साहित्यों का नहीं तो कम से कम पाश्चात्य साहित्य का तो है ही।

यह सम्भव है, या शायद निश्चित है, कि यह पुनरावृत्त संरचना और आन्तरिक पुनरावृत्ति की संरचना जिसे हम आधुनिक साहित्य में पाते हैं, में एक महत्त्वपूर्ण पृथकत्व है। The Odyssey में, हम भाट का एक अनन्त गीत पाते हैं, जो एक प्रकार से, निरन्तर यूलिसिस का पीछा करके, उसे पकड़ने की कोशिश करता रहता है, और इसके साथ, एक ही समय में, हमारे पास भाट का यह गीत है, जो बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका है, और जिसका यूलिसिस से साक्षात्कार अभी ही होता है, और जो यूलिसिस का अपनी स्वयं की किंवदन्ती में, स्वागत करता है और उसे मौन के ठीक उस क्षण, यूलिसिस को उद्‌घाटित करता है और बोलने के लिए विवश करता है, जब यूलिसिस स्वयं को छुपाने की चेष्टा करता है। आधुनिक, साहित्य में, आत्म–संदर्भात्मकता, होमर के द्वारा वर्णित इस लम्बे विस्थापन की बनिस्बत, सम्भवतः अधिक मौन है। यह सम्भव है कि स्वयं की भाषा की इस सघनता में, आधुनिक साहित्य स्वयं की पुनरावृत्ति करता है, और, यह भी सम्भव है कि, उक्तियों और सूत्रों की इस अन्तरक्रीड़ा से भी, जिसका अभी थोड़ी देर पहले ही, मैंने उल्लेख किया, से भी साहित्य स्वयं की पुनरावृत्ति करता है।

मैं, 'मेटा–लैंग्विज'और पुनरावृत्त संरचनाओं पर अपने विचारों के समापन में यही कहूँगा कि क्या हम, इस बार, आलोचना को, बहुत सहज और सरल रूप में, एक 'मेटा–लैंग्विज' के बदले, उसकी पुनरावृत्ति के रूप में, जो कि भाषा में पुनरावृत्ति के योग्य है, के रूप में नहीं परिभाषित कर सकते? और उस परिधि तक, साहित्यिक आलोचना, सम्भवतः भाष्य की उस महान परम्परा में समाविष्ट की जा सके, जिसका प्रारम्भ, कम से कम ग्रीक जगत ने, उस समय करना शुरू किया, जब पहले व्याकरणविदों ने होमर के लिखे हुए पर टिप्पणियाँ कीं। क्या हम, यह नहीं कह सकते कि, एक प्राथमिक अनुमान के रूप में कि आलोचना सिर्फ, विशुद्ध रूप से द्वैध का आख्यान है, यानि कि, उन दूरियों और भेदों का विश्लेषण, जिनमें भाषा की पहचान फैली है? और यह बिलकुल अप्रत्याशित नहीं कि उस क्षण में हम पायेंगे कि, आलोचना के तीन रूप सम्भव हैं। पहला है विज्ञान, या ज्ञान, या उन आकृतियों का संग्रह, जिनके द्वारा भाषा के एक–से तत्व, पुनरावृत्त होते हैं, बदलते हैं, सम्मिलित होते हैं। यानि, हम कैसे ध्वन्यात्मक तत्वों को, अर्थगत तत्वों को, और वाक्य–विन्यास के तत्वों को, बदलते हैं, सम्मिलित करते हैं, और उनकी पुनरावृत्ति करते हैं। आलोचना का, इस अर्थ में, भाषा की औपचारिक पुनरावृत्ति के विज्ञान के रूप में, एक नाम है और वह कई वर्षों से इस रूप से अस्तित्व में है। यह रूप 'वाग्मिता' के नाम से जाना जाता है।

बहरहाल, द्वैध के विज्ञान का एक दूसरा रूप भी है, जो कि, 'समरूपता' या संशोधनों का, या भाषा के वैविध्य के कारण उपजे अर्थ के विखण्डन का विश्लेषण– यह कैसे संभव है कि, हम, शब्दों को बदल कर, किसी अर्थ को दुहरा सकते हैं। और, आप यह जानते हैं कि आलोचना ने, सेन्त बव के समय से लेकर लगभग आज तक, जब हम किसी ऐतिहासिक या मनोवैज्ञानिक अर्थ की विशिष्टता पुनरान्वेषण करने का प्रयास करते रहे हैं, यानि कि, सारे लेखन की 'बहुवचनीयता' के भीतर, किसी प्रदत्त विषयीकरण की विशिष्टता की पहचान का प्रयास करते हैं। इसे ही परम्परागत रूप से आलोचना कहा जाता रहा है।

मैं सोचता हूँ कि, आलोचना के इस तीसरे रूप के लिए कहीं वह 'स्पेस' पहले से ही मौजूद नहीं है, या बिलकुल है ही नहीं, यानि कि, इस आत्म–संदर्भित का उद्‌वाचन, इस रचना का अपने आप में निहितार्थ निकालना, इस पुनरावृत्ति की सघन संरचना में, जैसा कि थोड़ी देर पहले मैंने होमर के बारे में चर्चा करते हुए कहा। क्या, इस वृत्तांश के विश्लेषण के लिए कोई ऐसी 'स्पेस' नहीं हो सकती, जिससे कि रचना हमेशा स्वयं के भीतर होकर, स्वयं की ओर संकेत करती है और स्वयं को भाषा के द्वारा, भाषा की पुनरावृत्ति के रूप में प्रस्तुत करती है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद मुद्दा यही है, 'रचना के स्वयं को निहितार्थ करने के विश्लेषण का अभीष्ट, उन संकेतों का विश्लेषण करना, जिससे रचना निरन्तर स्वयं के भीतर से, स्वयं की ओर ध्यान दिलाती रहती है। संक्षेप में, मेरे सोचने में यही है, जो कि इस विविध और बहुरूपी उद्यम, जिसे हम साहित्यिक विश्लेषण कहते हैं, को वास्तविक अर्थ प्रदान करता है।

और मैं यह भी दर्शाना चाहूँगा कि किस प्रकार 'साहित्यिक विश्लेषण' की यह अवधारणा, जो कि बहुतेरे विभिन्न व्यक्तियों– बार्थेस, स्टारोबिन्स्की, और आदि आदि– द्वारा प्रयोग और व्यवहार में लायी गई है, कैसे यह साहित्यिक विश्लेषण, चिन्तन का आधार बन सकता है, यानि कि, कैसे यह एक अर्ध–दार्शनिक मनन को खोल सकता है, अनावृत्त कर सकता है– क्योंकि मैं, उतना ही वास्तविक दर्शन करने का दावा नहीं करता, जैसा कि मैंने दावा किया था कि, साहित्यिक पेशेवर, वास्तविक साहित्य का सृजन करते हैं। मैं दर्शन का 'प्रतिरूप' में होऊँगा जैसे कि कल, साहित्य के 'प्रतिरूप' में था। इसीलिए, मैं जानना चाहूँगा कि, ये साहित्यिक विश्लेषण, हमें कहीं दर्शन के प्रतिरूप की ओर तो अग्रसर नहीं कर रहे हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि, साहित्यिक विश्लेषण की अभी तक खींची गयी रूपरेखा को, एक साथ, एक समूह में रखा जा सकता है और हम बेशक, उनकी दो विभिन्न दिशाएँ भी निर्धारित कर सकते हैं। प्रथम है, उन संकेतों की दिशा, जिसके द्वारा रचना स्वयं के भीतर से, स्वयं को संदर्भित करती है और दूसरी दिशा, उस तरीके से सरोकार व्यक्त करती है, जिससे कि वह दूरी जो रचना, स्वयं में धारण कर लेती है, वह स्थानिक हो सके।

मैं पहले, विशुद्ध रूप से क्रमानुसार, उन विश्लेषणों के बारे में कुछ बोलना चाहूँगा, जो कि किये जा चुके हैं, और जो सम्भवतः किए जा सकते थे यह दिखाने के लिए कि किस तरह साहित्यिक रचनाएँ आंतरिक रूप में, यह आत्म–संदर्भित होती रह सकती हैं। आप जानते हैं कि, यह अन्तर्विरोधात्मक रूप से अभी ही की खोज है कि साहित्यिक रचनाएँ, न तो विचारों से सृजित होती हैं, और न ही सौन्दर्य से, और विशेष तौर पर भावनाओं से भी नहीं, बल्कि, साहित्यिक रचनाएँ सृजित होती हैं, भाषा से। (जिसे भाषा से भाषा में जन्म लेना कहा है, विट्गेंस्टाइन ने –अनुवादक) यानि कि, यह संकेतों की एक व्यवस्था पर आधारित है। परन्तु, संकेतों की यह व्यवस्था, पृथक्कृत नहीं है। यह एक पूरे, दूसरे संकेतों के संजाल का भाग है, वे संकेत, जो कि सारे समाज में प्रचलित हैं, वो संकेत, जो कि भाषिक संकेत नहीं हैं, बल्कि, संकेत, जो कि अर्थशास्त्रीय, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और आदि आदि हो सकते हैं। जब भी, हम किसी संस्कृति के अस्तित्व में आने से लेकर उसके विकास और परिष्कार के इतिहास का अध्ययन करते हैं, तब एक 'संकेतों के राज्य' अस्तित्व में आता है, एक सामान्य 'संकेतों का राज्य', इसका अभिप्राय है कि हमें उन तत्वों को स्थापित करना होगा, जो कि मूल्यों को प्रकट

करने में सहायक हों और उन नियमों का भी जिनको वे प्रकट करने वाले तत्व, अपने प्रचालन में पालन करते है।

चूँकि, यह वाचिक संकेतों का सुविचारित हेरफेर है, हम इस बात को लेकर सुनिश्चित हो सकते हैं कि साहित्यिक रचना, क्षेत्रीय रूप में, एक सदैव झिलमिलाते हुये समानान्तर संजाल का हिस्सा है– फिर वह मौन हो या वाचाल, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता– कि, संस्कृति के इतिहास के प्रतिक्षण में, उसकी निर्मिति होती है, जिसे हम 'संकेतों का एक राज्य' कह सकते हैं। इसके फलस्वरूप, यह जानने के लिए कि साहित्य कैसे स्वयं को अर्थगर्भित बनाता है, हमें यह जानना होगा कि वह कैसे अर्थवान होता है, वह किसी समाज के संकेतों के जगत में कहाँ स्थित है, यह ऐसा कुछ है, जो कि समकालीन समाजों में कभी नहीं किया गया है, ऐसा कुछ जो कि किया जाना चाहिए, सम्भवतः किसी लेखन को, जो कि हमारी संस्कृति से अधिक प्राचीन है, उस लेखन को आदर्श मान कर ऐसा कुछ किया जाना चाहिए। मुझे यहाँ जार्ज ड्यूमेजील के इंडो–योरपीयन समाजों को लेकर किए गये काम की याद आ रही है।

ड्यूमेजील ने यहा दिखाया कि, किस तरह आइरिश किंवदन्तियाँ, स्कॅंडिनेवियन आख्यान, रोमनों की ऐतिहासिक कथाएँ, जैसी कि वे टाइटस–लिवियस में मिलती हैं, और आर्मेनियन किंवदन्तियाँ, ये सब जिन्हें हम भाषा–रचनाएँ कह सकते हैं। अगर हम 'साहित्य' शब्द का प्रयोग न करना चाहें तो, वे तमाम भाषा–रचनाएँ, वास्तविकता में, एक वृहद् और व्यापक संकेत संरचना के भाग हैं। और हम यह तभी समझ सकते हैं कि वे किंवदन्तियाँ वास्तव में क्या हैं, जब हम, उनके और, और उदाहरण के लिए, किसी दूसरी इंडो–योरपीयन समाज में पाई जाने वाली धार्मिक या सामाजिक रीतियों के मध्य एक संरचनात्मक एकरूपता पुनर्स्थापित करें? तब ही इसके तथ्य के प्रकाश में, हम यह देख सकते हैं कि, ऐसे समाजों में, साहित्य का प्रयोजन एक अत्यावश्यक सामाजिक और धार्मिक संकेत की तरह रहा है, और चूँकि, साहित्य ने उस सामाजिक और धार्मिक रीति के अर्थवान प्रयोजन होने के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लिया, इसलिए साहित्य अस्तित्व में रहा, और इस के ही कारण, वह सृजित भी हुआ और सर्वत्र ग्राह्य भी बना।

आज, यह बहुत संभव है– यह दर्शाना पड़ेगा, ऐसे में अपरिहार्य रूप से, हमें, हमारे आज के समाज में विद्यमान रहने वाले, उन संकेतों की प्रतिष्ठा स्थापित करनी पड़ेगी–चलिये कहिए कि अर्थव्यवस्था या उपभोग के संकेतों से हो, यह बहुत सम्भव है कि, साहित्य का सम्बंध अब धार्मिक संकेतों से न हो, बल्कि, उन संकेतों से ही हो। परन्तु, फिर भी अभी इस समय, हम यह नहीं जानते कि वे संकेत कैसे कार्य करते हैं। यह प्रथम लाक्षणिक परत है, साहित्य के द्वारा अधिकृत, उस अर्थवान क्षेत्र को स्थापित करना, जिसका हमें अन्वेषण करना होगा।

इस प्रथम लाक्षणिक परत की तुलना में, हम यह कह सकते हैं कि साहित्य निरपेक्ष है। निस्संदेह, साहित्य कार्य करता है, परन्तु ,जिस संजाल में वह कार्य करता है, वह न तो उसका है और न ही उससे शासित होता है। परिणामतः, हमें इस लाक्षणिक विश्लेषण को उस दिशा में धकियाना, या विकसित करना होगा, जहाँ पर एक दूसरी परत, जो कि रचना की अन्दरूनी परत है। इसका अर्थ यह कि हमें उस संकेत व्यवस्था की प्रतिस्थापना करनी होगी, जो कि इस संस्कृति में नहीं बल्कि, रचना के भीतर कार्य करे। यहाँ पर भी, एक तरह से हम, मूलभूत रूप

में हम, अपवादों की ही चर्चा कर रहे हैं। फर्डिनाण्ड द सास्यूर कई कार्य–पुस्तिकाएँ छोड़ गए हैं, जिसमें उन्होंने, दरअस्ल, रोमांस भाषाओं के साहित्य में, ध्वन्यात्मक या अर्थगत संकेतों के प्रयोगों और संरचनाओं को परिभाषित करने का प्रयास किया है। वे सारे पाठ स्टारो बिन्स्की ने Mercure de France में प्रकाशित किए हैं। उस प्रकाशन में, वे उस विश्लेषण की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, जिसमें साहित्य, मूलरूप से वाचिक संकेतों के संयोजन की तरह प्रस्तुत है। कुछ रचनाकार ऐसे हैं, जिनके लिए यह विश्लेषण अत्यन्त सरल है। चार्ल्स पेगी, रेमण्ड रुसेल का नाम याद आता है, और बेशक तमाम अति–यथार्थवादियों का भी।

और इसके अलावा, इन वाचिक संकेतों के विश्लेषण में, इसके अलावा, आप कह सकते हैं, संभवतः एक प्रकार की लक्षण–विज्ञानी विश्लेषण की दूसरी परत भी हो सकती है, और वह एक परत, जो कि सांस्कृतिक कोरी लाक्षणिकता की होने के बजाए भाषिक लाक्षणिकता की होगी, जो कि उन विकल्पों को परिभाषित करेगी, जो चयन के लिए उपलब्ध हैं, वे संरचनाएँ, जिनके अधीन वे विकल्प हैं, और वे विकल्प क्यों चुने गए, और उस व्यवस्था के हर बिन्दु पर किस मात्रा की अव्यक्तता उपलब्ध की गई, और जो रचना की आन्तरिक संरचना को अर्थवान बनाता है। संभवतः, संकेतों की एक तीसरी परत भी है, संकेतों का एक तीसरा संजाल, जिसका प्रयोग, साहित्य के द्वारा, स्वयं को अर्थवान बनाने के लिए होता है। इसमें, वे संकेत सम्मिलित होंगे, जिन्हें रोलाँ बार्थ 'लेखक के संकेत' कहते हैं। यानि कि, वे संकेत जिनके द्वारा लेखन तात्कालिक संम्प्रेषण के प्रभाव क्षेत्र के बाहर जाकर, रीतिबद्ध होता है।

हम, अब यह जानते हैं कि, लेखन, किसी एक युग के सूत्रों और कुछ विशिष्ट सूत्रों के सम्मिश्रण का प्रयोग भर नहीं है। लेखन, थोड़ी सी प्रतिभा, थोड़ी सी औसत बुद्धिमत्ता या प्रतिभा संपन्नता का मिश्रण भी नहीं है, बल्कि, लेखन का उद्देश्य सिर्फ उन संकेतों का प्रयोग है जो कि लेखन के संकेतों के अलावा और कुछ नहीं हैं। वे संकेत शब्द हो सकते हैं, या कुछ तथाकथित अभिजात शब्द भी हो सकते हैं, परन्तु, अधिकतर वे गहन भाषिक संरचनाएँ हैं, जैसे फ्रेंच में क्रिया–काल। जैसे उदाहरण के लिए, फ्लूबेर का लेखन– हम यही बात बाल्जाक से लेकर प्रूस्त तक, सारे क्लैसिकल फ्रेंच के कथानकों के लिए कह सकते हैं– मूलतः, कुछ विशिष्ट संयोजनों, और अपूर्ण, अतीत– ऐतिहासिक, उत्तम और पूर्णभूत काल के विशिष्ट सम्बन्धों से बना हुआ है, यह ऐसा समूह है जो कि हमारे या आपके द्वारा बोली जानी वाली भाषा या अखबार में भी, उन्हीं मूल्यों के साथ नहीं मिलेगा। फ्रेंच कथानक में, इन चार कालों का संयोजन है, वह है जो कि, एक साहित्यिक कथानक की स्थापना करता है।

अंततः, हमें एक चौथी लाक्षणिक परत, जो कि और अधिक सीमित और पृथक है, को जोड़ने की आवश्यकता है। यह, जिसे हम कह सकते हैं निहितार्थ या जिसे कहें कि स्व–निहितार्थ होने के संकेतों का अध्ययन होगा। यह वह संकेत है, जिससे, रचना, आंतरिक रूप से आत्म–संदर्भित होती है, स्वयं की एक विशिष्ट रूप में, एक विशिष्ट चेहरे के साथ अपनी पुनर्प्रस्तुति करती है। बहुत पहले मैंने, The Odyssey की पुस्तक 8 की चर्चा की थी, जिसमें यूलिसिस, भाट के द्वारा गाये हुए यूलिसिस के साहसिक कार्यों को सुनता है। इस दृश्य में कुछ विशिष्ट लक्षण हैं। क्योंकि, यूलिसिस, जिसे अभी तक Phaeacians ने पहचाना नहीं है, जब वह भाट को अपने स्वयं के कारनामों के बारे में गाते हुए सुनता है तब, वह अपना सिर झुका

कर, अपना चेहरा छुपा लेता है, और जैसा कि होमर के पाठ में वर्णित है, ठीक उसी तरह रोने लगता है, जिस तरह स्त्रियाँ, जब युद्ध के बाद अपने पति का शव देखती हैं और विलाप करती हैं।

यहाँ, साहित्य का आत्म–निहितार्थ होने का संकेत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि, यह एक रीति है, विशिष्ट रूप से, शोक की रीति। यानि कहने का तात्पर्य यह कि, रचना स्वयं को सिर्फ मृत्यु के समय में ही आत्म–सन्दर्भित करती है, और वह भी सिर्फ नायक की मृत्यु के समय। रचना सिर्फ उस सीमा तक अस्तित्व में रहती है, जब तक नायक, जो कि रचना में जीवित है, फिर भी पहले से ही, उस सृजित की गई कथा के सम्बन्ध में मृत है।

अगर, हम इस स्व–निहितार्थ होने के संकेत का, प्रूस्त की रचना के स्व–निहितार्थ होने के संकेत से तुलना करें, तो हमें कुछ अत्यन्त रोचक और चारित्रिक भिन्नताएँ मिलेंगी। In Search of Lost Time में मिलने वाला आन्तरिक आत्म–निहितार्थ, इसके उलट, एक कालातीत दीप्ति के रूप में प्रकट होता है, जब अचानक, एक कसीदे काढ़ा हुआ रुमाल, या एक मेडलिन (एक मिठाई–अनु.), या गेख्मांटे (उत्तरी फ्रांस का एक कस्बा–अनु.) के प्राँगण की जमीन पर लगे हुए बटिया पत्थरों की असमतलता में, जो कि वेनिस की गलियों में लगे हुए बटिया पत्थरों की असमतलता की याद दिलाती है। तब रचना की कालातीत जैसी 'कुछ', प्रकाशित, और अत्यन्त आनन्ददायक उपस्थिति, उस व्यक्ति के सामने प्रकट होती है, जो कि उस रचना को लिखने की प्रक्रिया में है। इस कालातीत प्रदीपन और यूलिसिस के अपने मुँह छुपाने और उस स्त्री की तरह विलाप करने के, जिसने अपने पति का युद्ध से लाया गया शव देखा है, के दृत्य के मध्य आप देख सकते हैं कि एक मूलभूत अन्तर है और रचनाओं के ऐसे आन्तरिक आत्म–निहितार्थक संकेतों का, लक्षण–विज्ञान, हमें निश्चित रूप से साहित्य की प्रकृति के बारे में कई चीजें बताएगा। परन्तु, ऐसा प्रयास कभी किया ही नहीं गया। अगर, मैंने इन विभिन्न लाक्षणिक परतों पर बल दिया है तो वह इसलिए क्योंकि, आजकल, भाषिक और लक्षण–वैज्ञानिक विधियों के साहित्य में प्रयोग को लेकर, कुछ भ्रामक स्थिति बनी हुई है। आजकल, कुछ लोग ऐसे हैं जो कि सब चीजों के लिए भाषा– वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करते हैं और साहित्य के साथ भाषा के एक निर्मम तथ्य की तरह व्यवहार करते हैं।

यह सत्य है कि साहित्य भाषा से बना है, ठीक वैसे ही, जैसे कि स्थापत्य, पाषाणों से बना है। परन्तु, हमें इस तरह किसी ऐसे निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाना चाहिए कि हमें साहित्य पर किसी भी प्रकार से उन संरचनाओं, अवधारणाओं, और नियमों को लागू करना चाहिए जो कि सामान्यतः भाषा के लिए वैध हैं। दरअस्ल, जब हम लाक्षणिक' विज्ञान की प्रविधियाँ जब साहित्य पर लागू करते हैं, तब हम दो बार भ्रम के शिकार होते हैं। एक तरफ तो, हम संकेतों के क्षेत्र की सामान्यतः किसी विशिष्ट अर्थवान बनाने वाली संरचना के पुनरुपयोग का आश्रय लेते हैं, यानि कि हम यह भूल जाते हैं कि भाषा अंततः, संकेतों की एक व्यापक व्यवस्था, (जैसे कि, धार्मिक, सामाजिक, और आर्थिक संकेतों की, जिनकी चर्चा मैंने पहले की) उसी की एक व्यवस्था है। और, वहीं दूसरी ओर, साहित्य पर, अपरिपक्व भाषिक विश्लेषण लागू करते हुए, हम यह भूल जाते हैं कि, साहित्य कुछ अत्यन्त विशिष्ट अर्थ–गर्भित बनाने वाली संरचनाएँ जो कि भाषा की प्रातिनिधिक संरचनाओं से कहीं अधिक महीन हैं (और विशेष रूप से आत्म–निहितार्थक संकेतों

का, जिनका मैंने पहले जिक्र किया) को प्रयोग में लाता है। दरअस्ल, वे संकेत सिर्फ और सिर्फ साहित्य में ही अस्तित्व में आते हैं और सामान्यतः उनका उदाहरण भाषा में कहीं और पाना लगभग असम्भव है।

अगर दूसरे शब्दों में कहें तो, साहित्य का विश्लेषण, अभिरंजकों और आत्म–अभिरंजकों, की तरह सिर्फ भाषा के आयाम पर ही लागू नहीं होता। यह संकेतों की उन क्षेत्रों में सन्निहित है, जो कि अभी 'वाचिक' ही नहीं हुए हैं, और, वहीं दूसरी ओर, यह उन संकेतों की ओर खींचा हुआ है, फैला हुआ है, और बढ़ा हुआ है, जो कि वाचिक संकेतों से कहीं अधिक जटिल है। इसीलिए ,साहित्य जो है, वह सिर्फ उसी हद तक, केवल किसी एक 'अर्थगत' सतह तक सीमित नहीं है, यानि, वाचिक संकेतों की इकहरी सतह तक। यथार्थ में, साहित्य संकेतों की ऐसी कई सतहों में भी वह ऊर्ध्वाधर रहता है। आप यह कह सकते हैं कि, साहित्य गहन रूप में अर्थ–बहुल है, लेकिन उस रूप में नहीं जैसा कि कोई एक सन्देश बहुतेरे अर्थ लिए होता है, और न ही साहित्य द्वि–अर्थी है, परन्तु फिर भी वह एक अभिनव प्रकार से अर्थ–बहुल है। वास्तव में, साहित्य अर्थ–बहुल है, जिसका अर्थ है कि, सिर्फ एक चीज कहते हुए या कहिए कि सम्भवतः कुछ भी न कहते हुए। क्योंकि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि साहित्य को कुछ कहना ही है– खैर, साहित्य कुछ कहे या ना कहे, साहित्य कई लक्षण–वैज्ञानिक सतहों (कम से कम वे चार परतें जिनके बारे में मैंने पहले चर्चा की।) के पारगमन के लिए बाध्य है, और उन चार परतों में, साहित्य उसकी पहचान करता है, जो उसे एक 'निश्चित रूप' गढ़ने के लिए चाहिए, ऐसा 'रूप', जिसका गुणधर्म आत्मनिष्ठ होना है। इसका आशय यह कि साहित्य, समाज और संस्कृति में, विभिन्न परतों में उपस्थित संकेतों का ऊर्ध्व रूप में पुनर्संयोजन है। साहित्य, मौन पर आधारित नहीं हो सकता। यह मौन की 'अकथनीयता' नहीं है, साहित्य उसका, जो कहा नहीं जा सकता' और 'जो कभी कहा भी नहीं जाएगा का प्रवाह नहीं है।

यथार्थ में, साहित्य सिर्फ उसी हद तक अस्तित्व में है, जब तक कि हम उसके बारे में बात करना जारी रखें, जब तक कि हम उसके संकेतों को प्रचलन में रखने में उसकी मदद करें। ऐसा इसलिए क्योंकि, साहित्य, हमेशा संकेतों से घिरा रहेगा, और चूँकि संकेत बोलते हैं, इसीलिए साहित्य जैसा कुछ भी बोलता है। तो, अगर हम एक मोटे तौर पर इसका खाका खींचें तो हम यह कह सकते हैं कि, हम साहित्यिक विश्लेषण को, इस दिशा की ओर अग्रसर होते हुए देख सकते हैं, वह दिशा जो कि, शब्द के कठोर अभिप्राय में, लक्षण–विज्ञानी है। मुझे ऐसा लगता है कि दूसरा दृष्टिकोण, जिससे कि हम लगभग परिचित हैं, वह रचना की अर्थ–गर्भित और अर्थवान बनाने वाली संरचनाओं को सम्मिलित नहीं करेगा, बल्कि, उसका अवकाशीय होगा।

काफी लम्बे समय तक, यह माना जाता था कि भाषा का 'काल' से गहरा सम्बन्ध है। निस्संदेह, इस विश्वास के बहुतेरे कारण भी विद्यमान थे। क्योंकि, भाषा ही, मूल रूप में किसी कथा के सृजन को सम्भव बनाती है और, उसके साथ ही साथ, वह कथा को भरोसा दिलाने की अनुमति भी देती है। भाषा मूलतः ऐसा कुछ है, जो कि काल को "बांधती" है। और भाषा, 'काल' को स्वयं के भीतर एकत्र भी करती है क्योंकि, वह लेखन है, और, लेखन की ही तरह वह स्वयं को, और जो वह कह रही है उसे भी, 'काल' में जारी रखती है। संकेतों से ढँकी हुई वह परत,

गहराई में, सिर्फ अवधि का अवकाशी छल है। अतः, इसीलिए, 'काल' को भाषा में ही प्रकट होने के लिए बाध्य किया जाता है, और भाषा में ही, 'काल', इतिहास के रूप में, स्वयं के बारे में चेतस होता है। और यह हम हर्डर से लेकर हाइडेगर तक के लिए कह सकते हैं, कि प्रतीकों के रूप में भाषा का मुख्य कार्य समय को संजोना है, उसके ऊपर चौकसी रखना है, और स्वयं को, गुजरते 'काल' के साथ जारी रखना है, और इसके साथ ही साथ, 'काल' को भी, अपने अचल अवलोकन के अंतर्गत जारी रखना है।

मेरा ऐसा मानना है कि किसी ने भी कभी ऐसी अपेक्षा नहीं की थी कि, भाषा अन्ततः 'काल' नहीं, बल्कि, 'स्पेस' है। किसी ने भी नहीं, सिवाय एक व्यक्ति के, और जिसे मैं बहुत पसन्द नहीं करता फिर भी, जिसका उल्लेख करने के लिए मैं बाध्य हूँ, वह है बर्गसाँ । बर्गसाँ का यह विचार था कि भाषा, 'काल' के बारे में नहीं है, बल्कि, 'स्पेस' के बारे में है। परन्तु, इस विचार के साथ एक समस्या थी, वह यह कि बर्गसाँ ने, इस अवलोकन से एक नकारात्मक निष्कर्ष निकाला। और उन्होंने, स्वयं से कहा कि, अगर भाषा 'काल' के बजाए 'स्पेस' है, तो फिर यह, भाषा के लिए अत्यन्त अशुभ है। और क्योंकि, दर्शन, जो कि, अन्ततः, भाषा है, का 'सार', काल का 'चिन्तन' है। तब उन्होंने दो निष्कर्ष निकाले। पहला यह कि, दर्शन को भाषा और 'स्पेस' को दरकिनार करना होगा ताकि वह 'काल' को बेहतर अवधारित कर सके, और दूसरे, 'काल' को अवधारित और अभिव्यक्त करने में सक्षम होने के लिए, भाषा से कतराना होगा, और, अन्त में, जो भी भाषा में सघनता से 'अवकाशी' था, उसे छोड़ना होगा। और इन शक्तियों को, या इस प्रकृति को या भाषा की इस अवकाशी सघनता को, निष्प्रभावी बनाने के लिए भाषा को स्वयं के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य करना होगा। कहना चाहिये कि एक प्रकार से, शब्दों को शब्दों के प्रतिशब्दों के विरुद्ध प्रयोग करना होगा।

तब इस घड़ी में, इस आघात से, इन शब्दों को, एक दूसरे में गूँथने से जहाँ हर शब्द की अवकाशीय गुणवत्ता छिन्न–भिन्न हो जाएगी, मिट जाएगी, नेस्तनाबूद हो जाएगी, दूसरे शब्दों की अवकाशीय गुणवत्ता से इस अंतरक्रीड़ा से जो कि शब्द के सुनिश्चित अर्थ में, रूपक है (बर्गसाँ के लिए रूपकों का महत्त्व यहीं से आता है), उन्हें लगा कि, भाषा की, इस स्वयं के विरुद्ध क्रीड़ा के कारण, रूपकों द्वारा इस अवकाशीयता को निष्प्रभावी बनाने के इस खेल के कारण, संभवतः कुछ जीवन्त हो उठेगा या कम–ज–कम, कुछ होगा, और वह काल का प्रवाह होगा।

दरअस्ल, जो अब प्रकट हो रहा है, और उन हजारों मार्गों द्वारा जो कि लगभग सारे के सारे अनुभवजन्य हैं, वह यह है कि, भाषा ही 'स्पेस' है। भाषा 'स्पेस' है, हम यह विस्मृत कर चुके थे, क्योंकि, भाषा 'काल' के भीतर कार्य करती है– यह एक वाचिक माला है– और उसका कार्य समय को अभिव्यक्त करना है। परंतु, भाषा का कार्य ही उसका 'होना' नहीं है, और भाषा का 'होना', अगर उसका कार्य 'काल' होना है, तब, तो भाषा का 'होना', 'स्पेस' ही है। 'स्पेस', क्योंकि, भाषा के हर तत्व का अर्थ एक नैरेटिव संजाल के भीतर ही है। 'स्पेस', क्योंकि, हर शब्द या अभिव्यक्ति का भाषिक मूल्य किसी सारणी या रूप तालिका के विभाजन से परिभाषित है, 'स्पेस', क्योंकि, इन तत्वों का अनुक्रम, इन शब्दों की व्यवस्था, विभिन्न शब्दों के मध्य सहमति, वाचिक श्रृंखला की लंबाई, ये सभी, कम या ज्यादा गुँजाइश के साथ, वाक्य विन्यास की समकालिक, संरचनात्मक, और इसके फलस्वरूप, अवकाशीय, आवश्यकताओं को निर्देश मानते

हैं। और, अन्त में, फिर 'स्पेस' क्योंकि, आम तौर पर, कोई भी संकेत, किसी दूसरे अर्थप्रदत्त संकेत के द्वारा अर्थवान नहीं बनता, सिवाए प्रतिस्थापन के नियमों के, या तत्वों के संयोजन से। और, इसीलिए, किसी समूह पर निश्चित निर्धारित विधानों के– और इसके परिणामतः किसी 'स्पेस' में ही।

काफी लंबे समय तक, लगभग आज तक, मुझे ऐसा लगता है कि, संकेतों के घोषणात्मक और आवृत्तिमूलक कार्य, जो कि, निश्चित रूप से कालिक हैं, उन्हें भ्रमवश यह मान लिया गया कि ये वे कार्य हैं जिनसे संकेत, संकेत बनता है और वह जो संकेत को, संकेत बनाता है, वह समय नहीं, बल्कि, 'स्पेस' है। ईश्वर का शब्द, क्योंकि, उसी के कारण सृष्टि के अन्त के संकेत, सचमुच, सृष्टि के अन्त के संकेत हैं, ईश्वर का वह शब्द, वह काल में अवस्थित नहीं है। वह, निश्चित रूप से स्वयं को किसी काल में प्रकट कर सकता है, यह शाश्वत है, यह उन सब संकेतों के संदर्भ में वर्णनात्मक है, जो कि किसी न किसी चीज को अर्थवान बनाते हैं। साहित्यिक विश्लेषण का कोई अंतर्निहित अर्थ, तब तक व्यक्त नहीं होगा, जब तक कि वह उन सारी कालिक रूप रेखाओं का परित्याग नहीं कर देता, जिनमें वह भाषा और समय के भ्रम के कारण उलझा हुआ है। और उन्हीं रूप रेखाओं में से एक है, सृजन का मिथक।

अगर आलोचना ने, अभी तक, प्रारम्भिक सृजन के इस क्षण की, जो कि वह क्षण होगा जब रचना अपने जन्मने की प्रक्रिया में होती है और फलित हुई है, की पुनर्प्रतिष्ठा का दायित्व और भूमिका संभाली है, तो वह सिर्फ इसलिए क्योंकि, आलोचना ने भाषा के कालिक मिथक का आदेश पालन किया है। आलोचना की हमेशा से ही यह आवश्यकता रही है, सृजन के मार्गों के पुनरान्वेषण के प्रति विषाद रहा है, पुनर्संगठन का, अपने स्वयं के आलोचनात्मक आख्यानों में, जन्म (आदि) और समाप्ति (अन्त) के समय का निर्धारण, (जो कि, जैसा माना जाता रहा है) रचना के रहस्यों से भरा हुआ है। आलोचना, सृजनात्मक है, अगर आप कहना चाहें कि, उस सीमान्त तक कि, वह उसकी भाषा के संकल्पना काल से जुड़ी हुई है, यहाँ तक कि भाषा को ही काल समझा जाता था। आलोचना, ठीक उसी तरह सृजन में भरोसा रखती थी, जिस तरह वह मौन में विश्वास रखती थी।

मुझे ऐसा लगता है कि, रचना की भाषा का, एक 'स्पेस' की तरह विश्लेषण किया जाना चाहिए। दरअस्ल, कुछ व्यक्तियों ने ऐसा करने का प्रयास भी किया है, और कई दिशाओं में करने का किया है। मैं एक बार फिर सिर्फ सैद्धान्तिक रूप से उन चीजों का वर्णन करूँगा, जो कि, रूप रेखाओं से अधिक कुछ और नहीं है, परन्तु, मैं सोच रहा हूँ कि क्या हम, एक स्थूल रूप में, ऐसा कुछ नहीं कह सकते?

पहला, यह स्पष्ट है कि, जटिल सांस्कृतिक संयोजनों के साथ, अवकाशी मूल्य भी जुड़े हुए हैं और जो उस संस्कृति में उत्पन्न होने वाली हर रचना और हर 'भाषा' का अवकाशीकरण करते हैं। उदाहरण के लिए, मैं सोच रहा हूँ, पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर, अनुमानतः सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के वर्तुल का 'स्पेस'– वह कालावधि, जो कि 'मध्य युग' के अन्त का समय, रेनेसां से लेकर, 'क्लैसिकल' युग के प्रारम्भ तक। उस समय, यह वृत्त, न तो साहित्य में और न ही शास्त्र में एक विशेषाधिकार प्राप्त इकाई था, बल्कि दूसरे कई 'रूपों' के मध्य एक और 'रूप' की तरह था। यथार्थ में, यह वृत्त, वास्तविकता में, एक अवकाशीय 'रूप' था, परम,

आरम्भिक जगह, जहाँ पर रेनेसां और बारोक संस्कृति के दूसरे सारे 'रूप' उपस्थित थे। गोल घेरा, केंद्र, गुंबज, प्रकाशित ग्लोब, ये सब, उस समय के लोगों के द्वारा यूँही चयनित रूप नहीं हैं, ये एक तरह से वे मुहिमें हैं, जिनसे उस संस्कृति और भाषा के सारे 'स्पेस' मौन रूप से वर्णित हैं। निस्संदेह, यह अनुभावजन्य रूप में खोजा गया कि, पृथ्वी गोल है और जिसने वर्तुल के महत्त्व को स्थापित किया, और यह कि पृथ्वी खगोलीय वर्तुल और उसके भीतरी कक्ष की एक ठोस, स्याह, और आत्म–परिवृत्त छवि है, और साथ ही यह विचार भी कि, मानव, इसी प्रकार से, एक अत्यन्त सूक्ष्म, गौण वर्तुल है, जो कि पृथ्वी के अन्तरिक्ष और साथ ही साथ ईथर के जगत में स्थित है।

क्या ये खोजें और विचार हैं, जिन्होंने इस वर्तुल को उसका महत्त्व प्रदान किया? संभवतः यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं है। जो निश्चित है, वह यह है कि, और जिसका हम विश्लेषण करने में सक्षम हैं, वह यह है, प्रतिनिधित्व अपने सर्वव्यापक अर्थ में–छवि, आविर्भाव, सत्य, अनुरूपता– पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक, वर्तुल के मूलभूत 'स्पेस' में प्रस्तुत किया जाता था। जो तय है, वह यह है कि, क्वात्रोसेंतो (पन्द्रहवीं शताब्दी की कला और संकृति की घटनाओं को दिया जाने वाला नाम– अनु.) चित्र का चित्रात्मक घन, अब खोखले अर्ध–वर्तुल के द्वारा विस्थापित हो चुका था, जिसमें चित्रों के द्वारा प्रतिनिधित्व की गई आकृतियाँ, पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और विशेष कर सोलहवीं शताब्दी तक विस्थापित हो चुकी थीं। जो तय है, वह यह भी है कि, भाषा भी स्वयं पर दुहरी होने लगी थी और घुमावदार रूपों का आविष्कार करने लगी थी, अपने प्रस्थान बिन्दु पर पुनः लौटने लगी थी। उदाहरण के लिए, Pantagruel (The Life of Gargantua and of Pantagruel) की अकल्पनीय समुद्र यात्रा, अपने अस्पष्ट प्रस्थान बिन्दु पर आकर ही समाप्त होती है, और उन आह्लादक पृथ्वियों का आह्वान करती है, जैसे, ओलिंपस, थेसेली, मिस्र, लीबिया और खाब्ले आगे जोड़ते हैं, 'यहूदी समुद्र का एक हाईपरबोरियन (ग्रीक मिथक की एक मिथकीय प्रजाति–अनु.) द्वीप'। परन्तु, एक बार, जब हम इस पृथ्वी से पार हो जाते हैं, उन सारे द्वीपों से पार हो जाते हैं, जब हम अपनी यात्रा के सबसे दूरस्थ बिन्दु पर आते हैं, जब हम पूरी तरह खो जाते हैं, तब यह भूमि, खाब्ले आगे कहते हैं कि, उसी तरह गरिमामय है जैसे कि तूरेन का देहात। दरअस्ल, यह वही देहात है, निस्संदेह, यात्रियों का प्रस्थान बिन्दु, उनकी दूसरे द्वीपों की समुद्र यात्रा का आरंभ स्थल। तो, इतनी लम्बी समुद्र यात्रा की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि, वे कहीं गए ही नहीं, या शायद पुनः प्रस्थान की कोई आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि, जब वे तूरेन में ही हैं, ठीक उसी समय जब वे पुनः प्रस्थान की तैयारी में व्यस्त हैं, क्योंकि वे पुनः एक नई समुद्र यात्रा पर जाने वाले हैं। खैर, किसी भी हाल में, यह वृत्त बिना किसी अन्त के पुनः प्रारम्भ होता है।

संभवतः पुनर्जात प्रतिनिधित्व के इस वर्तुल में, जो कि विलगाव से, उसके विस्फोटन से, या घूम कर स्वयं पर ही पुनः लौटने ने, हमें मध्य सत्रहवीं शताब्दी तक, दर्पण, सतरंगी बुलबुले, वर्तुल, कुंडलाकार, और वे प्रचुर वस्त्र जो कि देह पर एक 'हेलिक्स' की भाँति लिपट कर ऊपर चढ़ते जाते हैं, जैसे, मुख्य बारोक आकृतियों की तरह। मेरा मानना है कि साहित्यिक रचनाओं के अवकाशीय आयाम का एक साधारण सा विश्लेषण तो कर ही सकते हैं, और कई ऐसे निबन्ध भी हैं, जो कि महज संक्षिप्त विवरणों से कहीं अधिक हैं–वह अपने आप में विश्लेषण जैसे कि, उदाहरण के लिए जार्ज पूले के।

यह भी संभव है कि भाषा का यह सांस्कृतिक अवकाशीय आयाम, एक व्यापक रूप में, रचना को सिर्फ बाह्य रूप में ही पकड़ सके। परन्तु, दरअस्ल, रचना के भीतर भी एक अवकाशीयता अवस्थित है। यह आन्तरिक अवकाशीयता उसका संयोजन नहीं है, और न ही वह, जिसे हम परम्परागत रूप से, उसकी लय या गति कहते हैं। एक प्रकार से ये एक गहरा 'स्पेस' है जिससे और जिसमें रचना के विभिन्न रूप उदित और प्रचलित होते हैं। इस प्रकार के विश्लेषण भी किए गए हैं, ज्यादातर ज्यां स्टारोबिन्स्की के द्वारा, रूसो के बारे में उनकी पुस्तक में, और ज्याँ रुसे के द्वारा Forme et signification में। और विशेष रूप से मुझे स्मृति हो रही है– और मैं सिर्फ उस पाठ का उल्लेख भर कर रहा हूँ ताकि आप उसे बाद में देख सकें– मैं सोच रहा हूँ कोर्निए के वृत्त और पेचक के ज्याँ रूसे द्वारा अद्भुत विश्लेषण का। वे यह दर्शाते हैं कि, किस तरह कोर्निए की नाट्य रचनाओं, Galerie du Palais से ले कर Cid तक, ने एक वृत्ताकार अवकाश का आज्ञा पालन किया, यानि कि, दो पात्र प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनका नाटक के प्रारम्भ में पुनर्मिलन होता है।

नाटक का प्रारम्भ उस सीमा तक होता है कि वे पात्र बिछुड़ जाते हैं, और, फिर, नाटक के मध्य में वे फिर मिलते हैं, वे मिलते हैं परन्तु वे एक दूसरे को पार कर जाते हैं, उनका समन्वय सम्भव लेकिन अधूरा होता है। यह कथा है रोद्रिगे और शिमेने की, जिनका पूरी तरह से पुनर्मिलन असंभव है। क्योंकि, जो कुछ अब तक कथानक में हुआ है। और इस तरह वे पुनः एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं और फिर नाटक के अन्त में, उनका पुनर्मिलन होता है। यह एक वृत्त की आकृति बनाता है, अंक आठ की आकृति बनाता है, गणित में 'अनन्त' का चिह्न बनाता है, जो कि, कोर्निए की रचना में अवकाशीयता को चित्रित करता है। और पोलिउक्त एक प्रकार से उस ऊर्ध्वाधार गति के प्रस्फुटन का प्रतिनिधित्व करता है, जो कि कोर्निए की रचनाओं में पहले अस्तित्व में नहीं थी। वहाँ पर भी हमें उस अंक आठ की आकृति देखने में आती है, और दो पात्र, पोलिउक्त और पोलीन जो कि बिछुड़ गए थे, वे नाटक के शुरुआत के पहले पुनः मिलते हैं, वे बिछुड़ जाते हैं, फिर मिलते हैं, एक बार फिर बिछुड़ जाते हैं और अंत में, एक बार फिर उनका पुनर्मिलन होता है। परन्तु, यह बिछुड़ना उन घटनाओं के कारण नहीं है, जो कि उसी धरातल पर घटती हैं, जिस पर पात्र उपस्थित हैं। यह मूलतः उस ऊर्ध्वाधार गति के कारण है जो पोलिउक्त के परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है। इसे रखने का दूसरा तरीका यह है कि, यह मिलने और बिछुड़ने के कारक, एक प्रकार की लम्बवत संरचना है जिसकी परिणति ईश्वर में होती है। और उस क्षण के बाद से, पोलिउक्त, पोलीन से अलग होने लगता है ताकि वह ईश्वर से जुड़ सके, एक चक्राकार जो कि पोलिउक्त और कोर्निए के उत्तरवर्ती लेखन को, एक 'हेलिकल' गति दे सके, उस प्रकार का ऊर्ध्वाधार वस्त्र–विन्यास, जो कि संभवतः उस कालावधि के बारोक शिल्पों से संबन्धित है।

और अन्त में, साहित्यिक रचनाओं के अवकाशीयता के विश्लेषण की एक तीसरी संभावना, रचना के भीतर की भाषा की अवकाशीयता के अध्ययन से मिल सकती है, बजाए सामान्य रूप से रचना की अवकाशीयता से। इसका अर्थ है, उस 'स्पेस' का प्रकटीकरण, जो कि न तो संस्कृति का है, न ही रचना का, परन्तु भाषा स्वयं का 'स्पेस' है, उस सफेद कागज के पृष्ठ पर रखा हुआ, एक भाषा, जो कि, अपनी प्रकृति से, एक 'स्पेस' का संगठन करती है और उसे खोलती है, प्रायः एक अत्यधिक जटिल 'स्पेस', जो कि अन्ततः मलार्मे की रचनाओं में साकार

हुआ– यह अबोधता का, कौमार्य का, धवलता का 'स्पेस' है। यह खिड़की के दरवाजे के काँच का स्पेस भी है, जो कि, उस शीत का, उस बर्फ का, उस तुषार का भी स्पेस है, जिसमें कि चिड़िया फँस जाती है।

यह वह स्पेस है जो कि कसा हुआ और समतल है, और जो बन्द है और जो स्वयं पर ही दुहरा हो जाता है। कहना चाहिए कि वह अपनी सारी धर्मसंगतता के सारे गुणों के लिए प्रकट है, यह प्रकट है, उस वेधी त्राटक–दृष्टि (यह शब्द अनुवादक का) के लिए भी, जो कि उसकी संवीक्षा कर सके, परन्तु यह त्राटक–दृष्टि, उसे छू कर भी जा सकती है। यह मुक्त स्पेस, एक ही समय में, एक पूर्णरूपेण परिबद्ध स्पेस भी है। यह स्पेस, जिसकी हम संवीक्षा कर सकते हैं, ऐसा स्पेस है जो जमा हुआ जान पड़ता है और पूरी तरह बन्द भी है। मलार्मे की वस्तुओं का यह स्पेस, मलार्मे की झील का यह'स्पेस' उनके शब्दों का स्पेस भी है। उदाहरण के लिए, उन मूल्यों को लीजिये जो कि, ज्याँ–पियरे रिचर्ड द्वारा, बहुत शानदार तरीके से, विश्लेषित किए गए हैं, मलार्मे की रचना में पँखे और पंख के मूल्य। पँखा और पँख, जब खुले हुए होते हैं, तब वे अपने पर पड़ने वाली दृष्टि से छुपाना उनका गुणधर्म होता है। अपनी पूर्णता में पँख, पक्षी को दिखने से छुपाता है, और इसी तरह पँखा चेहरे को छुपाता है। पँखा और पँख, दृष्टि से गुप्त रखते हैं, छुपाते हैं, वे सुरक्षा और दूरी प्रदान करते हैं, परन्तु वे उसी हद तक छुपाते हैं, जिस हद तक वे प्रकट भी करते हैं, यानि कि, उस हद तक कि जहाँ तक हम पँख, के सतरंगी चटकीलेपन को प्रकट पाते हैं, या पँखे की परिकल्पना को प्रकट पाते हैं। परन्तु, जब वे बन्द होते हैं, उसके उलट, पँख हमें पक्षी को देखने देते हैं, और पँखा, हमें चेहरा देखने देता है, वे हमें आने की अनुमति देते हैं, जब वे खुलते हैं तब, वे उसे पकड़ने या एकटक देखने की अनुमति देते हैं, जो अभी ही उन्होंने छुपाया था, परन्तु जैसे ही वे लिपटाए जाते हैं, वे जो कुछ भी अभी दृश्य था और प्रकट था,उसे आवृत्त कर लेते हैं, उसे छुपा देते हैं। अतः, पँख, और पँखा,अनावरण के एक अस्पष्ट क्षण, जो कि रहस्य का क्षण भी है, की निर्मिति करते हैं। वे सारा जो कुछ भी दृष्टव्य है,उस पर आवरण के क्षण की निर्मिति करते हैं और साथ ही साथ, उनके प्रदर्शन के क्षण की भी निर्मिति करते हैं।

मलार्मे की वस्तुओं का यह अस्पष्ट स्पेस, जो एक ही साथ प्रकट भी करता है और छुपाता भी है, संभवतः मलार्मे के शब्दों का स्पेस भी है, स्वयं शब्द का स्पेस। मलार्मे के लेखन में, शब्द, स्वयं को आवृत्त करके खुलता है, उसे इस प्रदर्शन के तले दफनाते हुए, जो वह कहने की प्रक्रिया में है। वह रिक्त पृष्ठ पर आवृत्त है, जो कुछ भी वहाँ कहने के लिए है, उसे छुपाते हुए, और आत्म–संगोपन के उस क्षण में, उसे, जो दूर है और जो कि हठधर्मिता से अनुपस्थित है, उसे दृष्टि में लाता है। और सम्भवतः यह मलार्मे की सारी भाषा की गति है। यह गति है, मलार्मे की पुस्तक की, वह पुस्तक जिसे कि हमें, भाषा की जगह के संदर्भ में, अत्यधिक सांकेतिक रूप से देखना चाहिए, और मलार्मे के इस अत्यधिक सटीक कार्यान्वयन को, जिसमें कि वे अपनी जीवन के अन्त में, खो चुके थे।

अतः, इसलिए इस पुस्तक की गति, यह ही है कि वह पँखे की भांति खुलती है, उस सब को ढाँपती हुई, जिसे वह प्रकट करना चाहती है और जब वह बन्द होती है तो उस शून्य को प्रकट करती है, जिसकी तरह उनकी भाषा ने, कभी इंगित करना बन्द नहीं किया। इसीलिए, यह

पुस्तक एक पुस्तक का असम्भाव्य है, जब वह खुलती है तो धवलता को विलग करती है, और जब बन्द होती है तो धवलता को प्रकट करती है। मलार्मे की पुस्तक, अपने धुँधला देने वाले असम्भाव्य में, भाषा के उस अदृश्य 'स्पेस' को दृश्यमान बनाती है, भाषा का वह अदृश्य 'स्पेस' (जिसका विश्लेषण किया जाना चाहिए) ने,न केवल मलार्मे के लेखन में बल्कि, हर उस रचनाकार के लेखन में जिसे की हम पढ़ना चाहते हैं, रचने की गुँजाइश बनाई है।

बहुत संभव है कि आप कहेंगे कि इस प्रकार के विश्लेषण, जो कि यहाँ–वहाँ रेखांकित किये गए हैं, एक प्रकार से लेखन को एक छितरे हुए तरीके से संबोधित करते हैं। जहाँ एक तरफ हमारे पास लक्षण–विज्ञानी परतों का अर्थान्वेषण है, वहीं दूसरी ओर, हमारे पास अवकाशीयता के रूपों का विश्लेषण है। तो विश्लेषण की यह दो गतियाँ– लक्षण–विज्ञानी परतों का विश्लेषण और अवकाशीयता के रूपों का विश्लेषण– क्या समानान्तर चलने चाहिए? वे कहाँ जाकर एक दूसरे से मिलते हैं? या फिर, वे सिर्फ अनन्त में ही जाकर, जहाँ लेखन अपनी दूरी में जाकर अत्यन्त क्षीण रूप में ही दृष्टिगोचर रह जाता है, एक दूसरे से मिलते हैं? क्या हम, एक दिन, उस अभिनव भाषा की आशा कर सकते हैं जो कि, लक्षण–वैज्ञानी मूल्यों के साथ–साथ, उस अवकाश को भी दृष्टि में लाएगी, जिसमें वह अवकाशित है?

इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि, हम इस प्रकार के किसी भी विमर्श की सम्भावना से बहुत दूर हैं, और मैंने जो अभी दृष्टिकोण प्रस्तुत किए, उनकी विषमताएँ, उस अक्षमता की ओर इंगित करती हैं।

लेकिन फिर भी, और सम्भवतः, यही हमारा उद्देश्य भी है। आज के, साहित्यिक विश्लेषण का कार्य, शायद, आज के दर्शन का कार्य, और सम्भवतः, आज के सारे विचार और सारी भाषा के विश्लेषण का कार्य, सम्भवतः, इसलिए है ताकि, हम भाषा को, हर भाषा के 'स्पेस' को समायोजित करने की अनुमति दे सकें, वह 'स्पेस' जिसमें शब्द, ध्वनियाँ, ध्वनि–ग्राम, लिखे हुए अक्षर, एक प्रकार से, संकेत हो सकें। एक दिन यह प्रारूप, जो कि भाषा को रखते हुए, अर्थ को मुक्त करता है, उसे प्रकट होना होगा। परन्तु, किस भाषा के पास वह बल या धैर्य होगा? किस भाषा के पास उतनी पर्याप्त हिंसा या तटस्थता होगी कि वह उस 'स्पेस' को नाम दे सके या प्रकट कर सके, जो कि उसे भाषा बनाता है? यह, हम नहीं जानते। क्या वह ऐसी भाषा होगी, जो कि हमारी भाषा से अधिक संघनित होगी, एक ऐसी भाषा जो कि साहित्य, आलोचना, या दर्शन के वास्तविक पार्थक्य के अनुभव से परे हो? एक भाषा, जो कि, एक प्रकार से, परम आद्य हो, वह जो कि, आह्वान कर सके, और आह्वान शब्द के कठोरतम अर्थ में, उसका जो कि ग्रीक विचार से प्रथम भाषा हो सकती है? या क्या हम कुछ और नहीं कह सकते, क्या हम यह नहीं कह सकते कि, साहित्य का वास्तव में अर्थ है, और अगर साहित्यिक विश्लेषण, उस अभिप्राय में, जिसमें कि मैंने उसका अभी जिक्र किया है, का कोई वास्तव में अर्थ है? संभवतः क्योंकि, ऐसा इसलिए है, क्योंकि भाषा क्या होगी इसका उन्हें पूर्वाभास है, शायद, ऐसा इसलिए है क्योंकि, ये वे संकेत हैं, जो बताते हैं कि, यह भाषा अपने जन्मने की प्रक्रिया में है। अन्ततः साहित्य क्या है? और वह उन्नीसवीं शताब्दी में क्यों प्रकट हुआ, और जैसा कि मैंने कल कहा, एक पुस्तक के 'स्पेस' में? शायद, यही साहित्य है, दरअस्ल, एक हाल ही का आविष्कार, जो कि दो शताब्दियों से भी कम पुराना है। यह एक मूलभूत सम्बन्ध का बनना है, एक ऐसा सम्बन्ध जो कि, धूमिल रूप से दृष्टव्य है, परन्तु फिर भी भाषा और 'स्पेस' के बीच में अवधारित नहीं हो सकता।

जब भाषा अपने सदियों पुराने कार्य, जो कि उसे एकत्रित करना है, जो कि विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए, को छोड़ देती है––जब भाषा, यह अनुभव करती है कि वह अतिक्राम्य और मृत्यु के द्वारा, 'स्पेस' के इस टुकड़े से, जिसे आसानी से भंग तो किया जा सकता है, परन्तु जिसका प्रकल्पन कठिन है, यानि कि पुस्तक, से सम्बन्धित है। तब जान लीजिए साहित्य जैसा कुछ जन्मने की प्रक्रिया में है। साहित्य का जन्म, हमारे फिर भी बहुत निकट है, और फिर भी, उसके मर्म में, यह प्रश्न उठता है कि, 'वह क्या है?' वह उस भाषा में, जो कि बहुत पुरानी है, अभी बहुत युवा है। वह एक ऐसी भाषा में प्रकट हुआ है, जो कि एक सहस्राब्दी से, या कहें कि ग्रीक विचार की भोर से, काल को दिया जा चुका है। इसलिए, यह उस भाषा में प्रकट हुआ है, जिसे कि काल को दिया जा चुका है, जैसे कि, हकलाना, भाषा के प्रथम, लड़खड़ाते हुए पग, जो कि, काफी समय तक चलते रहे, और जिसके निष्कर्ष में (हम अभी उस बिन्दु से बहुत दूर हैं) यह भाषा, 'स्पेस' को दे दी जाएगी। उन्नीसवीं शताब्दी तक पुस्तक, अपनी अवकाशीय भौतिकता में, उस वाग्मिता के लिए, एक आकस्मिक अवलम्ब थी, जिसकी मूल चिन्ता, स्मृति और अपनी 'पुनरागमन' की ही थी। परन्तु, उसके बाद, पुस्तक––और यहाँ पर साहित्य आता है––पुस्तक तो, लगभग साद के समय के आसपास, भाषा का मूलभूत स्थल, भाषा का दुहराया जा सकने वाला उद्‌गम स्थल, परन्तु, सर्वथा स्मृति–विहीन।

तो, फिर,सेन्त बव के समय से आलोचना क्या है? वह, अगर विचारने के एक प्रयास के अलावा, और क्या थी? एक आशाहीन प्रयास, और जो कि निश्चित रूप से विफलता के लिए अभिशप्त है, और समय के रूप में, उत्तराधिकार के रूप में, सृजन के रूप में, प्रभाव के रूप में, वंशानुक्रम के रूप में, उसे अवधारित करने का प्रयास, जो कि, काल के लिए अत्यन्त बाहरी है, ऐसा कुछ जो कि, 'स्पेस' को दिया जा चुका है, यानि कि, साहित्य? और यह साहित्यिक विश्लेषण, जो आज कल बहुतेरों के द्वारा विचाराभ्यास (विशेषण अनुवादक का) में है। यह किसी 'मेटा–लैंग्विज' में आलोचना की अभिवृद्धि नहीं है, यह आलोचना नहीं है, जो कि अब सकारात्मक हो गई है, अपने सारे गौण, धैर्य धरे संकेतों के साथ और अपने थोड़े से श्रमशील संचयनों के साथ। साहित्यिक विश्लेषण, अगर उसका कोई अर्थ है, और कुछ नहीं करता है सिवाय, आलोचना की मूलभूत सम्भावना को मिटाने के। वह शनैः–शनैः, परन्तु फिर भी एक धुन्ध के भीतर के, उस तथ्य को प्रकट करता है, कि भाषा अब कम ऐतिहासिक और वंशानुक्रत हो रही है। साहित्यिक विश्लेषण, मात्र यह दर्शाता है कि, भाषा अब स्वयं से दूर होती जा रही है, और वह, स्वयं से एक संजाल की तरह दूर हो रही है, और यह कि उसका बिखराव, काल के अनुक्रमण के कारण नहीं है, और न ही सायं के आह्लाद की तरह, बल्कि, मध्याह्न के, गतिहीन, तेजस्वी, विस्फोटन की तरह है। साहित्य, इस शब्द के कठोर और गम्भीर अर्थ में, जैसा कि मैंने विवेचन का प्रयास किया है, इस प्रकाशमान भाषा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, स्थिर, और टूटी हुई, यानि कि, ठीक वही 'वस्तु', जिसको हमें आज विचारना है।

मिशेल फूको

साहित्य क्या है ?

हिन्दी आलोचना की पोथियों में, वर्षों तक 'साहित्य क्या है?' इस प्रश्न का एक रेडीमेड उत्तर दिया जाता रहा कि 'साहित्य समाज का दर्पण है'। इस रूपकात्मकता के सहारे, साहित्य की परिभाषा देने की जो भी कोशिशें की गईं, वे बहुत भोली और सरल थीं। और आज ऐसे समय में, जबकि दर्पण की किस्में बदल चुकी हैं और समाज को देखने की दृष्टि, अब लेंस के उस पार से देखने की दृष्टि में विकसित हो चुकी है, तब, ऐसे में 'साहित्य क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर देना अब और भी अधिक जटिल हो गया है। क्योंकि, अब समाज और साहित्य को, लेंस के 'मैक्रो' और 'माइक्रो', दोनों ही कोणों से देखा जा रहा है। इसलिए, तमाम दृष्टियों के बीच, एक अपरिहार्य द्वैध मौजूद है। पश्चिम में, जब एल्विन कर्नान का 'विमर्शात्मक' लेखन सामने आया तो, 'साहित्य क्या है?' जैसे प्रश्न की नई शल्यक्रिया होने लगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि एल्विन कर्नान ने तो साहित्य के अवसान की ख़बर ही फैला दी थी। उन्होंने कहा कि, साहित्य का कोई स्वायत्त संसार नहीं है। लेखक और साहित्य के बीच संबंध–विच्छेद हो चुका है। साहित्य भी किसी अन्य अनुशासनों की तरह ही, लेखन की एक क़िस्म है। वह कोई महान् कर्म नहीं है। इस नए ज्ञानबोध ने उसके लिए अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया है। इसके साथ ही भाषाओं के संरचनागत उलट–फेर ने भी, साहित्य को एक नए और अप्रत्याशित ढंग से, चतुर्दिक घेर दिया है। जब, सत्य ही संकटग्रस्त है, तो निश्चय ही, उसके उत्पाद के रूप में साहित्य भी अपना वर्चस्व खो चुका है। ठीक इसी विमर्श के बीच, मिशेल फूको ने भी साहित्य को केंद्र में रख कर, जो लंबे, उत्तर–आधुनिक चिंतन की दृष्टि से आख्यान दिये, उन्हीं में से एक आख्यान का अनुवाद प्रस्तुत है। इसमें रचना, कृति, भाषा, और साहित्य के संश्लिष्ट अंतर्संबंधों को खंगालने की, बहुत ईमानदार कोशिशें की गई हैं। प्रस्तुत है, 'साहित्य क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर खोजने के परिणाम स्वरूप सामने आये मिशेल फूको का 1964 में बेल्जियम की राजधानी ब्रसेल्स में दिया गया, यह आख्यान –अनुवादक

'साहित्य क्या है?' कदाचित् यह ऐसा चर्चित प्रश्न है जिसका सरोकार अवश्य ही साहित्य–कर्म से ही है, परंतु इन दिनों, इसे हर बार कुछ ऐसी भंगिमा के साथ उठाया जाता रहा है,जैसे कि इसके पूर्व, यह कभी उठाया ही नहीं गया था, जबकि इसकी उम्र बेशक़ हमारी उम्र से अधिक तो क़तई नहीं है। हक़ीकत यह है कि, इस प्रश्न को उठाया भी जा रहा है, तो उस तीसरे पक्ष द्वारा, लगभग आश्चर्य प्रकट करने की मुद्रा बनाते हुए, उस 'वस्तु' को लेकर जो प्रकटतः स्वयं को, इस सबसे बाहर रखती है जबकि, उसका 'उत्स' मूलतः साहित्य के भीतर ही है। नतीजतन, यह प्रश्न साहित्य–कर्म से पृथक होकर और विशिष्ट बन जाता है।

'साहित्य क्या है?' यह प्रश्न साहित्य के इतिहासकार, आलोचक या समाजशास्त्री के तरफ़ से उठ कर आया हुआ नहीं है जो भाषा के किसी विशिष्ट तथ्य को लेकर, विस्मित हों, बल्कि ऐसा लगता है, ग़ालिबन, साहित्य के भीतर कोई गुफा खुल गई है जिसके भीतर ही यह प्रश्न, अपने समूचे अस्तित्व के साथ रहता आया है। कहना न होगा कि तो भी इसमें, एक बड़ा प्रकट अंतर्विरोध दिखता है जो प्रकारांतर से दुष्कर ही है। मेरा कहना है कि 'साहित्य क्या है?' इस प्रश्न में ही तो 'साहित्य' समाहित है। फिर भी यह प्रश्न, काफ़ी कुछ हाल ही का है। कहना चाहिए, यह प्रश्न बस कुछ ही दशकों का है और ख़ासतौर पर, इस प्रश्न के संबंध में हम यही––या इतना भर ही कह सकते हैं कि, जब हमारे समक्ष पहली बार, मलार्मे का कृतित्व आया, तब ही यह प्रश्न भी सूत्रबद्ध हुआ। साहित्य अपने आप में, निश्चय ही कालातीत है, और उसकी, मानव–भाषा से बढ़ कर, कोई कालक्रम और नागरिकता नहीं स्वीकारी जा सकती। हालाँकि, मेरा मानना है, और मैं इस धारणा को लेकर काफी हद तक अपने तईं सुस्पष्ट भी हूँ कि साहित्य स्वयं उतना ही पुराना है, जितना कि हम,अभी तक उसके होने का दावा करते रहे हैं। निस्संदेह, सहस्राब्दियों से, ऐसा 'कुछ' अस्तित्व में रहा है जिसके पुनरावलोकन के रूप में हम, उसे साहित्य कहने के अभ्यस्त हैं। परंतु, संक्षेप में, यकीनन यह वही है, जिसकी 'सत्यता' पर, हमें निरन्तर ही प्रश्न उठाते रहना चाहिए। मसलन, इसे संदेह से देखा जाना चाहिए कि दांते या सर्वान्तेस या यूरिपिडिस ने, जो कुछ रचा था,क्या वह साहित्य था? निस्संदेह, वे लोग साहित्य के ही हैं, इस कथन से मेरा आशय वही है कि वे हमारे 'समकाल' के साहित्य के अंश हैं। मात्र इसलिए कि जिस काल से उनका संबंध है, उससे हमारे भी सरोकार दूर तक उसी तरह ही जुड़े हुए हैं। वे हमारे साहित्य का ही अंश हैं, लेकिन अपने स्वयं के साहित्य का नहीं, क्योंकि इसका तर्कसंगत कारण यह है कि तब तक ग्रीक–साहित्य का कोई अस्तित्व ही नहीं था। और, लैटिन साहित्य का भी नहीं। यदि, प्रकारांतर से दूसरे शब्दों में मुझे कहना पड़े, तो मैं यही कहना चाहूँगा कि यूरिपिडिस का संबंध वस्तुतः हमारे साहित्य से आता है, लेकिन उन्हीं कृतियों का संबंध, निश्चित रूप से ग्रीक से नहीं आता। यह स्थापना स्पष्ट करने के लिए, मैं मुख्य तीन चीज़ों के मध्य स्पष्ट भेद रेखांकित करना चाहूँगा।

पहला यह कि भाषा है और उस भाषा में, जो कुछ भी उच्चरित होता है, वह उसका स्पंदन है, और इसके साथ ही, यह एक ऐसी नितांत पारदर्शी व्यवस्था है, जिसके फलस्वरूप, वस्तुतः हम जब बोलते हैं, तभी हम समझे भी जाते हैं। संक्षेप में, भाषा एक ही समय में, पूरे इतिहास भर में एकत्र शब्दों का परिणाम है, और साथ ही साथ, यह अपने आप में, भाषा की एक अंतर्निहित व्यवस्था भी है, जो हमारे मध्य, स्वयं को 'सम्प्रेषित' या 'अभिव्यक्त' होने के काम के दायित्व को सम्पन्न करती है।

अतः, जहाँ एक तरफ़ हमारे पास भाषा है तो वहीं दूसरी तरफ़ हमारे पास साहित्यिक कृतियाँ हैं। चलिये, यह कहिए कि, पहले तो भाषा के भीतर एक विचित्र 'वस्तु' है, और दूसरे भाषा का अपना एक विशिष्ट विन्यास है, जो स्वयं पर भी स्वयं को एकाग्र करता है, और जो गतिहीन होकर स्वयं, अपने लिए एक 'स्पेस' बनाता है। वह उसी 'स्पेस' में, उस स्पंदन के प्रवाह को रोके रखती है। कहना न होगा कि यही बात ही, उसके चिह्नों और शब्दों की पारदर्शिता को सघन बनाती है। ऐसा करते हुए, वह धीरे–धीरे उस पारदर्शिता को, अपारदर्शी और रहस्यपूर्ण 'वॉल्यूम' में बदल देती है। फलतः यही साहित्यिक कृति की गढ़ंत है।

इसके अलावा, वहाँ एक तीसरा शब्द भी है, जो वास्तविक अर्थों में भाषा या लेखन नहीं है बल्कि, यह तीसरा शब्द ही साहित्य है। दरअस्ल, साहित्य भाषा का कोई सामान्यीकृत रूप नहीं है, ना ही कोई ऐसा शाश्वत क्षेत्र है जहाँ भाषा अपना कार्य सम्पन्न करती हो। कहना चाहिए कि इस तरह, यही वह तीसरा शब्द है, त्रिकोण का शीर्ष, जिसके भीतर भाषा और भाषा–कार्य संपादित होता हुआ, संचारित होता है।

मेरा विश्वास है कि यह इसी क़िस्म की संबंधता है जिसके चलते साहित्य शब्द, सामान्य तौर पर स्वीकारा जाता है, और जो 'साहित्य' कहलाता है। सत्रहवीं शताब्दी में, साहित्य से अभिप्राय, किसी व्यक्ति का प्रचलित भाषा में, अपने दैनंदिन को कुशलता से व्यक्त करना था, जो अंतर्निहित था। इसी संबंध ने, क्लैसिक युग में, साहित्य की गढ़ंत की निर्मिति की जिसका परिचय, ज्ञान, स्मृति और उसकी ग्राह्यता भर से था। परंतु, एक समय बाद, भाषा तथा उसके कार्य व्यापार का अंतर्संबंध, साहित्य को लांघ जाता है। एक निश्चित समयावधि के बाद, यह, ज्ञान की एक 'निरी संबंध निरपेक्षता' में जा कर, विसर्जित हो जाता है, लेकिन यही संबंध रचनात्मक लेखन और भाषा के साहित्यिक कार्य–व्यापार में, रूपान्तरण के समय, गहन और अस्पष्ट हो जाता है। यही वह क्षण होता है, जब 'साहित्य' शब्द, पूर्व में बने उस त्रिकोण का तीसरा जीवंत शब्द हो जाता है।

कुल मिलाकर,यह क्षण, प्रत्यक्ष रूप से अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का समय है यानि कि 'शतूब्रियाँ', 'मदाम द स्तील', या 'द ला आर्प' के निकट का समय है, जब अठारहवीं शताब्दी स्वयं से विमुख हो गई और अपने साथ ऐसा 'कुछ' लिये चली गई, जो अब हमारे पास नहीं है। लेकिन, यह हम निर्धारण करना चाहते हैं कि 'साहित्य क्या है?' तो यह सब, तो अनिवार्यतः विचारणीय होगा ही।

बेशक़, कुछ विशुद्ध ऐतिहासिक कारणों की वजह से, एक समय ऐसा भी आया, जब साहित्य काफ़ी हद तक इस स्थिति में रहा कि जब उसके पास, स्वयं के अतिरिक्त स्वयं को देने के लिए कोई अभीष्ट था ही नहीं। हक़ीकतन, मुझे लगता है कि बिलकुल आरंभ से ही साहित्य का 'स्वयं से संबंध', और 'साहित्य क्या है?' इस सवाल का जन्मना संबंध, त्रिकोणीयता से आता है। किसी भी भाषा को स्वयं को कृति में रूपान्तरण के लिए, साहित्य की आवश्यकता नहीं होती, न ही उसे भाषा से गढ़ंत की दरकार होती है, साहित्य तो तीसरा बिन्दु है, जो साहित्यिक काम और भाषा दोनों से बिलकुल भिन्न है। जी हाँ, तीसरा बिन्दु, जो कि, उनकी गति के लिए बाहरी है। भाषा, इसी हेतु के लिए एक ख़ाली स्पेस का निर्माण करती है,और अनिवार्यतः उसी ख़ालीपन

में, 'साहित्य क्या है?' यह प्रश्न जन्म लेता है। परिणामतः, यह सवाल साहित्य पर, ऊपर से थोपा नहीं जा सकता।

हम सदा से ही यह कहने के अभ्यस्त रहे हैं कि 'साहित्य की प्रकृति' के बारे में, आलोचनात्मक विवेक, चिंतनात्मक अनिश्चितता, पर्याप्त विलंब से आई और अपने साथ वह, एक तरह से साहित्यिक कृतियों के विरलीकरण और अशुद्धीकरण को भी लाई। यह ऐसे समय में था, जब, विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक कारणों से साहित्य, विकल्प देने के लिए, स्वयं के अलावा स्वयं का ही विकल्प दे सकने की स्थिति में था और कोई अन्य अभीष्ट देने में सर्वथा अक्षम था। हकीकतन, ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि साहित्य का स्वयं से स्वयं का ही संबंध है। यह आलोचनात्मक विवेक के द्वारा नहीं जोड़ा गया है, जो साहित्य का परिशिष्ट है, साहित्य का मूल अस्तित्व है। लेकिन मूल रूप से विच्छिन्न और विखंडित।

मेरा 'कर्ता' विशेष के बारे में बोलने का उद्देश्य नहीं है, न ही कृति के बारे में, न ही साहित्य के बारे में, और न ही भाषा के बारे में। परंतु, मैं अपनी भाषा को, उसमें अवस्थित करना चाहता हूँ, जो दुर्भाग्य से, न तो एक कलाकृति है और न ही साहित्य। मैं उसे, उस दूरी में अवस्थित करना चाहूँगा, उस अपसरण में, उस त्रिकोण में, उस उत्स के उस विस्तार में, जहां कृति, साहित्य और भाषा एक दूसरे को चकाचौंध में डालते हैं। और इससे मेरा अर्थ यह है कि ये परस्पर एक दूसरे को आलोकित करते हैं और अंधा बनाते हैं, ताकि शायद, इसके कारण, उनके अस्तित्व का कोई आयाम चुपके से हम तक पहुँच सके। शायद, आप, मेरे कहे जाने की न्यूनतया अपर्याप्तता से कमोबेश कुछ स्तब्ध और निराश होंगे।

परन्तु, मैं यह पूरी तरह चाहूँगा कि आप इस अल्पता पर ध्यान दें, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि आप भाषा की इस गुफा से अवगत हों, क्योंकि वह अपने अस्तित्व में आने के समय से ही, साहित्य में धँसती जा रही है, जिसका मतलब है, उन्नीसवीं शताब्दी से। मैं चाहूँगा कि आप संज्ञानात्मक बन कर, घिसे पिटे जुमलों से अपना पिण्ड छुड़ाएँ। एक विचार, जो कि साहित्य ने विशेष रूप से स्वयं के बारे में निर्मित किया है, और वह विचार इस प्रकार है––साहित्य एक भाषा भी है, शब्दों से बना हुआ एक पाठ, शब्द–दर–शब्द। परंतु, उन शब्द को, जो इतने उपयुक्त और सटीक ढंग से चुने और जमाए गए हैं कि जो कुछ 'अकथनीय' है, वह उनके बीच से गुजर जाता है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मामला इसके बिलकुल ही उलट है। साहित्य, अप्रकट से नहीं बना है, बल्कि 'अप्रकट के प्राकट्य' से बना है, कुछ ऐसा, जिसके फलस्वरूप हम उसका उल्लेख कर सकते हैं, जिसे हम शब्द के मूल और यथातथ्य अर्थ में, 'गल्प' कह सकते हैं। अतः इसलिए, यह 'गल्प' से बना है, कुछ उससे भी जिसे कहा जाना चाहिए और जो कहा जा सकता है। परंतु यह 'गल्प' 'अनुपस्थिति की भाषा' में कहा जाता है।यह वध है,यह द्वैध है, यह प्रतिकृति है, जिसके कारण, मुझे ऐसी प्रतीति होती है कि साहित्य पर विमर्श संभव है। एक ऐसा विमर्श, जो उन संकेतों से भिन्न हो, जिन्होंने कई सौ सालों से हमारे कानों पर चोट की है, संकेत जो इंगित करते हैं, मौन की तरफ, गोपन की तरफ, जो 'अकथ' है उसकी तरफ, हृदय के उतार–चढ़ावों की तरफ, और अंत में वैयक्तिकता के सारे आकर्षणों की तरफ, जहां आलोचना ने, अभी हाल ही तक, अपनी ढुलमुलता को आश्रय दे रखा था।

प्राथमिक खोज यह है कि, साहित्य, भाषा का क्रूर तथ्य नहीं है, जो शनैः शनैः स्वयं के वेधन की अनुमति देता है, अपने 'सत्व' और अपने 'अस्तित्व' के अधिकार के गूढ़, और अनुषंगी प्रश्न को। अपने आप में, साहित्य, भाषा के खोखल से पैदा की गई, गुंजायमान दूरी है, एक दूरी, जो निरंतर तय की जाती है, परंतु कभी उस पार नहीं ले जाती। यह एक प्रकार की ऐसी भाषा है, जो अपने ही इर्दगिर्द डोलती रहती है, जिसमें है, एक प्रकार का स्थित कंपन। परंतु, भाषा के भीतर का यह 'दोलन' और 'कंपन' अपने आप में, पूर्णतः यथोचित नहीं है, क्योंकि ये हमें या साहित्य के पाठक को इस आभास के निकट ले जाते हैं कि साहित्य द्विधुव्री है। अर्थात, साहित्य एक ही समय में, साहित्य का हिस्सा है और ठीक उसी समय में वह समान रूप से भाषा का हिस्सा भी है और यह भी कि इससे भाषा और साहित्य के बीच संकोच जैसा भी है। दरअस्ल, रचना के साहित्य से संबंध को, पूरी तरह से रचना की जड़, और गतिहीन सघनता के भीतर जाकर समझा जाता है, और ठीक उसी समय में, यही वह संबंध है, जिससे 'रचना' और 'साहित्य' एकमेक होते हैं।

'लेखन' कब, एक प्रकार से, साहित्य होता है? लेखन का विरोधाभास, कमोबेश, यह तथ्य है कि वह, अपने प्रारंभ के सिर्फ कुछ क्षणों में साहित्य होता है, अपने पहले वाक्य के साथ, अपने कोरे कागज के साथ। निस्संदेह, यह उस क्षण में और लगभग उस सतह पर साहित्य है, उस प्रारम्भिक संस्कार में, जो शब्दों को, उनके 'स्पेस' के साथ प्रतिष्ठापन की जगह देता है। इसके परिणामस्वरूप, जब यह रिक्त पृष्ठ भरने लगता है, जब शब्द, अब तक की अछूते रहे कागज की इस सतह पर लिखे जाते हैं, तो ठीक उसी क्षण में, हरेक शब्द, साहित्य के अर्थ में रूप में, परम विफलता है, क्योंकि तब ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो अनिवार्य रूप से, किसी नैसर्गिक अधिकार से, साहित्य से संबन्धित हो। दरअस्ल, जब एक खाली पृष्ठ पर, एक शब्द लिखा जाता है, जो कि साहित्य का पृष्ठ होगा, ठीक उसी क्षण में,वह साहित्य नहीं होता। यानि, हरेक सच्चा शब्द, एक किस्म से अतिक्रमण है, और ऐसा अतिक्रमण है, जो शुद्ध, श्वेत, रिक्त, और पूज्य साहित्य के सत्व के संबंध में अतिक्रमण करता है, जो हर रचना को साहित्य की पूर्ति नहीं बनाता बल्कि उसके पतन, उसके उल्लंघन और उसके विलगाव का कारण बनता है। हरेक शब्द, जो साहित्यिक गौरव से दूर और प्रतिष्ठाच्युत है, एक अतिक्राम्य है, हर नीरस और साधारण शब्द, एक प्रकार का अतिक्राम्य है। परंतु, हर शब्द, जैसे ही वह लिखा जाता है, वह भी एक अतिक्राम्य शब्द है।

'काफी अरसे बाद, मैं सोने के लिए बिस्तर पर जल्दी गया।' In Search of Lost Time* की शुरुआत इस तरह होती है। एक अर्थ में, यह वास्तव में, साहित्य में प्रवेश है, पर यह स्पष्ट है कि इनमें से एक भी शब्द, साहित्य के अंतर्गत नहीं आता। यह साहित्य में प्रवेश इसलिए नहीं है क्योंकि, यह वाक्य, उस भाषा की प्रविष्टि होगी, जो पूरी तरह साहित्य के सारे चिह्नों, के साथ पृष्ठ पर उतरती है। इसलिए कि यह, पूर्णतया खाली पृष्ठ पर भाषा का फूटना है, बिना किसी पूर्व सूचना, चिह्नों और अस्त्र–शस्त्रों के साथ, ऐसे 'कुछ' की दहलीज पर, जिन्हें हम कभी अपनी माँस–मज्जा में शामिल नहीं देखेंगे। शब्द, जो हमें उस निरंतर 'अनुपस्थिति की दहलीज' पर ले जाते हैं, जो अंततः साहित्य बनता है।

इसके अलावा, साहित्य की यह विशिष्टता है कि जब से वह अस्तित्व में आया है,

उन्नीसवीं शताब्दी से, जबसे इसने पाश्चात्य संस्कृति को एक अतिपरिचित छवि दी है, जिसको लेकर हम विस्मित होते हैं या यह एक विशिष्टता है कि साहित्य ने हमेशा स्वयं को एक कार्य भार दिया है, और वह कार्य, साहित्य के वध का कार्य है। उन्नीसवीं शताब्दी से, अब यह साहित्यिक कृतियों के अनुक्रम में, उस विवादित और प्रतिवर्ती 'संबंध' का प्रश्न नहीं रहा है। वह जानना, जो अपने आप में काफी दिलचस्प है––अर्थात् वह संबंध है, जो कि पुराने से नए का है, और जो सारे क्लैसिक साहित्य के आत्मान्वेक्षण का केन्द्र बिन्दु रहा है। यह अनुक्रमण का भी संबंध है, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकट हुआ। कई प्रकार से, यह एक पूर्व संबंध है, जो कि दोनों,'साहित्य के उपसंहार' का और 'साहित्य के आद्य वध का' संबंध है। बौदलेयर के लिए रोमांटिसिज़्म वह नहीं है, जो मलार्मे के लिए है और बौदलेयर वह नहीं है, जो मलार्मे के लिए। अति यथार्थवाद वह नहीं है जो, रासीन, कोर्निये के लिए था या ब्यूमार्की, मारीवू के लिए था।

हकीकतन, साहित्य के क्षेत्र में, उन्नीसवीं शताब्दी में, जो ऐतिहासिकता प्रकट हुई, वह ऐतिहासिकता एक विशिष्ट प्रकार की है, जो कि किसी भी प्रकार से, उस ऐतिहासिकता के साथ सम्मिलित नहीं की जा सकती, जिसने अठारहवीं शताब्दी तक साहित्य की 'निरंतरता' या 'अंतराल' को सुनिश्चित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में, साहित्य की ऐतिहासिकता के लिए, अन्य रचनाओं को खारिज किया जाना आवश्यक नहीं है, और ना ही आवश्यक है, उनका लोप होना, या उनका स्वीकार। दरअस्ल, उन्नीसवीं शताब्दी में, साहित्य की ऐतिहासिकता के लिए यह आवश्यक है कि साहित्य अपने स्वयं को निरस्त करे, और साहित्य को इस 'स्वयं के खारिज करने का मूल्यांकन, साहित्य के स्वयं की नकार के काफी जटिल उलझन के परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए। हर एक काम, भले ही वो बौदलेयर का हो, या मलार्मे का, या अतियथार्थवादियों का या किसी और का, उसमें कम से कम चार निषेध, चार अस्वीकृतियाँ, या चार संभावित वध समाविष्ट रहते हैं। पहला, अन्यों के साहित्य को खारिज करना, दूसरा, अन्यों के साहित्य के रचने के अधिकार की अस्वीकृति, और इस तथ्य को चुनौती कि दूसरों की रचना, संभवतः साहित्य की तरह स्वीकारी जा सकती है या नहीं, तीसरा, स्वयं के साहित्य के रचने के अधिकार को चुनौती देना या उसे नकारना, और चौथा, साहित्यिक भाषा का इस्तेमाल करते हुए, सिवाय साहित्य के सुवव्यस्थित और पक्के वध के अलावा, कुछ कहने और करने को अस्वीकारना।

तो, हम यह कह सकते हैं कि, उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से, हर साहित्यिक कर्म ने अपने को, उस पवित्र और अज्ञेय सत्व की तरह जिसे साहित्य माना गया था, के अतिक्रमण के रूप में, न केवल स्वयं को प्रस्तुत किया, बल्कि वह स्वयं भी इस अतिक्रमण से अवगत था। और फिर भी, एक अर्थ में, हर शब्द, उस क्षण से, जब वह उस चर्चित खाली पृष्ठ पर, जिसको लेकर हम विस्मित हैं, पर लिखा जाता है, अंततः हर शब्द एक चिह्न बनाता है। यह शब्द, किसी विशेष के लिए चिह्न बनाता है, क्योंकि यह सामान्य, साधारण शब्द नहीं है। यह कोई चिह्न बनाता है, जो कि साहित्य है। हर शब्द, जो जैसे ही उस रचना के खाली पृष्ठ पर लिखा जाता है, एक प्रकार का सूचक है, जो किसी ऐसे 'कुछ' की तरफ संकेत करता है, जिसे हम साहित्य कहते हैं। क्योंकि यथार्थ में, भाषा के किसी भी काम में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो दैनंदिन में कहा जाता हो, 'कुछ' भी, किसी असली भाषा का हिस्सा नहीं है, और मैं आप को चुनौती देता हूँ कि आप किसी भी साहित्यिक कृति में से, ऐसा एक भी अनुच्छेद ढूंढ कर लाइये, जिसके बारे में हम यह दावा कर सकें कि वह रोजमर्रा की भाषा के यथार्थ से लिया गया है।

यद्यपि, मैं यह पूर्ण रूप से समझता हूँ कि कभी–कभार ऐसा भी होता है,मैं जानता हूँ कि कुछ लोगों ने वास्तविक संवादों को लेकर, उनमें से कुछ टेप पर रिकॉर्ड भी हैं, जिस तरह मिशेल ब्यूटोर ने अपने सान मार्को के वर्णन के लिए किया है, जहां गिरजाघर के वर्णन में, उसने कई दर्शनार्थियों के टेप पर रिकोर्डेड संवादों की पुनर्प्रस्तुति की है, उनमें से कुछ ने गिरजाघर के बारे में टिप्पणी की है और कुछ ने पास ही में बिकने वाले आइसक्रीम की गुणवत्ता पर टिप्पणी की है। परंतु, यथार्थ की भाषा जो अभी उद्धृत की गई और साहित्यिक कृति में इस्तेमाल की गई, और जब वह अस्तित्व में आती है, तब वह एक क्यूबिस्ट चित्र में अटके कागज के चिंदे से अधिक कुछ नहीं है। कागज का यह चिंदा, चित्र को 'यथार्थ' बनाने के लिए नहीं है, बजाए इसके, यह उस चित्र के 'स्पेस' को खण्डित करने के लिए है, और इसी प्रकार में, सच्ची भाषा, जब वह सचमुच में साहित्यिक कृति में प्रविष्ट की जाती है, तो यह भाषा के 'स्पेस' को छेदने के लिए है, उसे एक प्रकार का सममितार्थी आयाम देने के लिए है, और जो दरअस्ल, उसमें नैसर्गिक रूप से समाहित नहीं है। इसलिए कृति, अंत में सिर्फ उस सीमांत तक अस्तित्व में आती है, और उस क्षण में, सारे शब्द का रुझान साहित्य की ओर होता है, और साथ ही साथ, वे साहित्य की तरह दीप्त हो उठते हैं, और एक ही समय में, यह कृति अस्तित्व में है क्योंकि यह साहित्य अब अपवित्र है, जादुई है, यही साहित्य, जो इन सारे, पहले से लेकर आखरी शब्दों को समर्थन देता है।

तो हम यह कह सकते हैं कि कुल मिला कर, एक प्रस्फुटन के रूप में 'रचना' का विलोपन हो जाता है और उस स्पंदन में जो कि साहित्य का मंत्र है, विलीन हो जाता है। इसलिए ऐसी कोई 'रचना' नहीं है, जो साहित्य का हिस्सा न बन जाए, जो सिर्फ इसलिए अस्तित्व में है, क्योंकि उसके आसपास, आगे, पीछे, साहित्य की निरंतरता जैसा कुछ अस्तित्व में है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो आयाम, सात्विक और तामस, जिनका प्रकार्य है, हर शब्द को साहित्य के 'हेतु' के लिये लगातार नए सिरे से, चिह्नित करते रहना। मुझे ऐसा लगता है कि यही वह तत्व है, जो हमें साहित्य के दो अनुकरणीय और प्रतिमानक रूप में रेखांकित करने की गुंजाइश देगा, जबकि वे एक दूसरे से विमुख हैं, फिर भी एक दूसरे से अंतर्निहित संबंध रखते हैं।

पहला होगा, उल्लंघन का अलंकार, मानी भाषा का अतिक्रामी रूप, और दूसरा होगा, उन शब्दों का स्वरूप जो साहित्य की ओर, तथा, साहित्य को इंगित करते हैं। तो, एक तरफ हमारे पास अतिक्रामी कथन है, और वहीं दूसरी ओर, हमारे पास है, जिसे मैं कहूँगा, पुस्तकालय। ('यहाँ पुस्तकालय शब्द स्थान विशेष की तरह नहीं, बल्कि, पोस्ट–स्ट्रक्चरल अवधारणा के संदर्भ में व्याख्याश्रित है– अनुवादक) की पुनरावृत्ति। एक बहिष्कृत का, भाषा की सीमा का, कारागृह में बंदी लेखक का अलंकार है। दूसरा, एकत्रित पुस्तकों का स्पेस है, जो एक–दूसरे से सटा कर रखी हुई हैं, और उनका सबका सिर्फ एक झरोखे जैसा अस्तित्व है, जो उनकी रूपरेखा बनाता है और सभी संभावित पुस्तकों के आकाश में उनकी पुनरावृत्ति करता रहता है।

यह स्पष्ट है कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में, साद ने, अतिक्राम्य भाषा सुस्पष्ट की। हम यह भी कह सकते हैं कि, उनकी कृतियाँ वह प्रस्थान बिन्दु हैं, जहां एक साथ, सारी अतिक्रामी

भाषा, एक साथ इकट्ठी भी होती हैं और उसे संभव भी बनाती हैं। साद का काम, निस्संदेह, साहित्य का एक ऐतिहासिक प्रारम्भ है। कहने दीजिए कि एक अर्थ में, साद का सारा काम एक वृहद 'pastiche' है। उसमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं है, जो पूरी तरह उनसे पहले किसी अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक, जैसे कि रूसो ने कहा न हो, और वह दार्शनिकों के कथन पर उल्टा न दिया गया हो, एक भी दृश्य और वृत्तांत ऐसा नहीं है, अठारहवीं शताब्दी के उपन्यासों के उन असहनीय दृश्यों में से,जो साद वर्णित करते हैं, हां, एक भी दृश्य ऐसा नहीं है, जो यथार्थ में हास्यप्रद और अपने आप में 'pastiche' न हो। हमें सिर्फ उन उपन्यासों के चरित्रों के नामों को खंगालना भर होगा, उन लोगों के नाम जानने के लिए, जिन्हें साद अनाकृत करना चाहते थे।

कहने का तात्पर्य यह कि, साद का लेखन, समूचे दर्शन को, समूचे साहित्य को, और साथ ही साथ समूची भाषा को, जो उनके पहले आई, खारिज कर देने का दावा करता था, और दिलचस्प बात यह है कि इसके साथ ही साद का वह सारा साहित्य भी खारिज होकर के अलग इसलिए हो जाएगा, क्योंकि वह अतिक्राम्य हो चुका है, उस भाषा के द्वारा, जिसने उस पृष्ठ को अपवित्र किया। और, जो अब पुनः रिक्त हो चुका था। और अब जहां तक अबाधित नामोल्लेख का प्रश्न तथा साद के बहुचर्चित रत्यात्मक दृश्यों की तमाम हलचलों का प्रश्न है, जो सतर्कता से अपनी सारी संभावनाओं से गुजरती हैं, वे और कुछ नहीं बल्कि, एक अतिक्रमित भाषा में विघटित कृतियों के अलावा कुछ और नहीं हैं। वह कृत्य, जो एक अर्थ में, पहले के लिखे हुए समूचे शब्दों को मिटा देता है, और ऐसा करने में, एक ऐसे रिक्त 'स्पेस' का निर्माण करता है, जहां आधुनिक साहित्य जगह लेगा। जबकि, मैं तहेदिल से मानता हूँ कि साद, साहित्य के प्रतिमान हैं। और साद की भाषा का अर्थालंकार, जो कि अतिक्रमित भाषा का है,का प्रतिरूप, पुस्तक के रूप में उपस्थित है, पुस्तक जो कि अनंत तक रहती है और उसका प्रतिरूप, उसका विलोम है, पुस्तकालय, जो कि कहना होगा कि, साहित्य के समांतर अस्तित्व में है, एक अस्तित्व, जो कि यथार्थ में, सरल नहीं है, एकार्थक नहीं है, पर जिसका द्वि–प्रतिमान, जैसा कि मैं मानता हूँ, शतूब्रियाँ होंगे।

इस बारे में कोई संदेह नहीं है कि, साद और शतूब्रियाँ की समकालीनता, महज कोई साहित्यिक संयोग नहीं है। प्रारम्भ से ही, शतूब्रियाँ का लेखन, अपनी पहली पंक्ति से, अपने आप में एक पुस्तक होने की तसदीक करता है, वह स्वयं को साहित्य के निरंतर स्पंदित होते रहने के स्तर पर बना कर चलता है, वह स्वयं को तत्क्षण, इस एक प्रकार की धूल–धूसरित हो जाने वाली शाश्वतता, जो कि एक परम पुस्तकालय की होती है, में रूपांतरित करना चाहता है। वह तत्काल, साहित्य के ठोस अस्तित्व से पुनःसाक्षात्कार करता है, और इसके कारण, सब कुछ जो भी शतूब्रियाँ, के पहले लिखा या बोला गया है, उसका एक प्रकार के पूर्व इतिहास में सिमट जाने का, निमित्त बनता है। इसलिए, हम यह कह सकते हैं कि कुछेक सालों के अंतराल के भीतर से, शतूब्रियाँ, और साद, समकालीन साहित्य की दो परिसीमाएँ हैं। मसलन, याद कीजिये, Atala, or the Love of Two Savages in the Desert और La Nouvelle Justine, ou les Malheurs de la veru, लगभग एक ही समय अस्तित्व में आईं। हालाँकि, निश्चित रूप से, इन दोनों पुस्तकों की तुलना करना बहुत सरल होगा। परंतु, हमें उनके पारस्परिक संबर्धन के सिद्धान्त को समझने की कोशिश करनी होगी, उत्तरी–अठारहवीं शताब्दी से लेकर पूर्वी–उन्नीसवीं

शताब्दी तक के उस क्षण में, उन कृतियों में, उन अस्तित्वों में, यह समय की वह परत है, जिसमें साहित्य के आधुनिक अनुभव का जन्म होता है। इस अनुभव का, मृत्यु या अतिक्रमण से, संबंध विच्छेद नहीं किया जा सकता, इसका संबंध विच्छेद उस अतिक्रमण से भी नहीं किया जा सकता जिसमें अपने पूरे जीवन भर, साद संलग्न रहे और जिसका मूल्य, जैसा कि आप जानते हैं, उन्होंने अपनी स्वतंत्रता से चुकाया। और जहां तक मृत्यु का प्रश्न है, जैसा कि आप जानते हैं, मृत्यु का भय, शतूब्रियाँ, को, जिस क्षण से उन्होंने लिखना शुरू किया, तब से सताता रहा। उनके लिए यह स्पष्ट था कि, उनके लिखे हुए शब्दों का अर्थ उनकी मृत्यु तक ही था, उस हद तक कि उनके शब्द, उनके जीवन और उनके अस्तित्व से परे, कहीं मँडराते रहें।

मुझे ऐसा लगता है कि, यह अतिक्रमण और यह मृत्यु से परे की यात्रा, समकालीन साहित्य की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। अगर आप चाहें तो, हम यह कह सकते हैं कि साहित्य में, भाषा के इस रूप के जो हमारे बीच उन्नीसवीं शताब्दी से अस्तित्व में है, उसके सही मायनों में बोलने वाले सिर्फ दो सच्चे नागरिक हैं– अतिक्रमण के लिए ईडिपस और मृत्यु के लिए ओर फीयस। और सिर्फ दो ही लोग हैं, जिनके बारे में बात की जाती है। दो लोग, जिन्हें एक ही समय में, धीमे स्वरों में और लगभग परोक्ष रूप से, संबोधित किया जाता है, और वे हैं, जोकास्टा, जो कि अपवित्र की गई है, और यूरिपिडिस का, जो कि पहले विलोपित हो जाती है और बाद में पुनः पायी जाती है। ये दो श्रेणियाँ, इसलिए, 'अतिक्रमण' और 'मृत्यु' या, अगर आप चाहें तो, निषिद्ध और पुस्तकालय, जिन्हें हम साहित्य का अंतर्निहित अवकाश कह सकते हैं, का वितरण करते हैं। यह अत्युक्ति नहीं है कि किसी भी प्रकार से, हमारे निकट साहित्य जैसा कुछ, इसी जगह से आता है। यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि साहित्य, साहित्यिक कृतियाँ, भाषा के पूर्व की एक प्रकार की रिक्तता से नहीं उपजती हैं, बल्कि पुस्तकालय के पुनरावृत्ति से आती हैं। पहले से ही, शब्द की अत्यधिक अशुद्धि से, और ठीक इसी क्षण से, और एक ही समय में 'भाषा', 'यथार्थ' और 'साहित्य' की ओर संकेत करती हैं।

बहरहाल, पूछा जा सकता है कि बताइए, यह कहने का अभिप्राय क्या है कि लेखन साहित्य की ओर संकेत करता है? इसका अभिप्राय यह है कि लेखन साहित्य को आहूत करता है, चूँकि वह अपने सरोकार प्रस्तुत करता है, कि वह स्वयं के ऊपर कई चिह्न थोपता है, जो कि दूसरों और उसे स्वयं को भी यह सिद्ध करने के लिए कि वह वास्तव में साहित्य है। ये–सच्चे–संकेत, जिनके द्वारा हर शब्द, हर वाक्य, यह दर्शाता है कि वह 'साहित्य' का है, यही वह है, जिसे वर्तमान आलोचना, रोलाँ बार्थ के समय से, 'लेखन' कहती है।

यह लेखन, हर 'रचना' को, एक प्रकार से, एक लघु प्रतिरूप, जैसा कि साहित्य का एक ठोस प्रतिमान है, बनाता है। इसमें साहित्य का सार समाविष्ट है, पर इसके साथ ही साथ, वह इसकी सच्ची, प्रत्यक्ष छवि प्रस्तुत करता है। एक अर्थ में, हम यह कह सकते हैं कि, हर रचना न केवल वह कहती है, जो वह कहना चाहती है, जिसका वह बखान करती है, अर्थात कहानी या गल्प, परंतु इसके अलावा, वह यह भी कहती है कि 'साहित्य क्या है'। इसे, वह सिर्फ दो बार नहीं कहती है, एक बार कथ्य के लिए और दूसरी बार साहित्यशास्त्र के लिए। बल्कि एक ही बार में उन दोनों के लिए कहती है। यह एकत्व, इस तथ्य से परिलक्षित होता है कि अठारहवीं शताब्दी के अंत तक, साहित्यशास्त्र का लोप हो गया था। 'साहित्यशास्त्र का लोप हो गया है'

इसका अभिप्राय यह है कि, साहित्यशास्त्र के लोप होने के क्षण से, साहित्य स्वयं ही उन संकेतों और योजनाओं को परिभाषित करने का उत्तरदायी होगा, जिनसे साहित्य बनता है। इसलिए, हम यह कह सकते हैं कि साहित्य का प्रकार्य, जैसा कि साहित्यशास्त्र के लुप्त होने के समय से हुआ है, सिर्फ, बखान करना नहीं है, या उन संकेतों––यानि कि साहित्यशास्त्र के संकेतों को जोड़ना, प्रकट करना, या सुस्पष्ट करना भी नहीं है, जो यह बताते हैं कि वह साहित्य है बल्कि साहित्य अद्वितीय भाषा के प्रयोग के लिए बाध्य है, और फिर भी, ऐसी भाषा, जो कि दुहरी है क्योंकि, कहानी सुनते हुए, किसी का वर्णन करते हुए, हर क्षण भाषा को यह दर्शाना, उसकी बाध्यता है कि, यह दृष्टव्य हो कि 'साहित्य क्या है', साहित्य की भाषा क्या है, क्योंकि साहित्यशास्त्र का लोप हो चुका है, जो कि एक समय हमें यह बताने के लिए उत्तरदायी था कि, सुंदर भाषा कैसी होनी चाहिए?

अतः, हम यह कह सकते हैं कि, प्रकारांतर से, साहित्य अन्ततः अपने एक अन्य अभीष्ट में एक भाषा भी है, जो कि अद्वितीय है और अपने स्वत्व के प्रतिरूप होने के नियमों से बाध्य भी है। दोस्तोएवस्की की उस चर्चित कथा–रचना 'द्वोयनिक' (रूसी) या 'द डबल' में घटित की तरह, जिस में मुख्य पात्र और उसके प्रतिरूप के बीच जो घटित होता है– ठीक वैसा ही भाषा और साहित्य के मध्य भी है। वह दूरी, जो कि धुंध और गोधूलि में, पहले से ही उपस्थित रहती है, जहां यह दूसरी आकृति, जिससे हम गली के हर मोड़ पर मिलते हैं और जो स्वयं भी, एक अकेले पैदल चलने वाले से मिलता है, तब उस क्षण में, आतंक के उस क्षण में, जिसमें उन दोनों का साक्षात्कार होता है, तब हम यह जान पाते हैं कि हम, हमारे प्रतिरूप के आमने–सामने हैं।

कुछ इसी तरह की प्रक्रिया, रचना लेखन और साहित्य के बीच भी होती है। रचना, निरंतर साहित्य के पूर्वाभास में रहती है। साहित्य एक प्रकार का द्वैध बन जाता है, जो लेखन के सामने आता है और लेखन उसकी शिनाख्त नहीं कर पाता है, और लगातार उसके रास्ते को पार करता रहता है, परंतु, महत्त्वपूर्ण रूप से, वह सृजन की रचनात्मक उत्तेजना के उस क्षण के वशीभूत नहीं होता, जो हमें दोस्तोएवस्की के पात्र में मिलता है।

साहित्य के क्षेत्र में हमें असली लेखन और जीवंत साहित्य की ऐसी निरंकुश मुठभेड़ नहीं मिलती है। लेखन, जब वह अंततः अपने अस्तित्व में आता है, तब, उसकी अपने प्रतिरूप से भिड़ंत कभी नहीं होती है और क्योंकि लेखन ही वह दूरी है,दूरी जो साहित्य और भाषा के बीच की है। यह इस प्रतिरूप की दूरी है, यह प्रतिबिम्बित दूरी, जिसे हम प्रतिकृति (simulacrum) कहते हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि साहित्य, साहित्य का समूचा अपना अस्तित्व, अगर हम यह प्रश्न उठाएँ कि वह क्या है,तो हम सिर्फ एक ही तरीके से उत्तर दे सकेंगे, वह यह कि साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं है। केवल एक प्रतिकृतिमात्र है, एक प्रतिकृति जो कि साहित्य का सम्पूर्ण अस्तित्व है। और प्रूस्त का लेखन इस कला सत्य को स्पष्टता से दर्शाता है कि किस तरह साहित्य एक प्रतिकृति (simulacrum) है। हम यह जानते हैं In Search of Lost Time, उस गति की कथा है, जो प्रूस्त के जीवन से चल कर, प्रूस्त के लेखन तक नहीं जाती है, बल्कि उसकी वह एक तरह से शुरुआत होती है, जब प्रूस्त का सचमुच का जीवन, सामाजिक जीवन या कहें कि मिलना जुलना–स्थगित हो जाता है, बाधित हो जाता है, अपने आप पर रुक जाता

है, और उस हद तक कि जहां जीवन स्वयं अपने पर आकर ठहर जाता है, तब लेखन प्रारम्भ होता है और अपने लिए एक 'स्पेस' की निर्मिति करता है।

परंतु, प्रूस्त का यह जीवन, यह यथार्थ का जीवन, इस का ब्यौरा कृति में कहीं नहीं है। और, वहीं दूसरी ओर, जिसके लिए उन्होंने अपने जीवन को स्थगित किया, जिसके लिए उन्होंने अपने सामाजिक जीवन को बाधित किया, जो अपने में बंद हो गया यह काम भी कहीं नहीं दिया गया है। प्रूस्त, प्रकारांतर से हमें यह बताते हैं कि ठीक किस तरह वे अपने उस काम पर आएंगे, वह काम जो कि उस पुस्तक की अंतिम पंक्ति से शुरू होने वाला था, परंतु यथार्थ में, उस कृति के मुख्य भाग में कहीं नहीं है।

कुल मिलाकर कहें तो, In Search of Lost Time, में Lost शब्द के तीन अर्थ हैं। पहला यह कि, जीवन का समय अब बंद, दूर, खत्म और लुप्त दिखता है। दूसरा, कृति का समय, जिसके लिए, सही तौर पर, उसके समापन के लिए कोई समय नहीं है, क्योंकि, असल में लिखा हुआ पाठ, जब समाप्त होता है, तब कृति वहाँ उपस्थित नहीं होती है, और उस कृति का समय, जो कि स्वयं को पूर्ण न कर सकी, उपस्थित होता है, और जो लिखा हुआ अपने उत्पन्न होने का बखान करने वाला था, उसका समय तो पहले से ही नष्ट हो गया है। न केवल जीवन जीने में, बल्कि, उस कहानी को गढ़ने में भी, जो प्रूस्त गढ़ते हैं, किस किस तरह वे अपनी कृति को लिखेंगे। और तीसरा, बिना किसी निश्चित अधिवास के समय है, वह समय, जिसमें किसी प्रकार का दिनांक या कालक्रम का अभाव है, वह समय जो मुक्तता से ऐसे तैरता है, जैसे वह दैनंदिन की दबी–घुटी भाषा और एक अंततः चमकते लेखन की वाग्विलासी भाषा के बीच खोया हुआ हो। यही वह समय है, जिसे हम प्रूस्त के काम में पाते हैं, जो हमारे सामने खण्डों में प्रकट होता है, जिसे हम मुक्त रूप से तैरता हुआ देखते हैं, बिना किसी वास्तविक कालक्रम के। यह एक भटका हुआ समय है, वह जो सिर्फ स्वर्ण के छितरे हुए कणों की तरह पाया जा सकता है। तो फिर प्रूस्त के लेखन में, रचना स्वयं कभी भी उपस्थित नहीं होती है, क्योंकि प्रूस्त का वास्तविक काम, कृति को रचने की परियोजना के अलावा कुछ नहीं है, साहित्य रचने की परियोजना, परंतु, वास्तविक काम तो कहीं निरंतरता से साहित्य की चौखट पर हिचकिचाता हुआ ठिठका हुआ है। ठीक उसी क्षण, जब सच्ची भाषा, जो कि साहित्य के आगमन की सूचना देती है, जब मौन होने को है ताकि रचना अपनी अधिविराट और अपरिहार्य वाणी में अभिव्यक्त हो सके, ठीक उसी क्षण, वास्तविक काम सम्पूर्ण हो जाता है, समय भी समाप्त हो जाता है, ताकि हम यह कह सकें कि चौथे अर्थ में, समय ठीक उसी क्षण विलोपित हो जाता है, जिस क्षण वह बरामद हुआ था।

आप देख सकते हैं कि प्रूस्त जैसों के लेखन में, हम यह नहीं कह सकते कि एक भी क्षण ऐसा है जो कि काम है, हम यह नहीं कह सकते कि एक भी क्षण ऐसा है, जो वस्तुतः साहित्य है। बल्कि, प्रूस्त की सारी वास्तविक भाषा में, वह समूची भाषा जिसे हम अब पढ़ते हैं और जिसे हम अब उनका काम कहते हैं और जिसका हम साहित्य के नाम से उल्लेख करते हैं, अब यहीं खड़े रह कर, अगर हम अपने आप से पूछें कि वह क्या है, हमारे लिए नहीं बल्कि वह स्वयं में, तब हमें यह बोध होता है कि यह न तो 'लेखन' है और न ही 'साहित्य' बल्कि इनके बीच का एक 'स्पेस' है, दर्पण में दिखने वाले 'स्पेस' की तरह, एक ऐसा कृत्रिम 'स्पेस', जिसे

हम देख तो सकते हैं, परंतु छू नहीं सकते, और या वह प्रतिकृत्यात्मक 'स्पेस' है, जो प्रूस्त के काम को उसका परिमाण प्रदान करता है।

तो इस हद तक, हमें प्रूस्त की परियोजना को पहचानने की आवश्यकता है, उनके द्वारा किया हुआ, वह साहित्यिक कार्य जो उन्होंने इस कृति के लेखन में किया जिसका यथार्थ में कोई निर्दिष्ट अस्तित्व नहीं है, जो कि भाषा या साहित्य के किसी भी नियत बिन्दु पर अवस्थित नहीं है बल्कि इसके बदले हमें सिर्फ साहित्य की एक प्रतिकृति ही मिलती है, और प्रूस्त के काम में, समय का स्पष्ट महत्त्व, इस तथ्य से उदित होता है कि प्रूस्तियन समय, जो कि एक तरफ तो छितरा हुआ और अपक्षयी है, और दूसरी ओर, आनंद के क्षणों की पहचान और उसका पुनरागमन है, मूलतः सिर्फ आंतरिक प्रक्षेपण है, विषयगत, नाटकीय, वर्णित और पठित–कृति और साहित्य के बीच के आत्यावश्यक स्पेस का, जो कि साहित्यिक भाषा की मौजूदगी को स्पष्टतः रूपायित करता है।

अतः अगर हमें साहित्य की प्रकृति का विवेचन करना हो तो, एक ओर हमें अतिक्रमण और निषेध का, नकारात्मक चित्र मिलेगा जिसका साद ने प्रतीकीकरण किया। वहीं दूसरी ओर,यह पुनरावृत्ति का चित्र मिलेगा, यह हाथ में सलीब लेकर मकबरे में उतरते हुए, उस व्यक्ति की छवि मिलेगी, जिसने कभी कब्र से बाहर जा कर कुछ और नहीं लिखा है, और अंततोगत्वा, हमें मृत्यु का चित्र मिलेगा जिसका शतूब्रियाँ ने प्रतीकीकरण किया है। और फिर हमें इस प्रतिकृति का चित्र मिलेगा। यह सारे चित्र, मैं यह नहीं कहूँगा कि नकारात्मक हैं,परंतु वे किसी भी सकारात्मक पहलू के बिना हैं जिसमें साहित्य का अस्तित्व, मूल रूप से छितरा हुआ और नोंचा हुआ प्रतीत होता है।

परंतु, साहित्य को परिभाषित करने में हो सकता है कि हम शायद कुछ अत्यावश्यक को भूल रहे हैं। खैर, किसी भी रूप में, ऐसा कुछ है, जिसके बारे में विचार–विमर्श करना अभी बाकी है, और जो ऐतिहासिक रूप से, भाषा के इस रूप की प्रकृति के निर्धारण में बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी में प्रकट हुई। यह स्पष्ट है कि साहित्य को पूर्ण रूप से परिभाषित करने के लिए, अब अतिक्रमण पर्याप्त नहीं है, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले कई, अतिचारी साहित्य थे। और, यह भी काफी समान रूप से स्पष्ट है कि प्रतिकृति भी साहित्य को समुचित रूप से परिभाषित करने में सक्षम नहीं है, क्योंकि, प्रूस्त के पहले, प्रतिकृति जैसा कुछ पहले से था––सर्वांतेस को देखिये, जिन्होंने उपन्यास की प्रतिकृति की रचना की, या Jacques the Fatalist के साथ दिदेरो। इन सारे पाठों में, हम उस आभासी 'स्पेस' को पाते हैं, जहां न तो साहित्य है और न ही लेखन, परंतु जहां साहित्य और 'लेखन' के बीच में, एक अखंड आदान–प्रदान है।

'अगर मैं उपन्यासकार होता' Jacques the Fatalist अपने स्वामी से कहता है––'जो, मैं आप से कह रहा हूँ, वह उस यथार्थ से कहीं ज्यादा सुंदर होता, जिसका मैं वर्णन कर रहा हूँ। जो भी मैं आप को बता रहा हूँ, अगर मैं उसको सजा–संवार कर बखान करना चाहता तो आप इस क्षण यह पाते हैं कि, यह बखान, साहित्य का एक उत्कृष्ट नमूना होता। परंतु मैं, यह नहीं कर सकता, क्योंकि मैं साहित्य की रचना नहीं कर रहा हूँ, मैं आपको, यथार्थ बताने के लिए बाध्य हूँ। और साहित्य की इस प्रतिकृति में, साहित्य की इस अस्वीकृति की प्रतिकृति में, दिदेरो

ऐसा उपन्यास लिखते हैं, जो कि उपन्यास का प्रतिरूप ही है। दरअस्ल, प्रतिकृति की यह समस्या, दिदेरो में, उदाहरण के लिए, और उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में, इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि, यह हमें उससे साक्षात कराता है,जो मुझे प्रतीत होता है, जो कि साहित्य की वास्तविकता के लिए केंद्रीय भी है। Jacques the Fatalist में, जैसा कि आप जानते हैं, कहानी कई स्तरों पर खुलती है। पहले, दिदेरो द्वारा यात्रा का वर्णन है, और फिर और वह छह संवाद हैं, जो Jacques, तथाकथित Fatalist और उसके स्वामी के बीच होते हैं। फिर दिदेरो की यह कथा, इस रूप में बाधित होती है कि, Jacques एक प्रकार से, दिदेरो को विस्थापित करके, अपने प्रेम प्रसंगों का वर्णन करने लगता है। और इसके बाद, Jacques के प्रेम प्रसंगों की गाथा पुनः बाधित होती है, इस बार एक तीसरे स्तर पर बखान से बल्कि, तीसरे स्तर के कथन की शृंखला से, जिसमें, जैसे उदाहरण के लिए, मालकिन या कप्तान अपनी अपनी कथाएँ सुनाते हैं। और इस तरह, हमारे पास कथानक में, एक के भीतर एक कथानकों की कई परते हैं, किसी जापानी गुड़िया की तरह, और यह ही उस रोमांचक उपन्यास का घाल–मेल है, जिसे हम Jacques the Fatalist के नाम से जानते हैं।

परंतु, जो महत्त्वपूर्ण है, जो मुझे पूरी तरह विशिष्ट लगता है, वह न केवल यह कि, किस तरह कहानियाँ नीड़ निर्मिति की तरह एक दूसरे के भीतर गुंथी हुई हैं, बल्कि यह भी कि, हर क्षण, दिदेरो, एक प्रकार से, कथानक को पश्चवर्ती बनाते हैं और इन गुंथी हुई कहानियों पर, वह थोपते हैं जिसे हम पश्चगामी चरित्र कह सकते हैं, जो निरंतर हमें एक ऐसे प्रकार के यथार्थ की ओर ले जाते हैं, एक प्रकार की तटस्थ भाषा के यथार्थ की ओर, उस प्रथम भाषा की ओर, जो दैनंदिन की भाषा का एक आदर्श बन जाये, स्वयं दिदेरो और उनकी तथा उनके पाठकों की भाषा।

और ये पश्चगामी चरित्र तीन प्रकार के हैं। पहले, हमारे पास इन चरित्रों की, इन गुंथी हुई कहानियों में, प्रतिक्रियाएँ हैं, जो लगातार कहे जाने वाले कथानक में अवरोध उत्पन्न करते हैं। दूसरे, वे चरित्र हैं जो गुंथी हुई कहानियों के पात्र हैं–किसी एक दिये गए क्षण में, मालकिन किसी उस पात्र की कहानी सुना रही होती है, जिसे हम नहीं देखते हैं, और जो कहानी में सिर्फ एक आभासी आगंतुक है, और फिर, दिदेरो की कहानी में, यह वास्तविक पात्र अचानक आ खड़ा होता है, जबकि यथार्थ में, इस पात्र का पद, मालकिन द्वारा कही गई, बहुपर्ती कहानी में था। तीसरा, हर क्षण दिदेरो, पाठक की ओर मुखातिब होते हैं, और कहते हैं, 'जो भी मैं आप को बता रहा हूँ, वह सब आप को असाधारण लग रहा होगा, परंतु सचमुच में ऐसा ही हुआ।' बेशक, यह साहसिक कार्य, साहित्य के नियमों से ताल–मेल में नहीं बैठाता है, यह अच्छी तरह से लिखे गए कथानकों के नियमों से भी ताल–मेल नहीं बैठाता है। परंतु, मैं यह स्वीकारता हूँ कि मेरा अपने पात्रों पर नियंत्रण नहीं है, वे मुझे अपूर्व रूप से अभिभूत कर देते हैं, वे अपने इतिहास, अपने जोखिमों, और अपने रहस्यों के साथ दृश्य में आए हैं। मैं तो आपको सिर्फ वह बता रहा हूँ, जो वास्तव में हुआ है। इस प्रकार, सघनित रूप से ढंके हुए, कथानक के सबसे परोक्ष मूल से लेकर यथार्थ तक, जो कि समकालीन है, यहाँ तक कि जो लेखन के लिए पूर्वकालिक है, एक प्रकार से दिदेरो, और कुछ नहीं करते हैं, सिवाए स्वयं को, स्वयं के साहित्य से विलग करने के। वे हमें निरंतर यह दिखाते हैं कि यह सारा सब, साहित्य नहीं है, और कि यह एक आसन्न, प्रथम

भाषा है और सिर्फ वही एक मात्र ठोस भाषा है, जिस पर यह कहानियाँ स्वछंदता से, और सिर्फ उन्हें खड़े करने के आनंद के लिए खड़ी की गई हैं। यह ढांचा दिदेरो की विशेषता है, परंतु, हम यह सर्वांतेस में भी पाते हैं और सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी की असंख्य कहानियों में भी पाते हैं। साहित्य के लिए, यानि, भाषा के उस रूप के लिए, जो उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ, Jacques the Fatalist में पाए जाने वाले खेल, यथार्थ में क्षुद्र हैं।

उदाहरण के लिए, जब जॉयस,एक उपन्यास लिखने के बारे में सोचते हैं, जो कि, चलिये मान लें कि, पूरी तरह The Odyssey पर आधारित है, तब वे उसे दिदेरो की तरह नहीं लिखते हैं, जब उन्होंने चतुर नायक पर लिखे गए उपन्यासों को आदर्श बनाकर एक उपन्यास लिखा था। दरअस्ल, जब जॉयस, Ulysses दुहराते हैं तो दरअस्ल, वे उसे भाषा के उस रूप में दुहराते हैं, जो अपने आप में दुहराया जाता है, तो ऐसा कुछ दिखता है, जैसा कि दिदेरो के साथ है, जो कि दैनंदिन की भाषा नहीं है, परंतु, ऐसा कुछ जो कि साहित्य के जन्म सा लगता है। यानि, जॉयस इस तरह से लिखते हैं कि, उनकी कहानी के भीतर, उनके द्वारा प्रयोग किए गए वाक्यों और शब्दों के भीतर, किसी एक शहर के, किसी एक व्यक्ति के जीवन के एक दिन की अनंत कथा के भीतर, ऐसा कुछ घटता है, जो साहित्य की अनुपस्थिति और सन्निकटता दोनों है, जिसका मतलब है कि, साहित्य वहाँ है, निश्चित रूप से, और वह निश्चित रूप से ही वहाँ है, क्योंकि यह Ulysses के बारे में है, परंतु, एक ही समय में, कहीं दूरी में, किसी प्रकार से उसकी दूरी के भी, जितना संभव हो सके, उतना ही पास है।

बेशक, यह उस विन्यास की तरफ ले जाता है, जो कि जॉयस Ulysses के लिए अत्यावश्यक है, जहाँ एक तरफ, घुमावदार आकृतियाँ हैं, एक तरफ समय का वृत्त है, जो कि एक ही दिन की सुबह से लेकर, शाम तक चलता है, और दूसरी ओर जगह का वृत्त है, जो सारे शहर को घेरे हुए है, जिसमें वे कथापात्र घूमते रहते हैं। इसके बाद, इन घुमावदार आकृतियों के बाहर, एक तरह का अभिलम्बित और एक बिन्दु–दर– बिन्दु आभासी संबंध है और, एक, एक–से–एक संबंध है, जॉयस के Ulysses के हर उपाख्यान और The Odyssey के हर रोमांच के बीच। और इस संदर्भ से, हर क्षण, जॉयस के पात्रों के रोमांच, प्रतिकृति नहीं होते हैं और ना ही परस्पर थोपे जाते हैं, बल्कि उलट इसके, वे The Odyssey के पात्र की, जो कि स्वयं अधिकारी हैं, परंतु पूर्णरूपेण दूरस्थ और साहित्य के हमेशा न पकड़े जाने वाले अधिकारी, 'अनुपस्थित उपस्थिति' से खोखला अनुभव करते हैं।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि भाषा का काम, क्लैसिक युग में, सही अर्थों में साहित्य नहीं था। ऐसा क्यों है, कि हम यह नहीं कह सकते कि, Jacques the Fatalist या सर्वांतेस का काम साहित्य है। हम ऐसा क्यों नहीं कह सकते कि, रासिन का काम साहित्य है, या कोर्निए, या यूरिपिडिस का, ऐसा सिर्फ हमारे अलावा, बेशक, उस सीमा तक है, जहाँ तक हम उन्हें अपनी भाषा में सम्मिलित नहीं कर लेते? ऐसा क्यों है कि ठीक इस क्षण, दिदेरो का अपनी स्वयं की भाषा से संबंध, वो साहित्यिक संबंध नहीं था, जिसके बारे में मैंने अभी बात की? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, हम निम्नलिखित बातें कह सकते हैं क्लैसिक युग में, किसी भी हाल में अठारहवीं शताब्दी के अंत में, भाषा का हर काम एक मूक और आद्य भाषा की क्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया जिसके पुनरुद्धार की जिम्मेदारी उसी काम की थी। यह मूक भाषा, एक प्रकार

से, प्रारम्भिक निरपेक्ष स्रोत था, जिससे हर कृति बाद में निकली, और जिसके भीतर वह पहले से ही समाहित थी। यह मूक भाषा या यह कहें कि भाषाओं के पहले की भाषा, ईश्वर का शब्द था, सत्य, या भाषा का आद्य साँचा। यह भाषा का 'पूर्वज' था, यह बाइबिल था, शब्द बाइबिल को उसका परम अर्थ देता हुआ, यानि, कि व्यावहारिक बुद्धि। एक पूर्ववर्ती पुस्तक थी जो कि सत्य था, जो कि प्रकृति थी, जो कि ईश्वर का शब्द था, जो स्वयं ईश्वर में छिपी हुए थी, और जो एक ही समय में सारा सत्य बखानती थी।

और एक तरफ यह प्रधान और बाधित भाषा ऐसी थी कि, जबकि, दूसरी तरफ सारी मानव भाषाएँ, जब कृति बनना चाहती थीं, सिर्फ उस भाषा का, पुनरानुवाद, पुनर्लेखन, पुनरावृत्ति या पुनरुद्धार करती है। परंतु, दूसरे अर्थ में, ईश्वर की यह भाषा,या प्रकृति की भाषा, या सत्य की भाषा, रहस्यमय थी। वह हर रहस्योद्घाटन (ईसाई अर्थ में प्रकाशना) का आधार थी और फिर भी वह गुप्त थी, वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं लिखी जा सकती थी। और इससे, उन बदलावों की आवश्यकता हुई, उन घुमावदार शब्दों की और, उस पूरे तंत्र की ही, जिसको हम साहित्यशास्त्र के नाम से उल्लेख करते हैं।

बहरहाल, प्रश्न उठता है कि अंततः जो रूपक, लाक्षणिक शब्द, उपलक्षक, आदि, मानवीय शब्दों के प्रयोग से, जो कि प्रारम्भ और अवरोधों की अंतरक्रीड़ा से धूमिल और स्वयं से छिपे हुए हैं, इस मूक भाषा के पुनरान्वेषण के प्रयास के अलावा और क्या था? इस मूक भाषा का पुनरान्वेषण, जो कि कृति के अर्थ के रूप में था और जिसका कार्य पुनरुद्धार और पुनर्प्रतिष्ठा था, के अलावा और क्या था?

दूसरे शब्दों में, एक वाचाल भाषा, जो कुछ नहीं कहती और 'परम भाषा', जो सब कुछ कहती है, परंतु कुछ भी प्रकट नहीं करती, इसके मध्य में एक मध्यस्थ भाषा होना ही चाहिए, जो उसे वाचाल भाषा से, प्रकृति और ईश्वर की मूक भाषा, यानि साहित्य की भाषा की तरफ ले जाये। अगर हम संकेतों को परिभाषित करें, बर्कली और अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों के साथ, तो भाषा के उस रूप में, जो कि प्रकृति या ईश्वर द्वारा बोला गया है, तब हम काफी सरलता से यह कह सकते हैं कि, क्लैसिक की विशेषता इस तथ्य के द्वारा कही जा सकती है कि क्लैसिक में, साहित्यशास्त्र के अलंकारों की अंतरक्रीड़ा के द्वारा, भाषा की सघनता, अपारदर्शिता, और अस्पष्टता आदि का, संकेतों की दीप्ति और पारदर्शी होने में, उसका कायान्तरण शामिल था।

इसके विपरीत, पाश्चात्य जगत के लिए, या कहें कि पाश्चात्य जगत के एक भाग के लिए, साहित्य का प्रारम्भ तब हुआ, जब यह भाषा, जिसका श्रवण कभी बंद नहीं हुआ, जिसका सहस्राब्दियों से अनुभव या ग्रहण कभी बंद नहीं हुआ, वह भाषा मौन हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, हमने उस प्रारम्भिक भाषा को सुनना बंद कर दिया, और इसकी जगह सुनी जा सकती है एक अनंत गुनगुनाहट, जो कि बोले गए शब्दों का संचयन मात्र है। इन परिस्थितियों में, कृति को साहित्य–शास्त्र के अलंकारों में, जो कि एक मूक, मूल भाषा के संकेतों के रूप में काम करेंगे, में सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं है। कृति को एक तरह की भाषा के अलावा बोलने की आवश्यकता नहीं है। यह भाषा उस तरह की भाषा है, जो कहा गया है, उसे दोहराती है और जो, दोहराव के बल से, एक साथ, जो कुछ कहा गया है उसे मिटाती हुई भी चलती है

और ऐसा करके वह स्वयं को अपने आप के और निकट लाती है, ताकि वह साहित्य के सार को पकड़ सके।

हम यह कह सकते हैं कि, साहित्य का आरंभ उस दिन हुआ, जिस दिन, जिसे हम पुस्तक का खंड कह सकते हैं, वहाँ रख दिया, जहां साहित्यशास्त्र की जगह थी। और, इस बोध का एक अनोखा एहसास है कि, यह पुस्तक साहित्य के अस्तित्व में, काफी देर से होने वाला प्रसंग है। पुस्तक को, वास्तव में तकनीकी रूप से, अपने आविष्कार के बाद, साहित्य में अपना स्थान पाने के लिए चार शताब्दियाँ लगीं। और इस तरह मलार्मे की किताब, साहित्य की पहली किताब है, मलार्मे की किताब, जो कि मूलरूप से एक त्रुटिपूर्ण परियोजना थी, जो कि असफल होने के अलावा और कुछ नहीं हो सकती थी, हम कह सकते हैं कि, वह गुटनबर्ग की साहित्य पर विजय है। मलार्मे की पुस्तक, जो दोहराई गई, और एक ही समय में, जिसने सारी पुस्तकों का ध्वंस भी किया,एक पुस्तक जो,अपनी रिक्तता में,उस अस्तित्व का पोषण करती है,जो साहित्य से हमेशा के लिए पलायन कर गया,उस महान मूक पुस्तक को, जो कि संकेतों से भरी हुई है, क्लैसिक्स ने जिसका प्रतिनिधित्व करने के लिए उसकी नकल की थी, उसे उत्तर देती है। मलार्मे की पुस्तक भी इस महान् पुस्तक को उत्तर देती है,पर साथ ही साथ, स्वयं को उसके स्थान पर रख देती है। यह उस महान् पुस्तक के लुप्त होने की अभिस्वीकृति है।

हम अब यह देख सकते हैं कि क्यों, अपनी प्रतिष्ठा में, और न केवल अपनी प्रतिष्ठा में, बल्कि, अपने सार में भी, एक तरफ, क्लैसिक्स, एक प्रतिनिधित्व के अलावा कुछ और नहीं थी, क्योंकि उन्हें एक ऐसी भाषा का प्रतिनिधित्व करना था जो कि पहले से स्थापित थी, इसीलिए, काफी गहरे में, क्लैसिक्स का मूल सार, नाट्य में पाया जाता है, भले ही वह शेक्सपियर हो या रासिन, क्योंकि हम प्रतिनिधित्व के जगत में हैं, और इसके विपरीत, साहित्य का सार, इस शब्द के सच्चे अर्थ में, उन्नीसवीं शताब्दी के बाद से हमें, नाट्य में नहीं, बल्कि पुस्तक में मिलता है।

और आखिरकार इस पुस्तक में, जो सारी पुस्तकों में घातक है, एक ही साथ, अपने ऊपर, साहित्य को रचने की, सर्वदा निराश करने वाली परियोजना ले लेती है। और आखिरकार, इस पुस्तक में साहित्य को अपना अस्तित्व मिलता है। हालाँकि, यह पुस्तक अस्तित्व में थी, और एक गहरे यथार्थ के साथ, साहित्य के आविष्कार से कई शताब्दियों पहले, यह दरअस्ल, साहित्य की जगह नहीं थी। यह भाषा के सम्प्रेषण का महज एक भौतिक अवसर भर थी। और इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि Jacques the Fatalist, रोमांचक उपन्यासों की जादूगरी से, पश्चगमन के माध्यम से पलायन कर गया, या निरंतर पलायन की कोशिश करता रहा, जैसा कि Don Quixote और सर्वांतेस ने किया था।

परंतु, अगर वास्तविक रूप में साहित्य अपने 'होने' की पूर्ति पुस्तक में करता है, वह धैर्य से पुस्तक के सार का स्वागत नहीं करता है, (इसके अतिरिक्त, यथार्थ में पुस्तक का, कोई सार नहीं होता है, सिवाए जो उसके भीतर है उसके) इसीलिए साहित्य हमेशा पुस्तक की प्रतिकृति रहेगा, वह उस तरह व्यवहार करेगा जैसे कि वह पुस्तक हो, और आगे चल कर वह पुस्तकों की एक श्रृंखला होने का स्वाँग भरेगा। और इसी कारण से, इसकी पूर्ति अन्य पुस्तकों के प्रति हिंसा और आक्रमण से ही होगी। और यही नहीं, बल्कि यह आक्रमण और हिंसा, पुस्तक के उस

अप्राकृतिक, उपहासपूर्ण, और स्त्रैण सत्व के प्रति भी होगी। साहित्य, एक अतिक्रमण है, साहित्य, पुस्तक के स्त्रीत्व की तुलना में, भाषा का पौरुष है। परंतु, अंततोगत्वा, अन्य पुस्तकों में एक और पुस्तक, अन्य पुस्तकों के साथ एक और पुस्तक, होने के अलावा वह पुस्तकालय के एक रेखीय अवकाश (स्पेस) में और क्या हो सकता है? साहित्य, भाषा के भंगुर और मरणोपरांत अस्तित्व के अलावा, और क्या हो सकता है? इसीलिए, इस साहित्य के लिए यह संभव नहीं है, अब चूँकि उसका पूरा अस्तित्व एक पुस्तक में है,यह संभव नहीं है, अंत में, अपनी कब्र के अलावा और कुछ होना।

अतः जो भी कुछ इस पुस्तक खंड में संग्रहीत है, खुला या बंद, इन पृष्ठों में जो एक ही साथ रिक्त भी है और चिन्हित भी, इस अनोखे खंड में– क्योंकि हर पुस्तक अनोखी भी है और दूसरी सारी पुस्तकों के समान भी है, क्योंकि सारी पुस्तकें एक दूसरे के सदृश्य हैं– साहित्य के मूल अस्तित्व जैसा कुछ है। इस साहित्य को, मानव जाति की भाषा की तरह नहीं समझना चाहिए, न ही ईश्वर के शब्द की तरह और न ही प्रकृति की भाषा या हृदय या मौन की भाषा के रूप में देखना चाहिए। साहित्य एक तरह से अतिक्राम्य भाषा है, यह मर्त्य है, पुनरावृत्त है, प्रतिकृत्यात्मक है। साहित्य में, मात्र केवल एक ही कर्ता है, विचार या बोलने के लिए है, और वह है पुस्तक। यही वह वस्तु है जिसे, अगर आप याद करेंगे तो, सर्वांतेस दुःसाहस में जलाना चाहते थे, इसी वस्तु से,दिदेरो ने, Jacques the Fatalist में कई बार पलायन का प्रयास किया, यह वस्तु जिसमें साद कैद थे, और जिसमें, हम भी कैद हैं।

विचारकों की नज़र में मिशेल फूको

एडवर्ड मैकगोशिन
टॉड मे
मिहाएला मेरल अहमद
क्लेर ओ' फेरेल



मिशेल फूको

एडवर्ड मैकगोशिन

फूको की आत्मपरकता का एक विवेचन

दर्शन के क्षेत्र में 'वस्तुनिष्ठ' और 'आत्मनिष्ठ' दृष्टि के मध्य द्वन्द्वात्मकता सनातन है और यह वहीं से अपनी आद्य उपस्थिति दर्ज कराती आ रही है जब 'पदार्थ और चेतना' के बीच, द्वंद्व को चिंतन का केंद्र बनाया गया। यह बहस अपने सर्वथा आक्रामक रूप में तब प्रकट हुई जब मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के चरितार्थ को साहित्य के क्षेत्र में देखा जाने लगा। यांत्रिक भौतिकवाद ने चिंतन की इस पक्षधरता को, इस बिन्दु पर ला कर खड़ा कर दिया जहां से, दुनिया के अधिकांश साहित्य को, प्रतिक्रियावादी करार देते हुए, उसे समुद्र में डुबो देने को कृतसंकल्प आलोचकों की बिरादरी खड़ी हो गई। कहने की जरूरत नहीं कि इसमें क्रिस्टोफर कॉडवेल और अर्नस्ट फिशर जैसे साहित्य चिंतकों की स्थापनाओं ने भी काफी तीखा हस्तक्षेप किया। लेकिन, मिशेल फूको ने ऐसी कट्टरवादी दृष्टि को बदलने में, गहरी चिंतनपरक भूमिका निभाई और मार्क्सवाद को 'आत्मनिष्ठता' (Subjectivity) के सन्निकट लाकर, ऐसी वैचारिक तर्क–युक्तियों की स्थापना की, कि 'आत्मनिष्ठता' प्रतिक्रियावादी मूल्य होने के लांछन से मुक्त हो कर, सृजनात्मक क्षेत्र में एक नये रूप में स्वीकृत हुई। मिशेल फूको का, मार्क्सवादी चिंतन के क्षेत्र में, यह एक बड़ा अवदान है। प्रस्तुत है, मिशेल फूको के साहित्य–चिंतन के, एक चर्चित अध्येता द्वारा फूको की आत्मनिष्ठता की विवेचना को केंद्र में रख कर लिखी गई, एक लंबी टिप्पणी। –अनुवादक

यह आकस्मिक नहीं कि लगभग सभी ने, एक समय, यह सर्वव्यापी सी जान पड़ने वाली सलाह सुनी होगी, 'आत्म से रहो','सच से जुड़े रहो', 'स्वयं से ईमानदार रहो', 'स्वयं को खोजो', 'स्वयं को अभिव्यक्त करो', 'स्वयं पर आत्मविश्वास रखो', 'अपना आत्म– सम्मान रखो', 'अपना मार्ग स्वयं चुनो' और आदि आदि। जहां एक तरफ यह मार्गदर्शन पूर्णतया सहज जान पड़ता है,

परंतु क्या हम सभी स्वयं को स्वयं से बेहतर बनाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं? वहीं, दूसरी ओर, यह निर्देश, 'आत्म से रहो' आश्चर्यजनक रूप से खोखला जान पड़ता है। क्योंकि एक प्रतिप्रश्न खड़ा होता है कि अंततः मैं, स्वयं के अलावा और कौन हो सकता हूँ? जाहिर है, हम सभी बहुतेरे ऐसे तरीकों से परिचित हैं जिनसे हम 'आत्म' के अनुरूप चलने में विफल होते हैं। हम सभी, स्वयं को समाज के अनुरूप ढालने के, स्वयं को ढाँपने के, और स्वयं को नकारने के दबावों और आवेशों को भली–भाँति जानते हैं। हम वही कहते हैं, जो हमें लगता है कि दूसरे चाहते हैं कि हम 'वह' कहें। हम ठीक उसी तरह से बर्ताव करते हैं, जैसा कि दूसरे अक्सर हमसे बर्ताव की नैसर्गिक अपेक्षा रखते हैं। हम स्वयं से झूठ बोलते हैं, स्वयं को धोखा देते हैं, अपने 'आत्म' को भूलने, विस्मृत करने की कोशिश करते हैं, स्वयं को शर्मिंदा करते हैं, और तो और स्वयं को अनदेखा भी करते हैं। इन सबसे सर्वोपरि, सचाई तो यह है कि हम प्रौद्योगिकी की धड़धड़ाती हुई प्रगति के एक ऐसे समय में जी रहे हैं, जहाँ रासायनिक हेरफेर से हमारे मनोभावों में, और अनुवांशिकी से हमारी शारीरिक और मानसिक विशेषताओं में एक निश्चित रद्दोबदल संभव है। ऐसे में जब हम, रासायनिक या आनुवांशिक अभियांत्रिकी (जेनेटिक इंजीनियरिंग) से अपने मनोभावों, अपनी स्मृति, अपनी जीवनावधि, और यौनिकता में परिवर्तन करने की क्षमता रखते हैं, तब संभवतः एक अत्यंत सहज लेकिन जरूरी प्रश्न खड़ा होता है कि 'आत्म से रहने' का क्या आशय हो सकता है?

और फिर भी, इन सभी तरह की विघ्न–बाधाओं के बावजूद, हम अपने सच्चे, प्रामाणिक 'आत्म' और सच्चे और प्रामाणिक जीवन की खोज करते हैं और उसे संरक्षित करते हैं या सहेजते हैं। स्वयं से ईमानदार रहने की यह कश–म–कश कहना चाहिए कि आधुनिक जीवन को परिभाषित करने वाली प्रमुख विशेषता है। फिल्म और संगीत, साहित्य और टीवी, सभी प्रकारांतर से इसका विस्तार से विवेचन और चित्रण करते हैं। कहना न होगा कि यही, विज्ञापन और ब्रांड मार्केटिंग, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र और राजनीति का मूल भाव भी है। अगर हम कुछ क्षण ठिठक कर इसके बारे में तटस्थता के साथ सोचें तो हमें एक अपरिचित, अशांत कर देने वाला कोई स्पष्ट तीक्ष्ण बोध होता है। 'आत्म' पर इतनी सघन एकाग्रता, एक उत्कृष्ट और ईमानदार 'आत्म' की इच्छा को प्रतिबिम्बित करती है, एक ऐसे 'कुछ' की लालसा जिसे 'आत्म की नीति' या 'प्रामाणिक होने की नीति' कहा जा सके (टेलर 1992)। फिर भी, साथ ही साथ, हमें 'आत्म से रहने' के लिए सतत प्रोत्साहन की जरूरत पड़ती रहती है, यही बात कहीं न कहीं यह इंगित करती है, कि हमारी प्रधान जीवन शैली मिथ्या है, या फिर काफी हद तक, हम सचमुच 'आत्म से रहने' में कहीं इस तरह पीछे रह जाते हैं, कि हम अपना आपा खो देते हैं। जैसा कि ज्यां पॉल सार्त्र (1989) ने कहा था कि, मनुष्य गोभी का फूल नहीं है। गोभी के फूल को कभी इस प्रश्न से मुठभेड़ नहीं करनी पड़ेगी कि, 'गोभी का फूल होने का' क्या अर्थ होता है, उसे कभी यह चुनना नहीं पड़ेगा कि वह अपना जीवन कैसे जिए और न ही कभी उसे अपने लिए गए निर्णयों के लिए किसी तरह की चुनौती का सामना करना पड़ेगा। गोभी का फूल वही है, जो वह प्राकृतिक रूप से है, 'गोभी का फूल होने के सत्व' से पूर्णतः परिभाषित और नियत। वहीं दूसरी ओर, मानव, एक गहरे स्तर पर विलक्षण है और अपने से अनभिज्ञ भी है जो एक ही साथ, अपने 'आत्म' से परे भी है, और फिर, अपने 'आत्म' से पूर्णतः बंधा हुआ भी है।

अपने 'अस्तित्व' के इस विरोधाभासी कृत्य का दृढ़ता से सामना करने को मिशेल फूको 'आत्मान्वीक्षण' करना कहते हैं, यानि एक किस्म की 'आत्म–सजगता' से 'आत्म की परख'। फूको हमारी 'आत्मपरकता' को इस तरह परिभाषित करते हैं जो हम 'अपने आपको' बनाते हैं, जब हम अपने 'आत्मान्वीक्षण' में पूरी तरह सेवानिष्ठ होते हैं। जब हम यह परखने लगते हैं कि 'आत्म से ईमानदार' होने के सूत्र की खोज के लिए क्या आवश्यक है, तब हम ठीक से समझने की शुरुआत कर सकते हैं कि फूको का 'आत्मान्वीक्षण' से और 'आत्मपरकता' से क्या अभिप्राय है।

वे सारी साधारण सलाहें– स्व से ईमानदार रहो, स्वयं को अभिव्यक्त करो, या स्वयं को खोजो, 'आत्म' के 'आत्म' से संबंध की युक्तियाँ हैं। उदाहरण के लिए, जब मैं अपने आप को अभिव्यक्त करता हूँ, तो मैं एक ही साथ, 'आत्म' जो 'अभिव्यक्त कर रहा है' और 'आत्म' जो और जितना 'अभिव्यक्त हो रहा' है, दोनों हूँ। मेरा 'आत्म' जो कि अभिव्यक्ति करता है, वह आत्माभिव्यक्ति की अंदरूनी प्रक्रिया से अभिव्यक्त होने वाली 'वस्तु' की तरह मुझ से जुड़ा हुआ है (फिर जो भी उस क्रिया के पूर्णतः मूर्त होने के लिए आवश्यक हो)। जब भी हम आत्माभिव्यक्ति या आत्मान्वेषण की बात करते हैं, तब हमारी प्रवृत्ति इन गतिविधियों के द्वारा प्रस्तुत किए गए 'सार' में, उलझ जाने की होती है और इस प्रकार हम उनके सांबंधिक चरित्र को नजरअंदाज कर देते हैं। 'आत्म' को ढूँढने और खोजने की गतिविधि में, मेरा ध्यान पूर्णतः 'आत्म' को 'वस्तु' की तरह खोजे जाने की तरफ केन्द्रित होता है, या उस पदार्थ या सत्व की तरह, जिसे मैं खोजता हूँ और जिससे मैं आत्यंतिक रूप से परिचित भी होता हूँ। आत्मान्वेषण और आत्माभिव्यक्ति में, हमारी उत्सुकता सहजरूप से उस 'आत्म' में होती है, जो अभिव्यक्त हो रहा होता है। अगर हम अभिव्यक्ति की गतिविधि या उस कृत्य की ओर अपना ध्यान केन्द्रित कर देते हैं, तो वह इसलिए होता है ताकि हम सुनिश्चित कर सकें कि वह गतिविधि या कृत्य अभिव्यक्त होने वाले कथ्य के लिए उपयुक्त है। दूसरे शब्दों में कहें तो हमारा झुकाव 'अभिव्यक्ति' या अन्वेषण की गतिविधि को, अभिव्यक्त होने वाले 'आत्म' को प्रकट करने वाले या अभिव्यक्त करने वाले माध्यम मानने का होता है। अगर बारीकी से देखें तो, तब स्वतः यह स्पष्ट हो जाता है कि, 'अन्वेषण' करना या 'अभिव्यक्त' करना, वे गतिविधियां हैं जिन्हें हम 'सांबन्धिक' गतिविधियां कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, ये वे गतिविधियां हैं जो संबंधों के समुच्चय का निर्माण करती हैं या बनाए रखती हैं, या कहें कि संघनित करती हैं। इन 'आत्म'–सांबन्धिक गतिविधियों को जो अपरिचित और अलग बनाता है, वह यह है कि जिन शब्दों का संबंध स्थापित किया जा रहा है, वे अपने मूलभूत रूप में समान हैं। आत्मान्वेषण और आत्माभिव्यक्ति दोनों ही 'आत्म' से 'आत्म' का संबंध स्थापित करती हैं। परंतु, बावजूद इसके, इसका यही अभिप्राय निकलता है कि 'आत्म' कुछ अर्थों में स्वयं काफी से भिन्न है।

अब आइए, कुछ इस पर विचार करें कि यह काम कैसे करता है? आत्म–सांबन्धिक गतिविधि व्यक्तित्व के भीतर एक भेद स्थापित कर के एक संबंध बनाती है। उदाहरण के लिए, स्वयं को खोजने की गतिविधि में, 'आत्म' अपने को विभाजित करता है (अ) प्रथमतः सक्रियता से खोजते हुए 'विषय' में और (ब) दूसरे अक्रियता से ढूँढे जाने वाली 'वस्तु' में। निस्संदेह, इन दो शब्दों को जोड़ने की गतिविधि 'आत्म' की सक्रियता से, स्वयं को ढूँढने, खोजने, और अभिव्यक्त करने के अलावा कुछ नहीं है। परंतु, 'आत्म' को, दोनों, सक्रिय 'कर्ता' और 'अक्रिय

वस्तु' बनने के लिए, स्वयं को सक्रियता से किसी आत्म–सांबन्धिक गतिविधि के द्वारा विभाजित करना होगा। दूसरे शब्दों में, यह ढूँढने और खोजने की गतिविधि है, जो 'आत्म' को ढूँढने वाले के 'रूप' में और साथ ही साथ ढूँढे जाने वाली 'वस्तु' के रूप में बनाती या संघटित करती है।

यहाँ यह बात खास तौर पर गौर करने के लिए है कि जब हम स्वयं अपने 'आत्म' से संबंध गढ़ने का कठिन उपक्रम करने के लिए निकलते हैं, तब हम 'आत्मान्वीक्षण' कर रहे होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उपजी 'आत्मपरकता', वह ठोस गतिविधि है, जो 'आत्म' से 'आत्म' के संबंध को परिभाषित करती है। 'आत्मपरकता' इस अर्थ में, आत्म के दोनों, 'कर्ता' और 'वस्तु', होने का मूल आधार है। दूसरे शब्दों में, फूको तर्क रखते हैं कि, 'आत्म' या 'कर्ता' आत्म–स्थापित जीव नहीं है, किसी तरह का सत्व या पदार्थ है, जो हमारे भीतर पहले से ही विद्यमान है। भले ही हम उसे ढूंढें या न ढूंढें (1986 बी)। मुझे कहने दीजिए कि वह किसी सांबन्धिक गतिविधि के फलस्वरूप, अस्तित्व में लाया जाता है। इसके अलावा, आत्मपरकता, एक गतिमान, सक्रिय संबंध के रूप में बहुतेरे विभिन्न रूप ले सकती है (1986 ए440)। उदाहरण के लिए, कोई यह विश्वास रख सकता है, जैसा कि नीत्शे और अन्य संदेहवादियों ने किया, वे स्वयं सही अर्थों में क्या हैं, इसकी खोज वे तभी कर सकते हैं, जब वे कठिन चुनौतियों या खतरों का सामना करते हैं। या कोई ऐसा भी सोच सकता है, जैसा कि देकार्त और निर्गुणियों ने सोचा, कि आत्मान्वेषण शांत, एकांत में आत्मनिरीक्षण का कार्य है। कोई और, सुकरात की राह पर चलते हुए, यह मानकर चले कि आत्मान्वेषण दूसरों के साथ प्रतिक्रिया में प्रकट हो जाने वाली बातचीत के द्वारा ही संभव है, जहां व्यक्ति एक दूसरे की सँजोयी हुई आस्थाओं को परखते हैं और लगे हाथ उन्हें चुनौती भी देते हैं। आत्मान्वेषण की ये सारी गतिविधियां, एक अलग प्रकार के सक्रिय 'कर्ता' को जन्म देती हैं और अलग अलग 'आत्म–पदार्थ' या 'आत्म–वस्तु' को प्रकट करती हैं। इन सारे उदाहरणों में, यह गतिविधि है, जिसके द्वारा व्यक्ति, इस 'आत्म से गतिशील संबंध' को गढ़ लेता है, जो यह स्थापित करता है कि वह यथार्थ में कौन है? जब हम इस बिन्दु से दृष्टि हटा लेते हैं, तब, हम कौन और क्या हैं? इसके एक अचल, जड़ विचार को स्वीकार कर लेते हैं, और तब हम उस सक्रिय संबंध के विकास को, जो वास्तविक जीवन और 'आत्मपरकता' का हृदय है, की अवहेलना किए जाने के पक्षधर होने लगते हैं। बजाय यह मान लेने के कि कठिनाइयों से मुठभेड़ मुझे मेरे सही गुणों, मेरे ईमानदार 'आत्म', के अन्वेषण की अनुमति देती है। मुझे यह पहचानने की जरूरत है कि, कठिनाइयों से मुठभेड़ ही वह एक मात्र अभीष्ट है जो मुझे एक विशिष्ट प्रकार के 'आत्म' में 'गढ़ती' है।

चूंकि फूको यह मानते हैं कि, 'आत्म' से 'आत्म' का संबंध ही 'आत्मपरकता' है और यह संबंध संभावित गतिविधियों के वैविध्य से निर्मित है, गठित है, वे विषय या 'आत्म' का सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत करते हैं, जो हमें यह बता सके कि हम सही मायनों में कौन और क्या हैं– वे हमें यह नहीं बताते हैं कि हम किस प्रकार के पदार्थ हैं या हमारा क्या सत्व है। इसके बदले, फूको का लेखन एक साथ दो कार्यों को परिणाम देता है। पहला, वे 'आत्मपरकता' के बहुतेरे विविध रूपों में से, जो पुरातन ग्रीक दार्शनिकों के समय से, पाश्चात्य सभ्यता ने उत्पन्न किए हैं, कुछ रूपों का एक सतर्क विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। दूसरा, और इसके साथ ही साथ, वे आत्मपरकता के एक विशिष्ट 'रूप' को अभ्यास हेतु प्रयोग में लाते हैं। दूसरे शब्दों में, फूको की कृतियाँ, विमर्श के दायरे में हलचल पैदा करने वाली वे गतिविधियां हैं, जिनके द्वारा उन्होंने

अपनी 'आत्मपरकता' की अवधारणा या कहें कि सिद्धान्त को रूप दिया और स्वयं के दार्शनिक होने के एक विशिष्ट प्रकार को स्थापित किया। फूको के 'आत्मपरकता' के सिद्धान्त और अभ्यास को बेहतर ढंग से समझने के लिए, और यह देखने के लिए कि किस तरह वे सिद्धान्त और व्यवहार, हमें अपने 'आत्म' की खोज में मदद कर सकते हैं, चलिये, उन तत्वों या सामग्री का सर्वेक्षण देखें, जिनसे हमारा साबका इस पर विचार करते हुए बार–बार पड़ेगा, जब हम स्वयं से संबंध बनाने की कोशिश करेंगे।

अनुशासनात्मक आत्मपरकता

जब, मैं अपने आप को देखता हूँ तो मैं वहाँ अपने भीतर विचार और भावनाओं को, आशाओं और कामनाओं को, स्मृतियों और कल्पनाओं को पाता हूँ। मैं स्वयं की अनुभव करने की, सोचने की, ध्यान केन्द्रित करने की, और चुनने की शक्ति को नए सिरे से पहचानता हूँ। मैं अपने मानसिक या मनोवैज्ञानिक जीवन और अपनी देह और उसकी प्रक्रियाओं और विशेषताओं के बीच बहुत सूक्ष्म लेकिन स्पष्ट अंतर करने में समर्थ हूँ। इसके फलस्वरूप, मैं यह सोच कर विस्मित होता हूँ कि क्या मैं पूर्णतया एक भौतिक पदार्थ हूँ? या फिर एक अभौतिक पदार्थ हूँ जो किसी तरह, इस भौतिक देह से जुड़ा हुआ है और इस जगत में विचरने और अनुभव करने के लिए इस देह पर आश्रित और बाध्य है। परंतु, अगर मेरा सच्चा 'आत्म' (मस्तिष्क या आत्मा) मेरी देह से पृथक है, तो भी यह 'आत्म' इस जगत में अपने कार्यों से बंधा हुआ है और उनके लिए वह चेतस रूप में जिम्मेदार है।

मेरा जीवन, पल–प्रतिपल, दिन–ब–दिन, परस्पर जुड़े हुए अनुभवों की एक श्रृंखला है जिसमें मैं, अपने आपको संबंधों में उलझा हुआ पाता हूँ, और अपने आप को उन परियोजनाओं में संलिप्त पाता हूँ जो मुझे विविध युक्तियों से वस्तुओं, व्यक्तियों, जगहों, और मूल्यों से जोड़ती हैं, हालाँकि प्रकट रूप में जो मेरे 'आत्म' से संबद्ध नहीं हैं। दरअस्ल, मेरा अधिकांश आंतरिक जीवन, मेरे कार्यों, संबंधों, संपर्कों के, या वस्तुओं, व्यक्तियों, जगहों, और मूल्यों से अन्तरक्रिया के परिणामस्वरूप और उस अन्तरक्रिया के संदर्भ में घटता है, और जोकि मेरे 'आत्म' से स्वतंत्र है और बाहर मौजूद है, यानि मेरे 'अलावा' है। मैं उन वस्तुओं के बारे में अपनी राय बनाता हूँ, जो मैंने देखी हैं, जिन्हें मैंने अनुभव किया है, जिनकी मैंने कामना और आशा की है। मैं, यह निर्णय लेते हुए कि कुछ वस्तुएँ 'अच्छी' हैं और कुछ 'बुरी', अपनी धारणा बनाता हूँ कि कुछ वस्तुएँ मुझे प्रिय हैं और कुछ नहीं हैं, या अप्रिय हैं। वस्तुओं की तुलना करने और उनके बारे में अपनी धारणा निश्चित करने के अतिरिक्त, मैं मनन करता हूँ और चुनाव करता हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि, जीवन का हर क्षण जीते हुए मेरा सामना पल–प्रतिपल चयन की संभावना से होता है, हालाँकि, अधिकांशतः चीजें स्वतः आगे बढ़ती रहती हैं और मुझे अपने साथ लेती चलती हैं, बिना मेरे कोई पक्ष लिए। पर, मेरा मानना है कि मैं एक के बदले दूसरा कार्य करने के लिए स्वतंत्र हूँ। और अंत में, मैं इन सारी चीजों को समझने और उनकी व्याख्या करने की कोशिश करता हूँ और उनका,कई बार जगत के बारे में विस्तृत सुव्यवस्थित सिद्धान्त बनाए जाने की हद तक एक लेखा बनाता हूँ।

मैं अपना समय कोई न कोई कार्य करते हुए ही व्यतीत करता हूँ, विश्वविद्यालय जाते हुए, खाते हुए, सोते हुए, मित्रों के साथ गप्प लड़ाते हुए, समय व्यर्थ नष्ट करते हुए, मनोरंजन

करते हुए, काम करते हुए, और यह विस्मय करते हुए कि मैं इस धरा पर क्या कर रहा हूँ? कई बार ऐसा लगता है जैसे कि मेरा जीवन सिर्फ पूर्णरूपेण एक के बाद एक घटने वाली बेतरतीब घटनाओं की काफी लंबी और उलझी हुई शृंखला है। दूसरे क्षणों में मैं यह पहचानता हूँ कि मेरे बहुत सारे कामों में एक प्रकार की व्यवस्था है, शायद अधिकांश कार्यों में जो मैं करता हूँ। उस समय, मैं देख सकता हूँ कि मेरा जीवन कुछ पूर्वनिर्धारित परियोजनाओं और कार्यों में सुगठित है। मैं, किसी काम को उसके अभीष्ट तक पहुँचाने में, प्रायः व्यवस्थित रूप से काम करता हूँ। उदाहरण के लिए, मैं विद्योपार्जन के लिए कॉलेज जाता हूँ, और मैं विद्या अर्जन करता हूँ, ताकि मैं एक अच्छी नौकरी पा सकूँ, और मैं अच्छी नौकरी पाता हूँ ताकि मैं अच्छा पैसा कमा सकूँ और अपना और अपने परिवार का भरण पोषण कर सकूँ, आदि आदि।

मैं शायद ईश्वर में भी विश्वास कर लूँ और यह मान भी लूँ कि इस सब का कोई निश्चित उद्देश्य भी है। परंतु, शायद मैं यह भी मान लूँ कि कोई ईश्वर नहीं है और हम यह सारे कार्य सिर्फ यूंही करते चले जाते हैं और अंत में मर जाते हैं। पर सबसे अधिक संभावना यह है कि, भले ही मैं ईश्वर में विश्वास करूँ या न करूँ, मैं स्वयं के लिए यह कोशिश करता हुआ पाता हूँ कि, या शायद यह आशा करता हूँ कि, अपनी मृत्यु से पहले, मैं अपने समय का अधिकतर उपयोग कर सकूँ। और जब मैं इसके बारे में सोचता हूँ, तो मुझे इस बात का 'बोध' होता है कि, यह मृत्यु बोध स्वतः ही मेरे कार्यों को एक प्रकार की अधीरता और व्यवस्था प्रदान करता है। ऐसा इसलिए भी अनुभव करता हूँ कि मैं इस पृथ्वी पर अनंतकाल के लिए नहीं रहने वाला हूँ, और मैं समय के व्यतीत होने को नहीं रोक सकता। मेरे जीवन की एक दिशा है, भविष्य की ओर एक निरंतर बहाव है, जन्म से बचपन तक। बचपन से लेकर लड़कपन तक। लड़कपन से लेकर युवावस्था तक। युवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक और अंत में मृत्यु तक, अगर मेरी मृत्यु पहले न हो जाए। मेरे जीवन के सर्वोत्कृष्ट समय में भी, मेरा एक हिस्सा है जो मुझे परिभाषित करता है और मुझे, 'मैं कौन और क्या हूँ', बनाता है। वह यह है कि, मैं एक नश्वर प्राणी हूँ। मैं, एक दिन निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त होऊंगा। और मेरी मृत्यु किसी भी समय संभव है। मेरी देह, बाहरी वस्तुओं से, क्षति के लिए भेद्य है, पर इसकी भीतरी प्रक्रियाएँ भी उलट–पुलट हो कर, मेरी पीड़ा या मृत्यु का कारण बन सकती हैं। मेरा आंतरिक जीवन, मेरा मानसिक और भावनात्मक जीवन, कुछ अर्थों में मेरी देह से ज्यादा, बाह्य शक्तियों और घटनाओं के लिए भेद्य है, ये ही वे कारक हैं कि जिनके चलते बाहरी लोग मेरे 'आत्म' के 'देखने' को प्रभावित करते हैं, वे मुझे अपर्याप्त होने का, पराया होने का, गलत समझे जाने का, असामान्य होने का, या दुष्ट होने तक का आभास करा सकते हैं। मेरी भेद्यता तीव्रतम है, क्योंकि मैं अपने अलावा दूसरे लोगों और वस्तुओं पर आश्रित होता प्रतीत होता हूँ। दूसरे शब्दों में, मेरी, मेरे बाह्य परिवेश से अन्तरक्रिया, अन्यमनस्क नहीं हैं वे आवश्यक और त्वरित हैं। मुझे भोजन, आश्रय, और साहचर्य की आवश्यकता है। मेरा दूसरे लोगों से मेल जोल करते रहना, विशेष तौर पर आवश्यक है और इसके चलते ही यह सब खतरों से भरा हुआ है। मैं स्वयं को, सतत दूसरों की स्वीकारोक्ति और उनका अनुमोदन प्राप्त करने की कोशिश में लगा रहता हूँ, मैं चाहता हूँ कि वे मेरा समुचित सम्मान करें, और जो मैं हूँ उसके लिए मेरी अहमियत स्वीकारें। मैं कमोबेश यह जानता हूँ कि यह मान्यता मेरे लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है– मैं प्रेम, सम्मान, और प्रतिष्ठा के लिए तरसता हूँ। और फिर भी, जितना मैं इन वस्तुओं के लिए तरसता हूँ, उतनी ही ये वस्तुएँ मेरे लिए निरंतर

कठिन होती जाती हैं, और उतना ही मैं दूसरों की दया और उनके मेरे प्रति दृष्टिकोण पर जीता हूँ। इसके साथ ही, मुझे यह भी ज्ञात है कि दूसरे लोग भी, मेरी तरह उन्हीं वस्तुओं के लिए तरसते हैं, कई बार वे चाहते हैं कि 'वह' प्रेम और स्वीकृति, उन्हें 'मुझसे' मिले।

यह संक्षिप्त और सरल लेखन स्वयं से ईमानदार होने, आत्मान्वेषण, और आत्माभिव्यक्ति के संघर्ष की जटिलता को दर्शाने के लिए पर्याप्त है। उन तत्वों को खंगालते हुए जिनसे जीवन और हमारा 'आत्म' गठित है। मैं इस सबसे विस्मय से भर उठता हूँ कि मैं कैसे, इन सब तत्वों में 'आत्मान्वेषण' की शुरुआत करूंगा और एक ऐसा जीवन जी सकूँगा जो सच्चा और साथ ही साथ प्रामाणिक हो। तथापि, जब मुझे इसका एहसास होता है कि मैं इन तथ्यों पर न्यूनतम ध्यान देकर भी जीवन जी सकता हूँ, तब आत्मान्वेषण की जरूरत अपनी तीव्रता खो देती है, और बिना किसी चिंतन के कि, कैसे अपने तईं इन तथ्यों को बेहतर समझा और जीया जाए। जीवन, जैसा है, मेरे सामने अधिकांशतः खुला पड़ा है। मुझे हर दिन, प्रोत्साहित और आदेशित किया जाता है, धीमे से आगाह किया जाता है, या सही दिशा में जाने के लिए मुझे दृढ़ता से धकियाया जाता है। मुझे इस जगत में जीवित रहने के लिए, अधिकांशतः जो कुछ जानने की जरूरत है, उसे स्पंज की तरह सोख लेना काफी सरल है। जिस रास्ते पर मुझे चला दिया गया है, रोबोट की तरह, उस रास्ते पर चलना काफी सरल है। उदाहरण के लिए, मैं स्कूल जाता हूँ और जो कुछ मेरे शिक्षक बताते हैं, उसे लिख कर मैं उसका अध्ययन करता हूँ। लेकिन जो मैं सीखता हूँ, वह 'पाठ' के 'कथ्य' से कहीं अधिक है। भले ही मैं गणित पढ़ रहा हूँ या इतिहास, जीव–विज्ञान पढ़ रहा हूँ या अर्थशास्त्र। पर सुबह उठकर, दाँत माँज कर, कपड़े पहन कर, नाश्ता कर, समय पर कक्षा में पहुँच कर, अपनी जगह पर बैठ कर, और अपने पाठ पर पूरी तरह ध्यान देकर, मैं गणित या इतिहास, जीव विज्ञान या अर्थशास्त्र के अलावा बहुतेरी दूसरी वस्तुएँ भी सीख रहा हूँ। मैं प्रतीक्षा करना और ध्यान से सुनना सीखता हूँ। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि मैं तुष्टीकरण को स्थगित करना सीखता हूँ। मैं अपने आपको परिमणात्मक रूप से मापना सीखता हूँ, अगर मैं परीक्षा में अच्छे अंक लाऊं तो मैं बुद्धिमान हूँ, या ऐसा भी है कि अगर मैं कुछ चीजें दूसरे लोगों से पहले कर लूँ। मैं इन परिमाणात्मक मूल्यांकनों का महत्त्व सीखता हूँ, और उन्हें उत्साह और उत्सुकता से ग्रहण करता हूँ– पहली बार ग्रेड 'सी' मिलने पर मन और बेहतर करने की कामना से भरता है। परंतु, बाद में यही ग्रेड 'सी' मिलने पर मन नैराश्य और अवसाद से भर जाता है, और अंत में पुनः यही ग्रेड 'सी' मिलने पर मन थकी हुई स्वीकृति से भर जाता है। अंक, मूल्यांकन, तनख़्वाह, वस्तुएँ, मुझे बताती हैं कि मैं कौन हूँ, मैं कैसा कर रहा हूँ, मेरा मोल क्या है।

टीवी और मनोरंजन, मेरा मन बहलाते हैं और मुझे अनुभव करने का एक मौका देते हैं, परंतु वे मेरी कल्पना को आकार देकर मुझे शिक्षित भी करते हैं, और मेरे प्रेम और कामना की, मेरी घृणा की, जो मैं होना चाहता हूँ, और मुझे कैसे आचरण करना चाहिए, इसकी प्रकट और मूर्त छवि बनाने में मदद करते हैं। मार्केटिंग भी यही करती है, लेकिन कुछ कम प्रभावशाली रूप में। इस सारी 'प्रोग्रामिंग' के चलते, मुझे कैसे उत्सव मनाना चाहिए, मुझे क्या पहनना और सुनना चाहिए, मुझे कैसे और किस से बात करनी चाहिए, मैं यह सब जानता हूँ। भले ही मैं कक्षा में रहूँ, या दोस्तों के साथ रहूँ, या नौकरी पर रहूँ, अपने प्रेमी या प्रेमिका के साथ रहूँ, फिल्म देखूँ, वीडियो गेम खेलूँ, मुझे, कभी सीधे और प्रत्यक्ष रूप से और कभी अप्रत्यक्ष रूप से, निरंतर यही

संदेश मिल रहा है, 'आत्म' से ऐसे रहा जाता है! मेरे जीवन का ढर्रा, मेरे 'आत्म' का रूप, पूर्वस्थापित है और पहले से ही मेरी प्रतीक्षा में है।

मेरे जीवन का यह 'पूर्वनिर्मित' चरित्र आता है जिसे फूको कहते हैं, सामूहिकता पर 'अनुशासनात्मक शक्ति' या शासकत्व से। जैसे ही मैं इन संस्थानों (स्कूलों, नौकरियों, घरों, सरकारी निकायों, दवाखानों, मनोरंजन स्थलियों, आदि) से निकलता हूँ, जो मेरे जीवन को आकार देते हैं। मैं अपने आपको विवशता और चुनाव, कामना और आवश्यकता के पेचीदा जाल में उलझा हुआ पाता हूँ। मैं विशेषज्ञों और विद्वत्तों जो कि मुझे समाज का एक स्वस्थ, आनंदित, उत्पादनकारी और सुसमन्वित सदस्य बनने में मेरी मदद के लिए हैं, से मिलता हूँ। मनोविज्ञानियों और चिकित्सकों ने, उदाहरण के लिए, हमारे मनोवैज्ञानिक और शारीरिक विकास के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर चरणों का ब्यौरा तैयार कर लिया है, और इन चरणों में हमारे जीवन और 'आत्म' को मापने के लिए अद्भुत रूप से कारगर यंत्र बना लिए हैं। बाजार और मनोरंजन उद्योग ने कड़े श्रम से, वस्तुओं का निर्माण करके एक ऐसा जगत खड़ा कर दिया है, जो हमारे द्वारा ग्रहण किए गए उत्पादों और ब्रांड के जरिये, हमारे द्वारा सुने गए संगीत के जरिये, हमारे द्वारा देखी गयी फिल्मों के जरिये, हमें आत्म–अन्वेषण और आत्म–अभिव्यक्ति में मदद करता है। ये उद्योग, विशेषज्ञ, विद्वत्त, और संस्थान मुझे अपने 'आत्म' की खोज, उसे चरम पर ले जाने और उसे अभिव्यक्त करने के लिए 'धकिया' कर मेरा पथ प्रदर्शन करते हैं, "अनुशासनात्मक शक्ति का प्रधान कार्य है 'शिक्षित' करना... अनुशासन व्यक्ति को 'बनाता' है" (फूको 1979 / 170)। ये सारे संस्थान और विशेषज्ञ मुझे 'आत्म' से रहने के लिए शिक्षित करते हैं।

इस शिक्षण प्रक्रिया के केंद्र में है, वह तरीका, जिससे वह अपना ध्यान, मुझ पर (और आप पर और बाकी सब पर भी) एक नियंत्रण और ज्ञान, दोनों का वस्तु के रूप में केन्द्रित करता है। अनुशासन, संस्थागत रूप में शक्ति का वह रूप है, जो सतर्कता से निगरानी रखता है, जाँचता है, दर्ज करता है, और मापता है। वह ऐसा करता है ताकि वह मुझे अपना पूर्ण, 'उत्पादनकारी संभाव्य' अर्जित करने में मदद कर सके। पर ऐसा करने में, वह काफी हद तक मेरे आचरण को नियंत्रित करता है और मेरे समय को ढांचागत बनाता है ताकि, मैं उसका भरपूर उपयोग कर सकूँ। वह सबके समय और आचरण को सुव्यवस्थित कर देता है ताकि वह सबकी एक दूसरे से तुलना कर सके और इस बात का अंदाजा लगा सके कि इनके लिए किस प्रकार की वृद्धि और विकास सामान्य है। इसका परिणाम है "केलकुलेबल मानव" एक अत्यधिक अनुशासित प्राणी, जो बहुत सक्षम है पर साथ ही साथ अत्यंत आज्ञा–परायण भी (फूको 1979, 193य 135–69)। फूको इसको 'प्रसामान्यीकरण' की प्रक्रिया कहते हैं (फूको 1979,177–84)। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रसामान्यीकरण' की यह प्रक्रिया, उत्तरोत्तर व्यापक और संघनित होती जा रही है, भले ही वह कम से कमतर प्रत्यक्ष और अंतर्वेधी हो रही हो। निगरानी अधिक से अधिक रूप में दक्ष और सूक्ष्म होती जा रही है (सुरक्षा कैमरे मुझे सार्वजनिक स्थानों पर दर्ज कर लेते हैं, स्पायवेयर मेरी इंटरनेट की गतिविधियों पर निगरानी रखता है, नौकरी में मेरा बॉस, कभी भी मेरे कम्प्युटर का निरीक्षण कर सकता है, मोबाइल फोन पर मेरी बातचीत, कोई भी छुप कर सुन सकता है, विक्रेता मेरी पसंद और मेरे क्रय–विक्रय के व्यवहार का लेखा–जोखा रखते हैं, ताकि मुझे लक्ष्य करते हुए विशेष परिकल्पित विज्ञापन दे सकें)। अब यह चौंकाने वाला सत्य

है कि जीवन की स्वतंत्रता और उन्मुक्तता अब कम से कमतर होती जा रही है– नई संचार तकनीकें मुझे मेरे दफ्तर से जरूर मुक्त कर दें, पर वे ऐसा हर स्थान को एक अन्तःसम्बद्ध संजाल का हिस्सा बना करती हैं, अतः मैं प्रकट रूप में कार्यालय से कार्यमुक्त होने के बावजूद हमेशा नौकरी पर हूँ। बच्चों का जीवन तो पहले से और भी ज़्यादा अनुशासित हो गया है, वैज्ञानिक रूप से परिकल्पित उन्नतिशील खिलौनों से लेकर ढांचागत, सुव्यवस्थित और पर्यवेक्षित 'क्रीड़ा' समूहों और उन्नतिशील गतिविधियों तक, अब उनका समय अधिक से अधिक व्यस्त हो गया है।

कुल मिलाकर इन सारे उदाहरणों में, मैं उस तरह शासित नहीं हूँ, जिसमें मैं दमित या उत्पीड़ित लगूँ। इसके बदले, अनुशासन मुझे और उत्पादनकारी बनाता है, यह मुझे शिक्षित करता है, और जीवन जीने की मेरी क्षमताओं को अपने ही हित में विकसित करता है जिसका मेरे लिए प्रतिरोध करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि यह मुझे यही प्रतीति देता है कि यह सब मेरे पक्ष में है, यह मुझे मेरा जीवन जीने के लिए संसाधन देता है। हालाँकि, ये तमाम वस्तुएँ, मुझे गढ़ती हैं, मेरे जीवन को एक निश्चित आकार और व्यवस्था देती हैं, और मुझे यह विचार बनाने में मदद करता है कि मैं कौन हूँ और मुझे कैसे चीजों का क्रियान्वयन और अनुभव करना चाहिए, कई बार मुझे यह अनुभूति होती है कि यह यथार्थ में, मैं नहीं हूँ।

इस अनुशासनात्मक संदर्भ में हम उस 'आत्म' के लिए 'भीतर' की ओर देखने का निर्णय लेते हैं, वह 'आत्म' जो न गढ़ा गया है या किसी के अनुरूप ढाला गया है, और न ही जो अनुशासित है। पर इस क्षण में भी, हम अपने 'आत्म' से कतिपय विशिष्ट तरीकों से सम्बद्ध होने के लिए शासित या शिक्षित हैं। सिर्फ यह विचार भी, कि हमारे भीतर एक ईमानदार 'आत्म' है, जो सतह के भीतर प्रतीक्षा करता है, अपने आप में एक विशिष्ट प्रकार का 'आत्म' से 'आत्म' का संबंध है, जैसा कि हमने पहले दर्ज किया है। फूको इस प्रकार की 'आत्मपरकता' को "व्याख्यात्मकता" या 'कनफेशनल" कहते हैं, क्योंकि यह आत्म–व्याख्या ("व्याख्यात्मकता", व्याख्या की कला है) और आत्माभिव्यक्ति (कनफेशन, यह अभिव्यक्ति या सम्प्रेषण की वह कला का अभ्यास है, जो कहने में कठिन, पर आवश्यक है।) की गतिविधियों से बनी है। फूको का सूत्र यह है कि, व्याख्यात्मकता और कनफेशन न तो आंतरिक सत्य को पहचानते हैं और न ही अभिव्यक्त करते हैं। बल्कि, इन गतिविधियों के अभ्यास से, हम विशिष्ट प्रकार के 'आत्म' में ढलने के लिए तैयार कर दिए जाते हैं।

कनफेशन ने अपना प्रभाव दूर तक और व्यापक रूप से फैलाया है। यह न्याय, चिकित्सा, शिक्षा,पारिवारिक सम्बन्धों, और प्रेमसम्बन्धों, दैनंदिन के कामों, और विधिवत धार्मिक अनुष्ठानों में भी, अपनी भागीदारी करता है, कोई अपने अपराधों की स्वीकारोक्ति करता है, स्वयं के पापों के, स्वयं के विचारों और कामनाओं के, स्वयं की बीमारियों और समस्याओं को व्यक्ति बतियाता चलता है, गहन प्रासंगिकता के साथ, वह सब कुछ भी, जो बताना सबसे कठिन है. .. पाश्चात्य मानव असाधारणरूप से कनफेशन करने वाला मानव बन गया है।

व्याख्यात्मकता और कनफेशन के विषय उस जाल में गिरते हैं जो हमने ऊपर देखे हैं। हम उस 'आत्म' पर अपना ध्यान केन्द्रित कर के, जो कि व्याख्या और कनफेशन से प्रकट होता है, हम यह देखने में विफल हो जाते हैं कि किस तरह यही तमाम गतिविधियां हमें परिभाषित करती हैं और हमें उस प्रकार के व्यक्ति में ढालती हैं जो हम हैं। यद्यपि, अनुशासन हमें सँजोता

है और व्यवस्थित करता है, व्याख्यात्मकता और कनफेशन हमारी आत्मपरकता को आकार देते हैं।

आत्मपरकता और 'आत्मान्वीक्षण'

अनुशासनात्मक जीवन शैली और व्याख्यात्मकता, और 'आत्मपरकता' के कनफेशनल रूप की प्रतिक्रिया में फूको, हमारे जीवन और स्वत्व को आकार देने के बारे में एक वैकल्पिक सोच के यथोचित तरीके का प्रस्ताव रखते हैं। जैसा कि हमने पहले देखा है, फूको के लिए आत्मपरकता कोई वस्तु नहीं है, बल्कि 'हम' हैं, यह एक गतिविधि है, जिसे 'हम करते' हैं। यही वह 'सार' है जो हमारे भीतर की चेतना को 'वयम' बनाता है। आत्मपरकता संबंधात्मक है, गतिशील और अधीर है, संभवतः उछृंखल और अननुमेय भी है। परंतु, अगर 'आत्मपरकता' एक सक्रिय रूप से 'हो जाना' है, बजाए जड़ होने के, तब स्वयं को ढूँढने की या खोजने की कठिन चेष्टा, सत्व या पदार्थ के रूप में– व्यर्थ है। और इसके साथ, हम अपना ध्यान इस 'आत्म' पर केन्द्रित करके और अपनी ऊर्जा इस 'आत्म' को 'अभिव्यक्त' करने में, हम अपने आत्मपरक अस्तित्व को अनदेखा करते हैं जिस पर अनुशासनात्मक शिक्षण और प्रसामान्यीकरण की गतिविधियों ने आधिपत्य जमा लिया है।

अतः आत्मपरकता की व्याख्या और विश्लेषण करने के लिए, फूको उस गढ़ंत की ओर मुड़ते हैं, जिसे वे 'आत्मान्वीक्षण' कहते हैं, जो उनका ग्रीक और रोमन दर्शन में नियमित रूप से आने वाले पद (epimeleia heautou) का अनुवाद है। फूको 'आत्मान्वीक्षण' को 'कनफेशनल आत्म' और 'व्याख्यात्मक आत्म' के बरक्स रखते हैं। व्याख्यात्मक और कनफेशनल 'आत्मपरकता' इस आदेशक से प्रभावित हैं, "आत्म को जानो"। प्राचीन जगत में, दूसरी तरफ, आत्मपरकता इस आदेशक पर निर्भर है, "अपने को संभालो, सहेजो"। फूको यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि 'आत्मान्वीक्षण' का ढांचा, 'स्वयं' के बारे में, एक भरेपूरे और समृद्ध रूप से सोचने के तरीके को, और साथ ही साथ सक्रिय रूप से 'स्वयं' के 'होने' को, संभव बनाता है। प्राचीन दार्शनिकों के लिए, 'आत्मपरकता', आत्म–ज्ञान का रूप नहीं था, बल्कि आत्म–ज्ञान की खोज, उसी हद तक की जाती थी, जहां तक उसकी आवश्यकता 'आत्मान्वीक्षण' के लिए जरूरी थी। आत्म–ज्ञान की खोज, 'आत्मान्वीक्षण' के मूलभूत प्रयास में सिर्फ एक संभावित, परंतु हमेशा सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व नहीं था। तो, अगर 'आत्मान्वीक्षण' आत्म–ज्ञान से पूर्णतया परिभाषित नहीं है, तो फिर इसमें और क्या शामिल है? 'आत्मान्वीक्षण' उससे बना है, जिसे कभी कभार फूको 'आत्म की तकनीकें' या 'जीने की कलाएँ' कहते हैं।

जब फूको, 'आत्म' या जीवन की "तकनीकों" या "कलाओं" की बात करते हैं, तब वे ग्रीक शब्द 'टेक्ने (techne) का आश्रय ले रहे होते हैं, जो अंग्रेजी के शब्द 'technology' का व्युत्पत्ति मूलक से संबंध शब्द है। 'टेक्ने (techne)'का अनुवाद अक्सर 'तकनीकी जानकारी' या 'कला' या 'शिल्प' के रूप में होता है। 'टेक्ने (techne) एक प्रकार का ज्ञान है, जो किसी को कार्यविशेष या निर्दिष्ट परिणाम तक पहुँचने में मदद करता है। प्राचीन दार्शनिक अक्सर दर्शन को technetou bio– यानी जीने कि कला मानते थे (फूको 2005 / , 177–8)। दर्शन की कल्पना एक महान, सुंदर, और सच्चे जीवन की उत्पत्ति की कला या शिल्प के रूप में की जाती थी

(प्राचीन ग्रीक लोगों के लिए, शिवम, सुंदरम, और सत्य एक समान माने जाते थे)। इस ढांचे में, 'आत्म' को एक कला कृति समझा जाता था जिसे मनुष्य स्वयं गढ़ता है।

फूको की 'आत्म' की 'कलाओं' या 'तकनीकों' की अवधारणा और जीने की कलाओं का, कलाकार और उसकी अपनी कृति से संबंध की बहुत सामान्य और तत्वतः आधुनिक अवधारणा से कोई लेना देना नहीं है। हम अक्सर कला को आत्माभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं, पुनः हमारे भौतिक, बुनियादी आत्म के पूर्वानुमानों पर आश्रय लेते हुए। जब हम इस प्रवृत्ति के बहकावे में आ जाते हैं, तब हम कला और कलाकृतियों की गतिशील उत्पत्ति को समझने में चूक जाते हैं। हम, कलाकार कैसे काम करके अपनी कला कृति रचते हैं, इसका मूल्यांकन करने में विफल हो जाते हैं, और हम यह भी समझने में विफल हो जाते हैं कि, किस तरह कलाकार, सही अर्थों में, कलाकार बनते हैं। फूको के लिए, कला या techne रचनात्मक श्रम या काम में कार्यान्वित होती है (ग्रीक समाज इस प्रकार के श्रम को 'पोएसिस' 'poiesis' कहता था, जो कि अँग्रेजी के शब्द 'पोएट्री–poetry' का मूल शब्द है। किसी 'कथ्य' या 'निष्कर्ष' के प्रस्तुतीकरण में, कुछ अति सटीक और सुव्यवस्थित प्रक्रिया का निष्पादन आवश्यक है, प्रक्रिया जिनमें एक विशिष्ट प्रकार की जानकारी और ज्ञान की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, एक कलाकार के लिए यह जानना अत्यावश्यक है कि, जो विशेष रंग वह अपने चित्रनिर्माण के लिए इस्तेमाल कर रहा है, वह उस सतह पर, जिस पर वह चित्रांकन कर रहा है, कैसे लगेगा या सोखा जाएगा, क्योंकि जिस तरह से, वह रंग जो वह कृति के निर्माण में उपयोग में ला रहा है, उस सतह पर चिपकेगा या सतह के द्वारा सोखा जाएगा, वह उस चित्र को अंतिम आकार देगा। अगर कोई कलाकार किसी 'कृति' का निर्माण किसी एक 'विचार' से प्रारम्भ करता है, परंतु उसे रंगों को मिलाने का, या किस प्रकार का रंग किस सतह पर इस्तेमाल किया जाता है, इसका ज्ञान नहीं है, तब वह अपने 'विचार' को कार्यान्वित नहीं कर सकेगा नतीजतन, वह अपनी कृति नहीं ही रच पाएगा। कलाकार के लिए कला का ज्ञान ठीक उस प्रकार का ज्ञान नहीं है, जो कि मुख्यतः सिर्फ अध्ययन से अर्जित किया जाता है। यह मूलतः कोरा 'सैद्धान्तिक' ज्ञान नहीं है। निस्संदेह, तैल–रंगों के पीछे के रसायन विज्ञान और उनके लकड़ी पर चिपकाने के गुणधर्म को सीखना सहायक हो सकता है, परंतु रंग के रसायनशास्त्र को पढ़ने की परिणति कला में नहीं होती है। बल्कि, कला को अर्जित करने के लिए, कलाकार के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह सतह पर रंग के साथ प्रयोग करे और उसके बोध और रूप को अनुभव करे, कुल मिलाकर रंग संबंधी रसायन विज्ञान का कितना भी गहन अध्ययन इस प्रकार का ज्ञान नहीं दे सकता। सिर्फ रंगों के मिश्रण से, विशेष कूची और चित्र बनाने की सतह के चयन से, और रंगों के सतह पर लगाने से, कलाकार, कला–techne की शुरुआत करता है जो कि एक चित्र चित्रित करने के लिए आवश्यक है, और जो एक कलाकृति रचने के लिए तो अत्यंत आवश्यक है। परंतु, व्यक्ति चित्रांकन तो, चित्र बनाकर ही सीखता है। यहाँ अनुभव महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कृति की कलात्मकता इन उपर्युक्त गतिविधियों से व्युत्पन्न होती है और, उस ज्ञान से, जो उन्हें संभव बनाता है, और इसके अलावा और महत्त्वपूर्ण रूप से, तो वह सब उस के 'भीतर' से ही आता है। निस्संदेह, चित्रांकन सिर्फ रंगों और सतहों के अध्ययन से कहीं अधिक है। उन तमाम चिंताओं के अलावा, जो एक कलाकार के कलाकर्म में आती हैं, उनमें कुछ ऐसे प्रधान तत्व

हैं जिन पर हम बहैसियत दर्शक ध्यान केन्द्रित करते हैं, कृति का रूप या शैली और उसका 'कथ्य' या 'अर्थ'। हम उस कलाकृति को पूर्ण कहते हैं, जो उस सब को अक्षुण्ण रूप में क्रियान्वित कर दे, जिसे हम कलाकार की 'कल्पना शक्ति', उद्देश्य या सौन्दर्य विषयक 'विचार' यानि एस्थेटिक विजन कहते हैं। कला के आत्माभिव्यक्ति के रूप की दृष्टि से, हम यह मान कर चलते हैं कि 'कल्पना शक्ति', 'उद्देश्य', या 'विचार' अभिव्यक्त करता है कि सच में कलाकार कौन है। तब कृति को कलाकार के कनफेशन के रूप में देखा जाता है, और चित्र का अर्थ व्याख्यानात्मक रूप से निकाला जाता है, प्रकट कथ्य के परोक्ष रूप से काम करते हुए। अप्रकट मन्तव्य, कल्पना, उद्देश्य, या विचार जो 'स्व' (आत्मा, मन, मस्तिष्क) में निवास करता है। परंतु, आकार, शैली और कथ्य भी कला के उसी श्रम के उतने ही फल हैं, जितने कि वे उसके निदेशक सिद्धान्त या स्रोत हैं। किसी कलाकार का वास्तव में किसी पूर्ण कृति को देखना, कल्पना करना या उसका संकल्पन, चित्रांकन के ठोस अभ्यास के द्वारा माध्यम की संभावनाओं को सीखने के परिणामस्वरूप है। निश्चित रूप से, हम सभी, कला के संभावित विषयों को देखकर और विशेष तौर पर दूसरों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन कर के एक कलाकृति, जो कि अस्तित्व में नहीं है, उसकी कल्पना करने की क्षमता प्राप्त करते हैं। पर, हमारे पास एक कार्यान्वित की जा सकने वाली सौंदर्य दृष्टि या विचार तब तक नहीं आता है, जब तक कि हम स्वयं उस माध्यम की जिसमें हम काम करना चाहते हैं, वास्तविक संभावनाएं और सीमाएं न सीखें, और यह सिर्फ चित्रांकन के अभ्यास के द्वारा ही सीखा जा सकता है। उद्देश्य, विचार, और दृष्टि अभ्यास और कला के प्रतिफल हैं, उसके कारक नहीं। वास्तविक श्रम से कलाकार की दृष्टि स्वयं रूपांतरित होती है, गहराती है, या संघनित होती है। वस्तुतः कलाकार स्वयं एक उतनी ही कला कृति है, जितनी कि कृति के रूप में वस्तु को वह प्रस्तुत करता है। हम कला की गतिविधियों के कठोर अभ्यास तपस्या से ही 'दृष्टि' जैसा 'कुछ' अर्जित करते हैं, और एक वास्तविक, अर्थपूर्ण, और क्रियान्वित किए जा सकने वाले कलागत विचार या उद्देश्य में सक्षम होते हैं।

अब हम यहाँ इस बिन्दु पर विचार करें कि, कला के बारे में यह विमर्श, 'आत्म' के 'आत्म' से संबंध पर किस प्रकार लागू होता है? 'आत्म' किस तरह, स्वयं को और स्वयं के जीवन को कला–कृतियों के रूप में आकार देता है? फूको, प्राचीन दार्शनिकों की कृतियों में, 'आत्म' की और जीवन की कलाओं के बहुतेरे उदाहरण खोज लाते हैं। फूको के लिए, इन अभ्यासों का अध्ययन, हमें नाना प्रकार की तकनीकों का संसाधन मुहैया कराता है, जिन्हें हम हमारे अनुकूल बना कर प्रयोग में ला सकते हैं। इसके आगे हम संक्षिप्त में 'आत्म–परिष्कार या आत्म–प्रक्षालन' की कुछेक तकनीकें देखेंगे और परखेंगे, जो प्राचीन दर्शनिकों द्वारा विकसित की गई हैं। यह हमें, 'आत्म' और जीवन की कलाएं कैसे प्रतीत होती हैं, यह समझने के लिए एक स्पष्ट योजना देगा। हम यह भी देखेंगे कि किस तरह फूको का काम स्वयं, 'आत्म' की कलाओं से संरचित है जिनका वे विशिष्ट अभ्यास करते हैं, ताकि वे स्वयं, अपने 'आत्म' से एक प्रकार का अंतर्विरोध रहित संबंध स्थापित कर सकें, और एक विशेष प्रकार के दार्शनिक बन सकें।

चलिये, पहले देखें, अंतश्चेतना की जांच–पड़ताल के प्राचीन अभ्यासों के कुछ उदाहरणों को। उदाहरण के लिए, फूको का बखान देखें कि, किस तरह मार्कस औरेलीअस (सन 161 से सन 180 तक राज्य करने वाले दार्शनिक रोमन सम्राट और 'मेडिटेशन्स' नामक दर्शन की पुस्तक

के रचयिता–अनु), अंतश्चेतना की पूर्वानुमानित, जांच पड़ताल के साथ अपने दिन की शुरुआत करते हैं : इस जांच पड़ताल में यह कतई सम्मिलित नहीं है कि कल रात, या उसके पहले दिन क्या किया जा सकता था यह, जो तुम करोगे, उसका अन्वेषण है... इसमें उन गतिविधियों की, जिन्हें तुम करोगे, की पूर्व मीमांसा सम्मिलित है, तुम्हारी प्रतिबद्धताएँ, तुम्हारे द्वारा की गई नियुक्तियाँ, कार्य, जिन का तुम्हें सामना करना पड़ेगा, उस व्यापक लक्ष्य का स्मरण रखते हुए, जो तुमने इन गतिविधियों के द्वारा अपने लिए निर्धारित किया है और उन व्यापक लक्ष्यों को भी जो जीवन भर तुम्हारे मानस में होने चाहिए। और इसके साथ ही, वे सावधानियाँ भी, जो बरती जानी हैं, इन सटीक उद्देशों और व्यापक लक्ष्यों के अनुसार उन परिस्थितियों में कार्य करने के लिए जो कि उदीयमान होंगी।(2005 / 481)

इस तकनीक के द्वारा, 'आत्म' का 'आत्म' से जो संबंध स्थापित होता है, वह सैद्धान्तिक रूप से न तो विवेचनात्मक है और न ही स्वीकृतिमूलक। इनके बजाय, यह तैयारी और स्मृति का रूप है। मुझे अपने सिद्धान्त और लक्ष्य याद रखने ही चाहिए, मुझे दिन की आने वाली घटनाओं के लिए तैयार रहना चाहिए ताकि मैं वही न भूल जाऊँ, जो मैं हासिल करना चाहता हूँ। इसी रौ में, फूको आत्मान्वेषण के एक रूप का वर्णन करते हैं जो सेनेका के लेख में मिलता है। इस उदाहरण में, सेनेका, दिन के अंत में कुछ समय यह याद करने और उसे दर्ज करने के लिए निकालते हैं कि आज आखिर उन्होंने दिन भर क्या किया। एक बार फिर, इस गतिविधि में उनका मुख्य लक्ष्य और केंद्रबिंदु, अपने किए हुए कार्य के किसी छुपे हुए मन्तव्य को पहचानना नहीं है, और न ही उनका प्रमुख उद्देश्य अपने कार्यों पर फैसला देना है (हालाँकि वे इस प्रक्रिया का वर्णन करने के लिए विधि की भाषा का इस्तेमाल जरूर करते हैं)। उनके कार्यों में 'आत्म' का कोई अप्रकट भाव नहीं दिखता है, जो उन्हें अर्थ प्रदान करता हो। सर्वप्रथम, उनकी गतिविधि एक प्रकार की प्रशासकीय या 'लेखा–जोखा' रखने वाली गतिविधि है, बहीखातों को जोड़ कर देखते हुए कि आज का दिन कैसा गया। वे इस कला का बखान, उस दिन की अपनी गतिविधियों के एक प्रकार के निरीक्षण के रूप में करते है, यह देखने के लिए कि उन्होंने जो कुछ उस दिन किया वह उतनी ही अच्छी तरह किया जितना कि वह संभव था और यह सीखने के लिए कि वे भविष्य में कैसे भूलों से बच कर भविष्य में बेहतर बन सकते हैं। मार्कस औरेलीअस के प्रातः निरीक्षण की तरह, सेनेका का सायं निरीक्षण भी ऐसा ही है।

> सायं निरीक्षण मूल रूप से, कार्य के उन लक्ष्यों के मूलभूत नियमों के पुनर्सक्रियण की परीक्षा है, जो हमारे मानस में होने चाहिए, और उन साधनों की, जो हमें इन लक्ष्यों को पाने में इस्तेमाल करने चाहिए और उन तात्कालिक उद्देश्यों की जो हम अपने लिए निर्धारित करते हैं। अंतश्चेतना की जांच पड़ताल,उस हद तक,एक स्मृत्याभ्यास है, न केवल इस संबंध में कि आज दिन भर में क्या हुआ, बल्कि उन नियमों के संबंध में भी जो कि हमारे मानस में हमेशा होने चाहिए। (2005 / 483)

मार्कस औरेलीअस और सेनेका, दोनों में अंतश्चेतना की जांच–पड़ताल आत्मपरकता की निर्मिति के लिए, 'आत्म' की रचना के लिए एक कला है। यह पूर्व–जीवित पदार्थ या सत्व खोजने का प्रयास नहीं है, बल्कि यह 'एक प्रकार के व्यक्ति' बनने की कोशिश का हिस्सा है,

ताकि व्यक्ति के जीवन को एक विशिष्ट रूप दिया जा सके, ताकि 'आत्म' से 'आत्म' के संबंध को आकार दिया जा सके, अधिक गहरा बनाया जा सके, संघनित किया जा सके, और विकसित किया जा सके। आत्म–परीक्षण की यह तकनीकें, इस अर्थ में आत्मान्वीक्षण के तरीके हैं कि, वे हमारे आत्म की निर्मिति की गतिविधि में सहायता करते हैं, जो हम बनने की कामना करते हैं या जो हमें बनना आवश्यक है। मार्कस औरेलीअस और सेनेका दोनों ही उस जीवन सामाग्री को लेते हैं, उन सारे तत्वों –विचार और भावनाएँ, क्रियाएँ और संबंध, और आदि आदि–को लेते हैं जिनकी समीक्षा हमने इस निबंध के प्रारम्भ में की थी। वे घटनाओं और गतिविधियों के आवेश में, विचारों के अनवरत प्रवाह में, निर्णयों विकल्पों में से, और जीवन में से एक सुनिश्चित 'रूप' गढ़ने की कोशिश करते हैं और आत्म से संबंध को आकार देते हैं। इस कवायद का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि मैं पूरी तरह अपनी जड़ से उखड़ कर घटनाओं के बहाव में न बह जाऊँ, बिना कभी 'उसकी' झलक भी पाए या उस पर पकड़ मजबूत किए, जो कि जीवन के लिए सार्थक है और साथ ही साथ मैं अपने 'आत्म' का कुछ बना सकूँ। इन दार्शनिकों की तरफ मुड़ने में, फूको का प्रयोजन हमें यह समझाने के लिए नहीं है कि हम इन निर्गुणी दर्शनिकों का जीवन पुनः जिएँ। बल्कि, फूको के काम का भाव हमें आत्मपरकता के व्याख्यानात्मक और कनफेशनल अभ्यासों से विलग करता है, यह दिखाने के लिए कि 'आत्म' पदार्थ या सत्व नहीं है, बल्कि एक कला–कृति है, और हमें कई कलाओं का स्वाद चखाने के लिए, और इसके परिणामस्वरूप स्वयमेव बहुतेरे प्रकार के 'आत्म' जिनका हम अभ्यास कर सकते हैं। इस रूप में, फूको का अध्ययन हमें नए संसाधन और नई तकनीकें देता है, जिनका हम इस्तेमाल कर सकते हैं, भले ही हम निर्गुणी जीवन और जीवन में निर्गुणता के लक्ष्यों को समग्रता से न अपनाएं।

'आत्म' और जीवन की सारी कलाएं, 'आत्मान्वेषण' का रूप नहीं हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन दर्शन की एक प्रधान धारा 'आत्म'की कला, प्रकृति और बाह्य यथार्थ से सम्बद्ध है। प्रकृति का चिंतन, 'आत्म' के स्वयं से संबंध पर एक शक्तिशाली और परिवर्तनकारी प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए, सेनेका एक प्रकार के प्रकृति दर्शन का अभ्यास करते थे, जो उन्हें एक उच्चतर परिप्रेक्ष्य देता था, जहां से वे स्वयं का और जीवन का अवलोकन करते थे (2005/275/85)। जब हम घटनाओं के मध्य में उलझ जाते हैं– नौकरी या शिक्षा के दबाव, सम्बन्धों, धन, स्वास्थ्य, और आदि आदि– दैनंदिन जीवन की चिंताएँ सर्वग्रासी बन जाती हैं। हम स्वयं को अपनी समस्याओं और चिंताओं में खोया हुआ पाते हैं, हमारे सम्बन्धों या हमारे काम में हमारी तन्मयता, कई तरीकों से हम पर प्रभाव डालती है और नियंत्रण से बाहर होते जीवन और आत्म को नष्ट कर देने वाली यह चिंता, आत्मनाशी आदतों और व्यवहार में परिणित होती है। परंतु, ब्रह्मांड की भव्यता और अनंतता का चिंतन करके, हम स्वयं को दैनंदिन की दुनियादारी से ऊपर उठाते हैं। तब वहाँ से नीचे देखते हुए, हमे ब्रह्मांड को उसके बड़े, सच्चे, और ब्रह्मांडीय परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। तब हमारा रोजमर्रा की व्यस्तताओं का संसार, समय की व्यापक अनंतता में एक निमिष की तरह यथार्थ में प्रकट होता है, धूल का एक कण मात्र जो कि अंतरिक्ष के अनंत विस्तार में नगण्य, आकाशीय पिंडों के सामर्थ और सुंदरता के सामने तुच्छ। दूसरे प्राचीन दर्शनिकों ने, प्रकृति के चिंतन के अपने अलग रूप विकसित किए, परंतु हर एक प्रकार, अपने आप में, 'आत्म' के बनने का माध्यम बना, आत्म को उसकी मजबूरियों और भयों से मुक्त करता हुआ, अत्यावश्यक समस्याओं से उद्वेलित मस्तिष्क को शांत करता हुआ, तुच्छ माँगों, व्याकुलताओं

और प्रलोभनों के लगातार आक्रमण से विछिन्न इच्छाशक्ति को सुदृढ़ बनाता हुआ। फूको के लिए, यह 'आत्म' की कला दिखाती है कि, यह जरूरी नहीं है कि आत्मपरकता का अभ्यास हमारी दृष्टि को आवश्यक रूप से अंदर की ओर मोड़ दे और अंदरूनी जीवन पर केन्द्रित हो और उसका तात्विकीकरण कर दे। बल्कि, जीवन की ये, वे सशक्त कलाएं हैं, जो हमें जगत के ऊपर प्रक्षेपित करतीं हैं, और हमें आत्मान्वेषण और आत्माभिव्यक्ति के बारे में हमारी पूर्वधारणाओं से विलग करती हैं। प्राकृतिक जगत या इतिहास और समाज पर हमारा ध्यान 'स्वयं' से ईमानदार होने में शामिल है– दूसरे शब्दों में, हमारे ध्यान को अंदर के बजाए बाहर की ओर मोड़ता है।

आत्म की निर्मिति

फूको का प्राचीन दर्शन में 'आत्मान्वीक्षण' और आत्म की कलाओं का अध्ययन, इन गतिविधियों का लेखा–जोखा और विश्लेषण मात्र नहीं है। दरअस्ल, यह स्पष्ट है कि फूको, अपनी सारी दार्शनिक गतिविधियों की तरह, इस अध्ययन में भी, स्वयं की आत्मनिष्ठता को बनाने के सक्रिय अभ्यास में संलिप्त थे। अगर हम फूको के काम के विचलन का निरीक्षण करें, तो हम देखते हैं कि दार्शनिक विचार के श्रम से, फूको ने दार्शनिक चिंतन के अभ्यास की एक कला विकसित की, जिसने उनके स्वयं के लिए एक निश्चित दृष्टि और स्वयं से संबंध के सूक्ष्म स्रोत का काम किया। उन्होंने दार्शनिक होने के एक विशिष्ट तरीके को मूर्त किया। यहाँ पर एक तरीका है जिसमें वे, एक कला के रूप में स्वयं को मूर्तता देने के स्वयं के प्रयासों का वर्णन करते हैं।

> जिसने मुझे प्रेरित किया, वह काफी सरल है। मैं आशा करता हूँ कि कुछ लोगों की दृष्टि में वह अपने आप में वह पर्याप्त होगा। यह उत्सुकता थी– सिर्फ उस प्रकार की उत्सुकता, जो किसी भी स्थिति में, एक अड़ियल रवैये के परिमाण में क्रियान्वयन के लायक है। वह उत्सुकता नहीं, जो किसी व्यक्ति के लिए क्या जानना उचित है, उसे आत्मसात करने के लिए ढूंढती है, बल्कि वह उत्सुकता जो व्यक्ति को स्वयं से 'मुक्त' करने में समर्थ बनाती है। आखिरकार, ज्ञान के लिए वो जुनून ही क्या, जिसकी परिणति सिर्फ कुछ मात्रा की सुविज्ञता में हो, न कि, एक या दूसरे रूप में और जहां तक संभव हो सके, ज्ञाता के खुद से ही विषय के भटकाव में? (1990 / 8)

फूको का 'आत्मान्वीक्षण' बहुतेरी कलाओं से अंतर्संबंध रखता था मसलन–पठन–पाठन, लेखन, शिक्षण, चिंतन के सहित। परन्तु इन्हीं तक सीमित नहीं– जो उन्हें स्वयं से 'मुक्त' होने की अनुमति देता था। दर्शन फूको के लिए मुख्यतः, ज्ञान या आत्म–ज्ञान का रूप नहीं था बल्कि, "विचार की प्रविधि में आत्म की कसरत थी" (1990 / 9)। इस प्रकार की कवायद का क्या परिणाम था?

> व्यक्ति, स्वयं के दृष्टिकोण में परिवर्तन के लिए, स्वयं के ज्ञान की सीमाओं में परिवर्तन के लिए और उन सीमाओं से बाहर निकलने का जोखिम उठाने में, जो प्रयास करता है, उनमें एक उपालंभ है। क्या मेरे प्रयास चिंतन के एक किसी अलग तरीके में, यथार्थ में फलीभूत हुए? शायद, अधिक से अधिक,

> उन्होंने, जो मैं पहले से ही सोच रहा था उसके बीच से जाने को, उसे अलग प्रकार से सोचने के लिए, और जो मैंने किया, उसे एक नए कोण और अधिक स्पष्टता से देखना संभव बनाया। दूर तक चलने से आश्वस्त होने के बाद, व्यक्ति पाता है कि वह स्वयं को ऊपर से देख रहा है, एक तरह का स्वयं का विहंगावलोकन। ऐसी यात्रा, चीजों को पुनर्जीवित कर देती है, और स्वयं के स्वयं से संबंध को वयस्क बनाती है। (1990 ⁄ 11)

स्पष्ट रूप से, 'आत्म' से मुक्त होने का यह अभिप्राय नहीं है कि हम 'आत्म' का परित्याग कर नए व्यक्ति बन जाएँ, जो भी उस 'नए' का अर्थ होता हो। बल्कि, व्यक्ति स्वयं से थोड़ी दूरी और परिप्रेक्ष्य बनाता है, "वह ऊपर से स्वयं को देखता है"। परंतु, वह 'आत्म' कौन है, जिससे वह मुक्त होना चाहता है? जिस 'आत्म' से फूको मुक्त होते हैं, वह और कोई नहीं बल्कि यह, वही 'आत्म' है जो अनुशासन से बना है, जिसकी आत्मपरकता व्याख्यानात्मकता और कनफेशन के दुहराव से गढ़ी गई है। अनुशासन, कनफेशन, और व्याख्यानात्मकता, एक ऐसे आत्म का निर्माण करते हैं जो विशेष प्रकार से रहता है, जो स्वयं को और जगत को प्रसामान्यीकरण, आत्म–विश्लेषण और 'आत्माभिव्यक्ति' के नजरिये से देखता है। जब फूको 'वैचारिक प्रक्रिया में चेष्टा करते हैं', वे 'अलग तरह से सोचने' का प्रयास करते हैं और अपने को उस कथित 'अनुशासित आत्म' से विलग करते हैं, जो वे यहाँ तक आते आते बन गए हैं। 'आत्म' की कला या 'कृति' ही, वह तपस्या है जिसके द्वारा फूको अनुशासित, व्याख्यानात्मक, और कनफेशनल 'आत्म' से एक दूरी का संबंध स्थापित करते हैं। परंतु, अब क्या वे अपने सच्चे 'स्वत्व' को पा चुके हैं?

'आत्म से रहो', 'सच से जुड़े रहो', 'अपना मार्ग स्वयं चुनो'। फूको का आत्मपरकता का लेखा, इन सारे शब्दों को एक नया अर्थ देता है और यह समझने में हमारी मदद करता है कि जो कार्य वे बताते हैं वे इतने आवश्यक हैं फिर भी इतने कठिन, और अंततः अंतहीन क्यों हैं। 'आत्म से रहना' अध्यवसायी प्रयासों और दृढ़निश्चयी कलात्मकता का मुद्दा है, क्योंकि 'आत्म' अनवरत बनता रहता है, वह जड़ नहीं है। इसके परिणामस्वरूप, स्वयं के बनने की कला हमेशा कुछ सीमा तक, 'जो भी अभी तक मैं हूँ वह अब न रहने' की कला भी है, यही वह एक है कला जो 'आत्म' को 'आत्म' से विलग करती है ताकि वह स्वयम से एक नया, गहरा और प्रज्ञापूर्ण संबंध स्थापित कर सके जो फिर उसकी स्वयं की आत्म–दूरी को बनाएगा, और मुझे अज्ञात भविष्य की ओर भेजेगा।

टॉड मे

फूको की स्वतंत्रता की अवधारणा

'स्वतंत्रता' शब्द रूसो के 'सामाजिक अनुबंध' के बाद से, विचारों की दुनिया का सर्वाधिक प्रीतिकर शब्द है जिससे मनुष्य का 'होना' परिभाषित होता है। क्योंकि, इसकी मांग और इसकी उपस्थिति–अनुपस्थिति को लेकर ही, सारा सभ्यता–विमर्श खड़ा होता है। हालाँकि, सभ्यता के केंद्र में कई और घटक और कारक भी हैं, लेकिन वे अंततः 'स्वतंत्रता' के निकट पहुँच कर, अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं।वैसे, स्वतंत्रता को वर्गीकरण की भूल–भुलैया में ले जाकर, उसकी किस्में भी तय की गईं और इसके चलते, राजनीतिक स्वतंत्रता, नैतिक स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, नागरिक स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता आदि आदि। इसमें 'इच्छा' और 'कामना' के द्वैत को भी परिभाषित करते हुए, 'मेटाफिजिकल प्रॉब्लम ऑफ फ्री विल' को भी विमर्शों की परिधि में रखा गया।लेकिन, मार्क्सवाद के विचारधारात्मक वर्चस्व के बीच, 'स्वतंत्रता' को लेकर जितनी तीखी बहसें हुईं, उनसे अर्थ की पर्त–दर–पर्त खुली और स्वतंत्रता को 'विचारधारा और सांस्थानिकता' की रौशनी में विवेचित किया गया। इसमें 'व्यक्ति–स्वातंत्र्य' सबसे पहले निशाने पर आया। उसे पूंजीवादी अवघारणा मान कर, बहुत आक्रामक विचार आए और इसके परिणामस्वरूप, सामूहिकता के पक्ष और हित में नृशंसता ने जन्म लिया। बीसवीं शताब्दी में तो आइन्स्टाइन की 'सापेक्षिकता के सिद्धान्त' ने सब अर्थ उलट डाले। बहरहाल, उत्तर–आधुनिकता के विमर्शों में फिर हमें स्वतंत्रता की परिभाषाएँ तय करते हुए वैचारिक मुठभेड़ें दिखाई देती हैं। फूको ने हालाँकि प्रकट रूप से इस विषय पर कुछ नहीं लिखा है, लेकिन ये प्रश्न उनके चिंतन में परोक्ष रूप से रहे हैं। प्रस्तुत है, फूको के एक चर्चित अध्येता द्वारा की गई फूको की 'स्वतंत्रता' संबंधी अवधारणा की एक संक्षिप्त मीमांसा। –अनुवादक

अगर हम दर्शन में, एक सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में,'स्वतंत्रता' की अवधारणा को देखें तो वह भ्रांतिजनक है। यह अवधारणा, दर्शन की समस्याओं में से, कम से कम दो, बहुत भिन्न समूहों के केंद्र में स्थित है। पहला सवाल तो मनुष्य की आध्यात्मिक स्थिति का सवाल है और दूसरे, उसके राजनीतिक स्थिति का प्रश्न है। इन मुद्दों को और अधिक जटिल बनाने के लिए, 'स्वतंत्रता' पर मिशेल फूको के नजरिए को खँगालें तो वह दोनों ही समूहों से पूरी तरह बाहर हैं। फूको के विचार, हालांकि, उन दोनों समूहों के साथ मुठभेड़ करके, उन्हें अतिरिक्त जटिल भी बना देते हैं। मेरा प्रस्ताव यह है कि फूको के 'स्वतंत्रता' के प्रति दृष्टिकोण को, सिलसिलेवार, तीन चरणों में समझा जाए तो कहीं ज्यादा उचित होगा। पहले मैं, 'स्वतंत्रता' की उन दो अवधारणाओं को विवेचित करना चाहूँगा जो कि 'पारंपरिक दर्शन' में प्रचलित हैं। फिर मैं फूको की 'स्वतंत्रता' की अवधारणा पर चर्चा करूँगा, यह दर्शाते हुए कि वे किस तरह, 'पारंपरिक दर्शन' की अवधारणाओं के बरअक्स ठहरती हैं। और अंत में, मैं इन सबको समेटते हुए, फूको के विचारों की तुलना एक और दार्शनिक मौरीस मर्लो–पॉन्टी के विचारों के साथ करना चाहूँगा।

हम स्वतंत्रता की उन दो परंपरागत अवधारणाओं को, 'आध्यात्मिक' और 'राजनीतिक' कह सकते हैं। 'आध्यात्मिक' शब्द अपने आप में कुछ गूढ़ है, अतः विमर्श में आगे बढ़ने से पहले, यही बेहतर होगा कि हम पहले से ही, यह बात ठीक से स्पष्ट कर लें कि हम इस 'शब्द' का क्या अभिप्राय लेते हैं। 'आध्यात्मिकता', मूलतः प्रकृति के मूलभूत यथार्थ से संबद्ध है। मसलन, 'यह क्या है?' या 'अस्तित्व के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं?' जैसे प्रश्नों को उठाती है। इस अभिप्राय में हम, इसे 'ऑण्टोलॉजी' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क और देह का अंतर–संबंध, तत्त्वमीमांसा का एक केन्द्रीय पहलू है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि, यथार्थ, अगर सिर्फ दो चीजों से बना है––पहली मानसिक वस्तुएँ (चेतना) और दूसरी भौतिक वस्तुएँ (देह) तो फिर इनके अंतरसंबंध का प्रश्न, एक केन्द्रीय प्रश्न बन जाता है, और ऐसा है भी, आज से नहीं, देकार्त के समय से। नतीजतन, मस्तिष्क और देह के अंतरसंबंध से जुड़े हुए, बहुतेरे सवालों के बीच, यह सवाल भी खड़ा होता है कि 'क्या मस्तिष्क, देह का संचालन कर सकता है या नहीं?' यह प्रश्न अपने दूसरे स्वरूप में 'स्वतंत्र इच्छा' (फ्री–विल) के प्रश्न में बदल जाता है जिसके बारे में हम आगे बात करेंगे।

'आध्यात्मिकता' का गूढ़ चरित्र, बीसवीं शताब्दी के दौरान, मार्टिन हाइडेगर के विचारों के प्रभाव में उभरा। हाइडेगर के लिए सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन ही, 'आध्यात्मिकता' का पर्याय है। हाइडेगर के लिए, चिंतन के केंद्र में 'परम–प्रश्न', अस्तित्व का प्रश्न है। हाइडेगर के नजरिये में, समस्या यह है कि पाश्चात्य दर्शन में, आद्योपान्त अस्तित्व की व्याख्या, व्यक्ति के होने से की गयी है। अतः, जब हम यथार्थ के स्वरूप के बारे में प्रश्न करते हैं, और जब हम यह पूछते हैं 'क्या है?', तब, हम दरअस्ल यह पूछ रहे होते हैं कि 'कितने तरह के व्यक्ति हैं?' यह दृष्टिकोण अस्तित्व के प्रश्न की अवहेलना करता है। इसलिए हाइडेगर, जब 'आध्यात्मिकता' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, तो वे दर्शन के उस दृष्टिकोण की बात कर रहे होते हैं जो दर्शन के परम प्रश्न, अस्तित्व के प्रश्न को भूल कर व्यक्ति के प्रश्नों की बात करता है।

यह हम सब जानते हैं कि हाइडेगर का 'आध्यात्मिकता' शब्द का इस्तेमाल काफी प्रभावशाली रहा है, खासकर हाल ही में फ्रेंच दार्शनिक जैक देरीदा और उनके अनुयायियों के बीच। हालांकि, इस निबंध के लिए, हम यह मुद्दा संप्रति यहीं छोड़ देते हैं। 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता'

शब्द का जो अभिप्राय हम लगाते हैं, उसका संबंध ना तो 'अस्तित्व' से है और न ही 'व्यक्ति' से। दरअसल, उसका मूल संबंध 'स्वतंत्र इच्छा' से है।

तब, सहज ही यह प्रश्न जन्म लेता है, तो फिर, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता क्या है?' यह ऐसा कुछ है, जो मनुष्यों के पास हो सकता है या नहीं भी हो सकता है। जो लोग 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' के विचार का समर्थन करते हैं, उनका उस 'स्वतंत्रता' से प्राथमिक आशय क्या है, इस बारे में भी बहुत अलग–अलग दृष्टिकोण हैं। परंतु, इस पर सब सहमत हैं, कि 'वह जो भी है', उस में हमारे 'होने' की नियति का प्रतिरोध समाहित है। फिर हमें, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' को ठीक से समझने के लिए, 'नियतिवाद' का सिद्धान्त भी समझना जरूरी होगा। तो, फिर, 'नियतिवाद क्या है?' यानि यह दृष्टिकोण कि मनुष्य का, अपने 'विचारों' और 'कर्मों' पर नियंत्रण नहीं है। हम, जो भी करते हैं, उसका स्रोत, हमारी चेतना के नियंत्रण से सर्वथा बाहर है। नियतिवाद के बहुतेरे प्रकार होते हैं। कैल्विनवादी दृष्टिकोण रखने वाले विमर्शकार, 'पूर्वनियति' के एक धार्मिक दृष्टिकोण को अपनाते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, ईश्वर ने 'जो कुछ होने वाला है' उसे पहले से ही निर्धारित कर रखा है और मानव जीवन केवल, उस पूर्वरचित पटकथा को दुहरा भर रहा है। 'जेनेटिक' नियतिवादी यह मानते हैं कि जो कुछ भी हम होंगे और विभिन्न परिस्थितियों में, जो भी हमारी प्रतिक्रिया होगी, वह सब हमारे 'जीन्स' में कूटबद्ध है। जबकि दूसरी ओर, व्यवहारवादियों का मत है कि हमारा परिवेश ही, हमें पूर्ण रूप से गढ़ता है। हम हमारे 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक' संबलनों के उत्पाद के अलावा कुछ नहीं हैं। इन तमाम दृष्टिकोणों में, यह विचार समान है कि लोग अपने जीवन के, किसी भी पहलू के नियंत्रण में नहीं हैं। वे उन शक्तियों के उत्पाद हैं, जो उनके प्रभाव से दूर और बाहर हैं।

इसके विपरीत, जो यह विश्वास करते हैं कि 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' है, वे इस बात को स्पष्टतः नकारते हैं कि मानव जीवन पूर्णरूपेण नियत है। यहाँ पर भी अलग–अलग दृष्टिकोण हैं, न केवल इसमें कि 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' में क्या समाहित है, बल्कि इसमें भी कि हमें दरअस्ल कितनी स्वतंत्रता उपलब्ध है। कुछ, हालांकि बहुत थोड़े, दर्शनिकों का मानना है कि हम अपने तमाम निर्णयों में पूर्णरूपेण स्वतंत्र हैं। जबकि अधिकांश दार्शनिक, कुछ कम रूढ़िवादी सिद्धान्त मानते हैं। इस तरह से देखा जाये तो 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' के इन सारे दृष्टिकोणों को, जो विशिष्ट बनाता है, वह है, इस बात का खण्डन कि हम पूर्णरूपेण नियतिबद्ध हैं। मनुष्य का, अगर वह मानसिक रूप से विक्षिप्त नहीं है तो, अपने विचारों और अपने आचरण पर, कुछ सचेतन नियंत्रण अनिवार्यतः रहता ही है।

हम सामान्यतः यह जानते ही हैं कि 'राजनीतिक स्वतंत्रता', 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' से एकदम भिन्न है। राजनीतिक स्वतंत्रता का संबंध, उन स्वछंदताओं से है, जो हमें किसी समाज के सदस्य होने पर उपलब्ध हों या ना उपलब्ध हों। उदाहरण के लिए, यूनाइटेड किंगडम और यूनाइटेड स्टेट्स में 'अभिव्यक्ति' की राजनीतिक स्वतंत्रता है, मगर म्यांमार के लोगों के पास यह नहीं है। राजनीतिक स्वतंत्रता, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' की तरह, मानव स्वभाव का सिद्धान्त नहीं है। इसके बदले, यह किसी समाज के विशिष्ट घटकों का चरित्र चित्रण है।

यहाँ, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीतिक स्वतंत्रता और 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता', 'अवधारणात्मक' रूप से भिन्न–भिन्न हैं। लोगों के पास, एक प्रकार की स्वतंत्रता के होने और

दूसरी तरह की स्वतंत्रता न होने की कल्पना की जा सकती है। एक तरफ, कोई राजनीतिक स्वतंत्रता के अभाव में भी, 'आध्यात्मिक' रूप से मुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, चलिये मान लें कि लोग पूर्णरूपेण अपने व्यवहार में नियतिबद्ध नहीं हैं। इसके तहत कोई ऐसा व्यक्ति, जो कि 'राजनीतिक बंदी' की तरह है, 'आध्यात्मिक' रूप से स्वतंत्र है, परंतु राजनीतिक रूप से नहीं। वहीं दूसरी ओर, अगर हम यह मान लें कि लोग पूर्णरूपेण, अपने व्यवहार में नियतिबद्ध हैं, तो उस समाज में, जहाँ प्रचुर राजनीतिक स्वतंत्रताएँ उपलब्ध हैं, वे राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होंगे परंतु 'आध्यात्मिक' रूप से नहीं।

ज़ाहिर है कि यह वैचारिक भेद, दर्शन की परंपरा का लक्षण है। शायद, फिर भी, अपेक्षया यह काफी हद तक सुलझा हुआ है। शायद, यह विचारों को स्पष्ट करने के बदले, उन्हें और धुंधला कर देता है। आखिरकार, उदाहरण के लिए, क्या हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि किसी समाज में, जिसमें 'राजनीतिक स्वतंत्रता' अबाधित रूप से अनुपलब्ध रही है, वहाँ लोगों की गतिविधियां सीमित रहेंगी, भले ही वे अचानक स्वतंत्र हो जाएँ। व्यवहारवादियों का तर्क है कि, हम पूर्णरूपेण, अपने परिवेश के द्वारा नियतिबद्ध हैं। हमें यह पहचानने के लिए उतनी दूर जाने की जरूरत नहीं है कि जिसे हम, अपनी 'आध्यात्मिक स्वतन्त्रता' कहते हैं, वह शायद परिवेशगत कारणों से सीमित हो, जिनमें राजनीतिक स्वतंत्रता भी शामिल है। अंततः, हमने पिछले कई दशकों में देखा ही है कि पीढ़ियों तक राजनीतिक अधीनता में रहने के बाद किस तरह लोगों को अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग करने में कठिनाई का सामना करना पड़ा है। ऐसे उदाहरण कई अल्प विकसित समाजों में ही नहीं, बल्कि, उपनिवेशरहित समाजों में भी मिल ही जाएंगे।

'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' के सिद्धांतकार, यह तर्क दे सकते हैं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की अनुपलब्धि, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' के अस्तित्व से समझौता नहीं कर सकती। उनका यह दावा रहेगा कि 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता', सारे मनुष्यों के पास उपलब्ध है। जो लोग राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं, उससे उनकी 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' में न तो कोई अभिवृद्धि होती है, न ही कोई घटोतरी। वे सिर्फ अपनी इस 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' को नवोपार्जित राजनीतिक स्वतंत्रता की सेवा में न लगा पाने की अज्ञानता दर्शा रहे हैं।

हालाँकि, मुझे लगता है कि इस उत्तर में, ऐसा कुछ है, जो छूट रहा है। अगर हम यह जानना चाहते हैं कि लोगों का जीवन कैसा है? वे क्या और क्या नहीं कर सकते? तब, शायद यह कहा जाना बहुत हद तक, सहायक सिद्ध नहीं होगा कि भले ही उनकी परिस्थिति कैसी भी हो, वे 'आध्यात्मिक' रूप से स्वतंत्र हैं। ज्यादातर लोगों की रुचि, यह जानने में नहीं है कि वे, किसी अप्रकट ढंग से लाचार हैं, या कहें कि वायवी–लाचारी है, उनकी। बल्कि उनकी रुचि यह जानने में हैं कि उनके पास, कौन से ठोस विकल्प उपलब्ध हैं। यानी, अगर लोगों को, किसी एक तरीके से रहने के लिए बाध्य कर किया गया है, तो यह दावा कि 'वे ऐसे रहने के लिए बाध्य नहीं हैं' खोखला साबित होगा। अगर, इस सबका अभिप्राय यही निकले, कि मनुष्य 'होने' में ऐसा कुछ है, जो पूरी तरह, उन परिस्थितियों के अधीन नहीं है। उन लोगों की दिलचस्पी, उन परिस्थितियों के चरित्र चित्रण को जानने में ज्यादा होगी। साथ ही, उनकी दिलचस्पी यह जानने में भी होगी, कि कैसे वे परिस्थितियाँ,जो वे हैं और जो वे करते हैं, उसमें दखल डालती हैं और वे कैसे अपने आप को, उन परिस्थितियों से पूरी 'स्वतंत्र' कर सकते हैं।

ऐसे में, ऐन ठीक इसी बिन्दु पर, मिशेल फूको के, स्वतंत्रता के बारे में विचार अत्यंत प्रासंगिक हो उठते हैं। फूको, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' के किसी भी रूप का बचाव नहीं करते हैं। न ही वे, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' को अस्वीकार करते हैं। बल्कि, इसके विपरीत, वे उन असंख्य बाधाओं को गिनाते हुए मिलते हैं, जिन्होंने हमें बाध्य कर रखा है। हालाँकि, जिन बाधाओं का विवरण, वे करते हैं, और जैसा कि वे जोर दे कर कहते हैं, वे बाधाएँ 'आध्यात्मिक' बाधाएँ नहीं हैं, बल्कि ऐतिहासिक रूप से मनुष्य पर लाद दी गयी बाधाएँ हैं। नतीजतन, वे ऐसी बाधाएँ हैं, जिनसे निश्चय ही पार पाया जा सकता है। और उन बाधाओं से पार पाना, न तो 'आध्यात्मिक' चेष्टा होगी, और न ही दार्शनिक। बल्कि, यह एक राजनीतिक अभ्यास है। अगर दूसरी तरह से कहें तो, फूको, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' का न तो बचाव करते हैं और न ही खण्डन। वे ऐसा कुछ राजनीतिक प्रतिरोध के होने के लिए मान लेते हैं। हालाँकि, उनकी रुचि वहाँ नहीं है, बल्कि उनकी रुचि, उन विशिष्ट बाधाओं को जानने के प्रश्न में निहित है, जो कि हमारे ऐतिहासिक विरासत का हिस्सा हैं। वे जानना चाहते हैं कि, वो बाधाएँ क्या हैं, वे अपने उस रूप में कैसे आईं, और उनके क्या प्रभाव हैं? और इन प्रश्नों के उत्तर जानने के बाद ही हम, अपने आप को उन बाधाओं से मुक्त कर सकते हैं। जैसा कि वे, अपनी अंतिम प्रकाशित कृति में लिखते हैं, 'आखिरकार, ज्ञान के लिए, वो जुनून ही क्या, जिसकी परिणति सिर्फ कुछ मात्रा की सुविज्ञता में हो, न कि, एक या दूसरे रूप में और जहाँ तक संभव हो सके, ज्ञाता के खुद से ही विषय से भटकने में । (फूको 1990 बी 8)

यह सर्वविदित है कि फूको ने, 'स्वतंत्रता' पर स्वतन्त्र रूप से कोई भी पुस्तक प्रकाशित नहीं की। और न ही उनकी, स्वतंत्रता, चाहे वह 'आध्यात्मिक' हो या राजनीतिक', पर कोई निरंतर चलने वाली टिप्पणी है। जब भी वे 'स्वतंत्रता' शब्द या 'स्वतंत्रता के विचार' का उल्लेख भी करते हैं, तो वह हमेशा ही किसी दूसरे ही संदर्भ या किसी दूसरे ही मसले की बहस में होता है। फिर भी, हम यह कह सकते हैं कि अपने कार्यकाल के, एक छोर से दूसरे छोर तक, 'स्वतंत्रता का प्रश्न', उनके काम को निरंतर प्रेरित करता रहा। उनके लिए चुनौती के रूप में, प्रश्न यह नहीं कि 'क्या हम स्वतंत्र हैं?', बल्कि, प्रश्न यह है कि, 'हम कैसे ऐतिहासिक रूप से बाध्य हैं और हम उसके बारे में अपने तईं क्या कर सकते हैं?' हालाँकि, फूको के पास इस प्रश्न के दूसरे भाग के बारे में कहने के लिए बहुत कम उपलब्ध था, परंतु वे, इस प्रश्न के पहले भाग के बारे में, और उस विचार के संदर्भ में, अपनी भूमिका के बारे में काफी स्पष्ट थे। उनकी भूमिका, हमें यह बताने की नहीं थी कि 'हम क्या करें', बल्कि, बाधाओं के एक नए समूह को प्रस्तुत करने की थी। इसके साथ यह भी कि उन विशिष्ट ऐतिहासिक बाधाओं को समझने में, हमारी और स्वयं की मदद करने के अभीष्ट में था, और यह समझाने में भी था कि, वे बाधाएँ ऐतिहासिक बाधाओं से ज्यादा कुछ नहीं हैं। इसी प्रवृत्ति में उन्होंने एक बार लिखा था :

'चीजें, इससे बेहतर नहीं हो सकतीं, ऐसा कहने में एक निराशावाद है, जबकि मेरा केन्द्रीय आशावाद यह कहने में निहित है कि बहुतेरी चीजें बदली जा सकती हैं, जो वैसे ही कमजोर हैं, जो परिस्थितियों से ज्यादा बंधी हुई हैं, बनिस्बत आवश्यकताओं के, जो ज्यादा मनमानी हैं, बनिस्बत स्वयं–सिद्ध होने के, और ज्यादा जटिल, अस्थायी ऐतिहासिक परिस्थितियों के मसले बजाय अवश्यंभावी मानव–विज्ञानी शाश्वतताओं के।' (1990 डी, 156)

इस बिंदु तक हम, बहुत ही सामान्य तौर पर 'स्वतंत्रता' शब्द के अभिप्राय के बारे में बात कर रहे हैं। तथापि, अगर फूको का दृष्टिकोण उपयोगी है, तो हमें 'स्वतंत्रता' पर व्यापक दार्शनिक टिप्पणियों से अलग हट कर, अपनी विशिष्ट परिस्थिति का स्थापित, ऐतिहासिक विश्लेषण करना होगा। और कहना न होगा कि यही, जाहिर तौर पर फूको का लेखन कर रहा है। इन कृतियों में, स्वतंत्रता की अंतर्निहित भूमिका देखने के लिए, चलिये हम संक्षेप में, इस एक उदाहरण पर विचार करें। 'डिसिप्लिन एंड पनिश' फूको द्वारा लिखित फ्रांस में, जेलों के उदय का इतिहास है। यह यातना से लेकर पुनर्वास तक के परिवर्तन काल का बखान करता है। उस दौर से गुजरते हुए, यहाँ दोनों अवस्थाओं का दखल है। यातना काल के दौरान, अपराध कभी–कभी ही लेकिन गम्भीरता से दण्डित होते थे। हर एक अपराध, शासक के विरुद्ध माना जाता था, और उस दोष को पूर्णरूपेण अक्षरशः शासक की सत्तानीति के ढाँचे के खिलाफ, एक हमला माना जाता था। इस अपराध का दमन, अपराधी के शरीर के प्रति अत्यधिक नृशंस दण्ड से किया जाता था, ताकि शासक की सत्ता और प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की जा सके।

कहना न होगा कि, यातना कई मानों में, दण्ड की एक निरर्थक विधि थी। यह असामान्य रूप से लागू की जाने वाली, महंगी विधि थी और अक्सर, अपराधी के लिए सहानुभूति उत्पन्न करती थी। पूंजीवाद के उदय और उसके साथ बढ़ते हुए, भूमि सम्बन्धी अपराधों पर ध्यान अधिक केन्द्रित किए जाने के कारण, दण्ड की, एक कुशल प्रणाली की आवश्यकता उत्पन्न हुई। फूको, इस समस्या से निपटने के एकमेव समाधान के रूप में, जेल के उदय की, एक जटिल गाथा बताते हैं। हमारे उद्देश्य के लिए, इस गाथा में, प्रासंगिक यह है कि इस व्यवस्था के केंद्र का परिवर्तन, शनैः शनैः अपराध से, अपराधी की तरफ हो गया। इससे एक ऐसा तंत्र उभरा, जो अपराधों को दण्डित करने के बदले, अपराधों को, आपराधिकता की अभिव्यक्ति मानने लगा। अतः, इस धारणा के कारण, जिसे ठीक किए जाने की जरूरत थी, वह अपराध के पीछे का अपराधी था। इसके लिए हस्तक्षेप और निगरानी की उन्नत तकनीकों की आवश्यकता पड़ी, जो पहले से ही दण्ड प्रणाली से अलग मठों, अस्पतालों, और सेना में विकसित हो रही थीं। इन तकनीकों को, जेल के सीमित परिवेश के साथ मिला दिया गया, जहाँ कैदी पर सतत निगरानी रखी जा सकती थी और हस्तक्षेप किया जा सकता था। कारावास, वे जगहें थीं, जिन्हें फूको, 'आज्ञापरायण निकाय' कहते हैं। निकाय, जो काम करने में कुशल और सत्ता के आज्ञाकारी, दोनों थे।

कुल मिलाकर, उन करावासों में, जो गढ़ा गया वह, वही नहीं रहा। निगरानी और व्यक्ति की निजता में हस्तक्षेप की तकनीकें, पूरे समाज में फैल गईं। पूरे लन्दन में, निगरानी कैमरों और संयुक्त राज्य अमेरिका में, वायरटेप्पिंग की निगरानी की तकनीकों के उद्भव से, निगरानी की खबरें आजकल अखबारों में ज्यादा हैं। निजता में अप्रकट हस्तक्षेप की तकनीकें, गुप्त रूप से फैली हैं और उतनी ही प्रभावी हैं।'परिवार' और 'व्यक्ति', हर बड़े और मँझले आकार के कार्पोरेशन में के मानव संसाधन विभागों से लेकर, स्कूल काउंसिलरों और सामाजिक कार्यकर्ताओं की बहुलता के चलते, अपने आपकी, मनोवैज्ञानिक निगरानी के लिए अधीन कर दिये गए हैं, जो यह प्रामाणित या सिद्ध करने के लिए कटिबद्ध हैं कि हम अपना उपयुक्त सामाजिक दायित्व निभा रहे हैं।

'निगरानी' और 'हस्तक्षेप' की इस प्रणाली, जिसे फूको अनुशासन का नाम देते हैं, की मौजूदा स्थिति पर काफी चर्चा हुई है। कुछ ने, खासकर दार्शनिक जील द्लूज ने तर्क दिया है कि हम एक नई 'उत्तर–अनुशासनात्मक' अवस्था में प्रवेश कर गए हैं (द्लूज 1995)। हमारी चिंता, हालांकि, इस प्रश्न के साथ है कि इस ऐतिहासिक अध्ययन में, 'स्वतंत्रता' को कहाँ उलझा दिया गया है। यह देखने के लिए, हमें यह पहचानना जरूरी होगा कि फूको, 'डिसिप्लिन एंड पनिश' में जो बखानते हैं, वह दरअस्ल लोगों के व्यवहार पर, ऐतिहासिक बाधाओं के समूह का उदय है। बाधाएँ, ऐसे तरीकों से काम करती हैं, अमूमन जिन्हें परंपरागत राजनीतिक दर्शनों में, नजरअंदाज कर दिया जाता है। वे ऐसे काम नहीं करती हैं कि वे लोगों को, वो कुछ करने से रोकें, जो वे अन्यथा करने के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं। बजाय इसके, वे कुछ अचूक तरीकों से लोगों को गढ़ती हैं, और इस तरह की गढ़न्त में, उन्हें 'आज्ञा–परायण निकायों' में बदल देती हैं।

हालाँकि, ठीक इसी विमर्श–बिन्दु पर सत्ता का प्रश्न सहज ही रूप में आ खड़ा होता है लेकिन, सत्ता की अवधारणा की चर्चा काफी गहराई में, दूसरे निबंध में की जाएगी। अभी के लिए, मुझे सिर्फ इतना कहने दीजिये कि फूको, 'डिसिप्लिन एंड पनिश' और अपने दूसरे ऐतिहासिक निबंधों में जो समाहित करते हुए प्रस्तुत करते हैं, वह सत्ता का'नकारात्मक' के स्थान पर, 'सकारात्मक' दृष्टिकोण कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण में सत्ता, निरोध के बदले सृजन से काम करती है। सत्ता हमारी 'स्वतंत्रता' को सीमांकित नहीं करती, बल्कि, वह हमें मानवों की एक विश्वसनीय किस्म में बदल देती है। वह ऐसा दो स्तरों पर करती है। पहले, वह हमारे शरीर को, विशेष प्रकार के सामाजिक व्यवहार की तरफ उन्मुख होने के लिए प्रशिक्षित करती है। दूसरे, और शायद यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह कतिपय विश्वसनीय तरीकों से, हमें अपने बारे में सोचने के लिए बाध्य करती है। उदाहरण के लिए फूको,'डिसिप्लिन एंड पनिश'में जिस मनोवैज्ञानिक निगरानी और हस्तक्षेप की बहुलता का बखान करते हैं, वह एक ऐसा समाज बनाती है, जो मनुष्य को मनोवैज्ञानिक जीव के रूप में, खुद के बारे में सोचने के लिए तैयार कर देती है। इसके परिणामस्वरूप, वे अपने दुःखों को मनोविज्ञानजन्य मानते हैं और फिर उसकी समस्याओं का मनोवैज्ञानिक इलाज ढूंढते हैं। बजाय, जिस समाज में वे रहते हैं, उसके चरित्र पर सवाल उठाने के, वे खुद पर सवाल उठाते हैं। अर्थात्, एक सामूहिक चिंतन को, परिस्थिति–मूलकता से नाथ देने के बजाए, समाज निरपेक्ष होकर, मनोगत दिशा की ओर मोड़ देते हैं। कुल मिलाकर, सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के बदले, वे स्वयं में परिवर्तन करते हैं। यह कृत्य, फिर, व्यवस्था की आलोचना को, पुनः उन्हीं लोगों की ओर मोड़ देता है, जो उससे असंतुष्ट हैं और इस प्रकार उसी सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करता है। इस तरह सभी समस्याएँ, अपने मूल में सामाजिक या राजनीतिक होने के बदले, मनोवैज्ञानिक हो जाती हैं।

सत्ता, इस मामले में, निरोध के बजाय, जिसे कहा जाए 'बाधा' या हस्तक्षेप के जरिए काम करती है। परंतु, निरोध की तरह, बाधा व्यक्ति के विकल्पों को सीमित करने का काम भी करती है।

किसी को मनोवैज्ञानिक जीव बनाने में बाधाएँ, एक विशिष्ट 'समरूपता' का सृजन करती हैं और सामाजिक प्रतिरोधों की संभावनाओं या जीने के अन्य रूपों के साथ, प्रयोगों को भोथरा बनाती हैं। इसके अलावा, बाधाएँ, निरोधों की तुलना में, कहीं अधिक प्रभावी होती हैं। जब किसी

को रोका जाता है, तो वह निषिद्ध की 'कामना' फिर भी करता है। परंतु, जब कोई बाधित है, तो उसे वही इच्छा करने के लिए ढाला जाता है, जो इच्छा सत्ता की दृष्टि में करने के लिए उपयुक्त है। कोई व्यक्ति, न केवल, जो वह चाहता है, उसे प्राप्त करने से अवरुद्ध है, बल्कि वह प्रस्तुत किए गए, सामाजिक विकल्पों के अलावा के अन्य विकल्पों पर विचार ही नहीं करता।

ऐसे में यह प्रश्न उठ सकता है और समाजशास्त्रीय दृष्टि वाले लोग उठाते भी रहे हैं कि इस सबका स्वतंत्रता से क्या लेना देना है? 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' की अवधारणा को याद कीजिये। अगर हम 'आध्यात्मिक' रूप से स्वतंत्र हैं तो हम अपने विचारों और या व्यवहार का नियंत्रण, हम स्वयं कर सकते हैं। हम किसी बाहरी शक्ति या व्यक्ति द्वारा नियंत्रित नहीं हैं। फूको जिसका 'डिसिप्लिन एंड पनिश' में वर्णन करते हैं, वह एक बाह्य शक्ति है, जो हमारे सोचने, हमारे कार्य करने, और 'हम जो हैं', उसको प्रभावित करता है– कम से कम हमारे इतिहास के, इस खास बिन्दु पर।

फूको, जिन शक्तियों के बारे में कहते हैं और जो ताकतें 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' से वास्ता रखती हैं, उनके बीच, अंतर यह है कि फूको की शक्तियाँ, 'आध्यात्मिक' होने के बदले, बहुत साफ तौर पर ऐतिहासिक हैं। फूको, मानव के 'विचार' और 'व्यवहार' को अनिवार्यतः नियंत्रित करने वाली, उन शक्तियों के प्रकार (ईश्वर, परिवेश, जीन्स) का वर्णन नहीं करते हैं। फूको, ऐतिहासिक रूप से, 'अप्रत्याशितता' से बने अभ्यासों के समूह को दर्शाते हैं, जो हमारे व्यवहार पर, इस विशिष्ट कालखंड में प्रभावी हैं। इसके कारण, यह मानने का कोई आधार नहीं है कि अगर हम हमारी ऐतिहासिक विरासत समझें, तो हम उसे बदल नहीं सकते। अर्थात, वे दृष्टि में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को बहुत निर्णायक मानते हैं।

इसीलिए, फूको उपर्युक्त कथन में कहते हैं कि 'कई चीजें बदली जा सकती हैं।' उनका यह मत, जो उन्होंने ज्ञानोदय के युग से विरासत में पाया है, और जिसे बहुतेरे लोग, उन्हें उसे यह कह कर खारिज करते हुए कहते हैं–– 'अगर हम हमारी स्थिति को समझते हैं तो हमारे पास इसे बदलने का मौका है।'

यह परिप्रेक्ष्य अंतर्निहित रूप से, 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' के विचार को अंगीकार करता है, यद्यपि यह न तो उसके पक्ष में तर्क प्रस्तुत करता है, और न ही इसके विशिष्ट चरित्र या सीमाओं को स्थापित करता है। हम इस विचार को देख सकते हैं, जब फूको लिखते हैं :

'हमें यह जरूर देखना चाहिए कि अगर जनता स्वतंत्र नहीं है तो सत्ता के संबंध नहीं हो सकते। इन दोनों में से कोई भी, अगर पूर्णतः दूसरे के नियंत्रण में है और उसके अधीनस्थ है, वह कर्ता बन गया है, जिस पर वह अनंत और अपरिमित हिंसा कर सकता है, तो सत्ता के संबंध नहीं होंगे। अतः सत्ता के संबंधों का उपभोग करने के लिए दोनों तरफ किसी भी किस्म की स्वतंत्रता जरूरी है। (1994/12)

बहरहाल, प्रस्तुत पाठ को विवेचित करते हुए, जैसा कि सहज ही देखा जा सकता है, फूको का स्वतंत्रता के प्रति यह दृष्टिकोण कि 'स्वतंत्रता', वह कुछ है, जिसका हमारे वर्तमान को परिवर्तित करने से संबंध है, एक सुनिश्चित राजनीतिक रुझान लिए हुए है। फिर यह प्रश्न उठता है कि इस विचार का राजनीतिक स्वतंत्रता से क्या संबंध है? राजनीतिक स्वतंत्रता, अगर

हम याद करें, तो उन स्वच्छंदताओं का मुद्दा है, जो हमें किसी 'समाज–विशेष' या सामाजिक व्यवस्था विशेष में उपलब्ध हैं। पहली नजर में, यह कहा जा सकता है कि फूको उन तरीकों का वर्णन कर रहे हैं, जिनसे समाज विशेष और सामाजिक व्यवस्थाएँ, स्वच्छंदताओं का अतिक्रमण करती हैं तो यह कहना पूरी तरह गलत नहीं होगा। फूको, उन तरीकों का भी वर्णन करते हैं, जिनसे जीवन जीने के वैकल्पिक तरीके बाधित हैं। जिन तरीकों से हमें बनाया जाता है और जैसे हमें अपने बारे में सोचने के लिए बाध्य किया जाता है। हालाँकि, इस तरह चीजों को प्रस्तुत करना भ्रामक है। यह सत्ता और स्वतंत्रता के प्रारूप का पूर्वानुमान करता हुआ, पूर्व–प्रस्तावित जान पड़ता है। परंतु यह फूको का प्रारूप नहीं है। यह देखने के लिए हमें थोड़ा समय, उस प्रारूप के विवेचन में लगेगा।

पारंपरिक उदार राजनीतिक सिद्धान्त में, 'राज्य की सत्ता' और 'व्यक्ति की स्वतंत्रता' के बीच एक द्वंद्व है, जिसे संतुलित किया जाना चाहिए। अगर 'राज्य' के पास बहुत ज्यादा अधिकार हैं तो वह व्यक्ति के अपने जीवन को 'जैसा वह चाहे वैसा' बनाने के अधिकार की अनुचित रूप से कटौत्री करता है, अर्थात् वांछित जीवन शैली के चयन को खारिज करता है। वहीं दूसरी ओर, अगर स्वतंत्रता अपरिबद्ध है, तो लोग 'खुद अपनी चुनी हुई जीवन–शैली' की खोज के, एक दूसरे के अधिकार में, हस्तक्षेप कर सकते हैं। इसीलिए, उदार राजनीतिक सिद्धान्त की भूमिका, 'राज्य सत्ता' और 'स्वतंत्रता' के बीच, सही संतुलन बनाने की है, और वही संतुलन बेहतर होगा, जो इन दोनों अतियों से बच कर रहे। (उदार राजनीतिक सिद्धान्त की बहुतेरी जिम्मेदारियाँ और भी हैं, परन्तु हम यहाँ सिर्फ उसकी 'राजनीतिक स्वतंत्रता' में भूमिका को देख रहे हैं।) इस दृष्टिकोण पर कि 'राज्य सत्ता' व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर थोपा गया एक बाहरी निरोध है। अब प्रश्न यह है कि इसे कितना और कहाँ पर लागू किया जाना चाहिए?

यह सत्ता का नकारात्मक, निरोधक नजरिया है। जैसा कि हमने पहले देखा है, फूको का सत्ता का'डिसिप्लिन एंड पनिश'और अन्यत्र विवेचन सत्ता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं है। यह सुनिश्चित करना जरूरी है कि फूको नकारात्मक सत्ता के अस्तित्व को नहीं नकारते हैं, विशेषकर राज्य के स्तर पर। हालाँकि, उनके विचार में, जिस तरीके से सत्ता काम करती है, वह राज्य और उसके विविध दमनकारी तंत्रों के स्तर के बदले, उसे यथार्थ के निकट लाती है। वह हमारे दैनंदिन के जीवन में बसती है, हमें विशिष्ट प्रकार के आज्ञाकारी व्यक्तियों में ढाल देती है।

जिस हद तक फूको का लेखन, सत्ता की कार्यप्रणाली को पकड़ता है, हमें स्वतंत्रता के पारंपरिक उदार दृष्टिकोण में संशोधन करना होगा। यह सिर्फ किन क्रियाओं पर कितना निषेध लगाये जाने का मुद्दा नहीं हो सकता। मुद्दा यह भी है कि हम 'जो हैं' वह हम कैसे बनें और हम उसके बारे में, क्या कर सकते हैं। इसलिए, राजनीतिक स्वतंत्रता, सिर्फ हमें अपनी स्वेच्छानुसार करने के लिए छोड़ दिये जाने का मुद्दा ही नहीं है। इस के साथ ही, और अधिक सूक्ष्म रूप में, मुद्दा यह समझने का भी है कि हम किस तरह ढाले गए हैं ताकि हमें कुछ चीजें पसंद आएँ और कुछ बिलकुल ही नापसंद। और इसके अलावा, मुद्दा यह समझने का भी है कि 'हमें क्या उपलब्ध है?' हम इस सब को, यह कह कर एक स्पष्ट रूपरेखा में डाल सकते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता, इसी बात से सरोकार नहीं रखती है कि हम 'किससे स्वतंत्र हैं', किंतु ज्यादा सार्थक रूप में, इससे सरोकार रखती है कि मौजूदा बाधाओं के साथ, हम किसके लिए स्वतंत्र हैं।

फूको इस विचार को निम्नलिखित उल्लेख में पकड़ते हैं। यह उद्धरण, हमें फूको की स्वतन्त्रता की अवधारणा को गहराई में समझने में मदद करेगा :

'मैं वर्तमान की प्रकृति के विषय में किसी भी निदान के दायित्वों के बारे में कुछ कहना चाहूँगा। यह 'हम क्या हैं' के सरल चित्रण में निहित नहीं है, बजाय इसके– वर्तमान में परिलक्षित भंगुरता की सीमा रेखाओं का अनुसरण करते हुए– यह समझने की कोशिश करते हुए कि 'क्यों और कैसे' कि– 'जो–है', वह, अब और 'जो–है' नहीं रह सकता। इस अभिप्राय में, कोई भी विवरण हमेशा, इस प्रकार की अप्रत्यक्ष दरारों के अनुरूप किए जाने चाहिए जो कि मूर्त स्वतंत्रता की जगह बनाती हैं यानी कि संभावित परिवर्तन के लिए एक अनाक्रमित 'स्पेस'। (1990／36)

हम यहाँ पर, उन विषय वस्तुओं को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, जो हमने फूको के स्वतंत्रता के प्रति दृष्टिकोण में से अलग की हैं, ऐतिहासिक विषयों के रूप में बाधाएँ, उन बाधाओं की आकस्मिकता, और अमूर्त के बजाय मूर्त स्वतंत्रता। इसके अलावा, इस वाक्य 'संभावित परिवर्तन की एक जगह' के इस्तेमाल में, फूको इस विचार को पकड़ते हैं कि स्वतंत्रता, सिर्फ अकेले छोड़ दिये जाने भर का विषय नहीं है, बल्कि यह हम 'जो होना चाहते हैं', उसमें 'आत्म' के 'पुनर्गठन' का विषय भी है, किसी के लिए स्वतंत्रता, न सिर्फ किसी से स्वतंत्रता। इसी उल्लेख के आधार पर, हम फूको की 'स्वतंत्रता' की अवधारणा को, जो हम विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के मापदंडों के भीतर, स्वयं के गठन के लिए कर सकते हैं, के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

अगर हम स्वतंत्रता को, इस तरह परिभाषित करते हैं, तो हमें स्वतंत्रता की इस परिभाषा को सही तरीके से समझने के लिए पर्याप्त चेतस रहना होगा। पहले, हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति में, पहले से दी गई चीजों का एक समूह है, जो हम 'आत्म की निर्मिति' के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं। ऐसा नहीं है कि यहाँ ऐसा कुछ है, जिसे हम, जो हम बनते हैं उसका 'सत्य' कह सकते हैं, और जब एक बार हम अपनी ऐतिहासिक परिस्थिति को समझ जाते हैं, तब हम उस सत्य को खोज सकते हैं। इस तरह का दृष्टिकोण, फूको के स्वयं के उन पहलुओं के ऐतिहासिकीकरण की परियोजना का उल्लंघन करेगा, जिन्हें हम अपरिवर्तनीय या स्थायी मानते हैं। यह हमारी संभावनाओं को मूर्त रूप में देखेगा जो कि यथार्थ में एक अस्थायी ऐतिहासिक परिस्थिति है।

दूसरे, और इससे सम्बद्ध, हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि हम हमारी ऐतिहासिक परिस्थिति को पूर्णरूपेण समझ सकते हैं। अगर, 'जो हम हैं' वह अभ्यासों की जटिल परस्परिक क्रियाओं का उत्पाद है, तब कम से कम, जो शक्तियाँ हमें रूप देती हैं, उनके आयाम संभवतः, हमारी समझ से परे हैं। 'डिसिप्लिन एंड पनिश', उदाहरण के लिए, 'हम जो हैं' उसकी समग्रता का लेखा नहीं है। यह 'हम जो हैं' उसके सिर्फ एक पहलू का विवरण है। 'हिस्ट्री ऑफ सेक्सुआलिटी' का पहला खंड दूसरा पहलू है, और शासनात्मकता पर फूको ने, जो व्याख्यान श्रृंखला दी थी, वह तीसरा पहलू। साथ ही साथ, 'जो हम हैं', वह हमारी अभ्यासों की निरंतरता के साथ बदलता रहता है। इसलिए, किसी एक क्षण में, 'हम जो हैं' यह पकड़ना और भी कठिन हो जाता है। हम हमेशा, 'हम जो अभी थे' को समझने के जोखिम में रहते हैं, बजाय 'जो हम अभी हैं', अर्थात् 'वयमबोध' की वर्तमान अवस्थिति।

इसका निष्कर्ष यह है कि, फूको के लिए, 'स्वतंत्रता' एक प्रकार से प्रयोग का विषय है। 'मूर्त स्वतंत्रता की जगह'का आशय यह अंदाज लगाना नहीं है कि 'हम क्या हो सकते हैं' और फिर उस लक्ष्य की तरफ अग्रसर होना। वस्तुतः उसका अभिप्राय तो है, हमारे जीवन के लिए बहुतेरी अलग अलग संभावनाओं को, कई विभिन्न 'संभावित परिवर्तनों' को, यह देखने के लिए खंगालना कि वे हमें कहाँ ले जाते हैं। स्वतंत्र जीना यानी स्वयं के साथ प्रयोग करना है, और हमेशा, इस स्थिति से नितांत अनभिज्ञ रहते हुए कि चाहे 'हम' अपने को गढ़ने वाली शक्तियों से मुक्त हुए हों या नहीं, और न ही (और हम कुछ क्षणों में इस पर वापस आयेंगे) उन स्वतंत्र जीवन के प्रयोगों के प्रभावों के बारे में सुनिश्चित होना। यह एक अनिश्चितता की जगह से, 'कैसे होने के लिए' गढ़े जाने के, सीमित या अल्पज्ञान के साथ जीवन बनाये जाने की कोशिश है।

तो कुल मिलाकर हमारी स्थिति फिर यह है कि अगर हम इतिवृत्तांतों की निर्मिति करते हैं जैसा कि फूको ने किया, और महा आख्यानों की निर्मिति करते हैं, जो हमें, उन शक्तियों के विभिन्न पहलुओं का लेखा देते हैं, जिन्होंने हमारे 'बन चुकने' पर अपना प्रभाव डाला है, तब हमें 'हम ऐसे कैसे बने' इसका मात्र आंशिक ज्ञान होता है। यहाँ से, हम यह निर्णय ले सकते हैं कि उन शक्तियों में से, कौन सी वे शक्तियाँ हैं,जो हमें स्वीकार्य हैं, और कौन सी, अगर फूको की शब्दावली का इस्तेमाल करें तो, जो असह्य या अस्वीकार्य हैं। (फूको के इतिवृत्तांत सिर्फ अस्वीकार्य शक्तियों का लेखा ही देते हैं, क्योंकि सबसे अधिक परिवर्तित हो जाने की संभावना हम उन्हीं की रखते हैं।) इन अस्वीकार्य शक्तियों से पार पाने की कोशिश में, हमें 'हम क्या बन जाएँ' के साथ प्रयोग करना होगा, इसको समग्रता में न जानते हुए कि वास्तव में हम उन शक्तियों से पलायन कर रहे हैं या नहीं। यह हम सिर्फ अपने प्रयोगों के व्यवहार में समाहित हो जाने के बाद ही जान सकते हैं। हम तब, 'अपने को गढ़ने वाली शक्तियों' के समक्ष न तो बेबस हैं और न ही निश्चित कि हम इसके बारे 'क्या और कैसे' में कर सकते हैं। हम कहीं बीच में हैं। उसी में हमारी स्वतंत्रता निहित है और वास्तव में वही हमारी 'स्वतंत्र' स्थिति भी है।

चूँकि हम अपने प्रयोगों के परिणामों के बारे में अनिश्चितता से भरे हैं, इसलिए, हमें हमेशा सतर्क रहना होगा। चूँकि हम, यह पहले से नहीं जानते कि हमारे प्रयोग, हमें कहाँ और किस दिशा में ले जाएँगे। बहुत संभव है, हम या तो उन असह्य शक्तियों का पुनर्सृजन कर बैठें या नई शक्तियाँ खड़ी कर लें। इसलिए, हम इस तरह के इतिवृत्तान्तों से पीछे नहीं हट सकते, जिस प्रकार के इतिवृत्तान्तों में फूको संलग्न हैं, और न ही हम फूको के इतिवृत्तान्तों से संतुष्ट रह सकते हैं। हमारे 'होने का' इतिवृत्तान्त एक असमाप्त परियोजना है। दूसरे शब्दों में कहें तो, हमारी 'स्वतंत्रता' के परिणाम उतने ही अनिश्चित हैं, जितनी कि हमारी स्वतंत्रता खुद। हमें कभी भी यह नहीं मान लेना चाहिए कि 'संभावित परिवर्तन की जगह' का हमारा इस्तेमाल, हमें हमेशा बेहतर स्थिति में ही ले जाएगा। स्वतंत्रता अपनी आत्यन्तिकता में भी मुक्ति का पर्याय कतई नहीं है। हमारी स्वतंत्रता, हमें मुक्त कर देने वाली है या नहीं इसका आश्वासन हमें नहीं दिया गया है। वहाँ सिर्फ प्रयोगों और इतिहास–सजग चिंतन के द्वारा ही वहाँ पहुँचा जा सकता है।

आइए अब जरा, फूको की स्वतंत्रता की अवधारणा को बेहतर समझने के लिए फूको के विचारों को, फूको की पूर्ववर्ती पीढ़ी के एक फ्रांसीसी दार्शनिक के विचारों के बरक्स रख कर देखें। मुमकिन है कि यह देखना सहायक हो सकता है। मौरीस मर्लो–पॉन्टी की भी 'स्थापित

स्वतंत्रता' के बारे में अपनी अवधारणा है, जिसमें हम 'स्वतंत्र' हैं, पर पूर्णरूपेण स्वतंत्र कतई नहीं हैं। इन दो अवधारणाओं के बीच के अंतर्विरोधों को देख कर, हम फूको के दृष्टिकोण पर अपनी पकड़ को काफी मजबूत कर सकते हैं।

मर्लो–पॉन्टी अपनी 'स्वतंत्रता' की अवधारणा, अपने समकालीन विचारक ज्यां पॉल सार्त्र के विपरीत खड़ी करते हैं। सार्त्र का 'स्वतंत्रता' के प्रति दृष्टिकोण सर्वविदित ही है कि हम मूलतः आध्यात्मिक अर्थों में स्वतंत्र हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो हमारे निर्णय के सामर्थ्य से बाहर है। सार्त्र, अपने शुरू के लेखन में, मनोविश्लेषणात्मक अचेतन या अप्रकट ऐतिहासिक शक्तियाँ, जो हमें गढ़ती हैं, की तमाम धारणाओं को रद्द करते हैं। वे विशुद्ध अस्तित्ववादी रीति में, मानते हैं कि हमारे सारे 'चयन' केवल हमारे अपने हैं और हमें उनके लिए, अपने पर पूरी जिम्मेदारी लेनी चाहिए। मर्लो–पॉन्टी, स्वतंत्रता के इस मौलिक दृष्टिकोण को अंगीकार नहीं करते हैं। मर्लो–पॉन्टी के लिए, एक शक्ति जिस पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है और जो हमें बनाती है, वह है, शरीर। दैहिकता– जिसे समझना मर्लो–पॉन्टी की केन्द्रीय परियोजना है– जो अनुभूति के द्वारा, हमें संसार से हमारे पहले अनुभव और संसार की समझ देती है। जीवित देह, बजाय एक जड़ पदार्थ होने के, जिसमें से संवेदनाएँ गुजरती हों, जगत से हमारे प्राथमिक विनियोजन का स्रोत है। हम उस विनियोजन में रद्दोबदल कर सकते हैं, पर हमारा मूर्त रूप, यह सुनिश्चित करता है कि हमारे जीने के कुछ पहलू होंगे, जिन पर हमारा संपूर्ण नियंत्रण न हो। हमारे जीवन का एक अचेतन आयाम है, जो हमसे अप्रकट रहेगा, वह आयाम, जो जगत से हमारे दैहिक अंतरक्रिया के माध्यम से चलता है। इसके अलावा, जैसा कि मर्लो–पॉन्टी इंगित करते हैं, इस अंतरक्रिया का वर्णन, 'शरीर जो जगत से अंतरक्रिया करता है', के रूप में करना ठीक नहीं है। यह इस से कहीं ज्यादा अंतरंग और गूढ़ है। यह अन्तरक्रिया देह जगत संकुल के रूप में बेहतर चित्रित होती है।

यह स्थिति स्वतंत्रता के अपेक्षया एक कम उग्र दृष्टिकोण की ओर लेकर जाती है जो कि सार्त्र के दृष्टिकोण की तुलना में और भी अल्प है। सार्त्र के लिए, देह सिर्फ एक जड़ वस्तु है, जो चेतना के द्वारा संचालित है। अगर चेतना अबाधित है, तो चेतना की स्वतंत्रता असीमित होगी। सार्त्र, बेशक, यह स्वीकारते हैं कि चेतना किसी रूप में देहबद्ध तो है ही, अतः अगर कोई उन्मुक्त हो कर यह निर्णय ले कि 'वह उड़ना चाहता है', इसका यह मतलब नहीं कि 'वह सचमुच ही उड़ सकता है'। परन्तु, यह निर्णय अपने आप में मूल रूप से स्वतंत्र है। मर्लो–पॉन्टी का दैहिकता का विश्लेषण, सार्त्र के मस्तिष्क और शरीर के मूलभूत भेद को मिटा देता है। जैसा कि मर्लो–पॉन्टी दर्शाते हैं, व्यक्ति की 'देह' सचेतन चिंतन के पहले ही, बोधात्मक व्याख्या में संलग्न हो जाती है। वे अपनी बात रखने के लिए दृष्टि भ्रमों का उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि दृष्टि भ्रम पहले ही 'कुछ है' की तरह दृश्यगोचर होते हैं, और सचेतन चिंतन ही उन्हें बाद में ठीक करने की कोशिश करता है। अगर यह सत्य है, तब कोई मूलभूत स्वतंत्रता नहीं है। देहबद्ध प्राणी अपने देह जगत विनियोजन से बाधित है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम उस विनियोजन पर चिंतन नहीं कर सकते। पर, देहबद्ध होने से वह स्वतः ही होता है।

उस चिंतन और व्यक्ति के व्यवहार की स्वतंत्रता, मर्लो–पॉन्टी और जैसा कि फूको के लिए भी, यह एक प्रकार की स्थितिमूलक स्वतंत्रता है :

हम अपने जगत को चुनते हैं और जगत हमें चुनता है... स्वतंत्रता हमेशा अंतर और बाह्य का मिलन है... और वह पूर्णरूपेण अदृश्य हुए बिना, हमारे जीवन के दैहिक और संस्थानिक आंकड़ों की अनुमति से कमतर होती हुई, सहिष्णुता के सीधे अनुपात में सीमित होती चली जाती है।(मर्लो–पॉन्टी 1962 / 454)

हमारी स्वतंत्रता हमारे भीतर है और उन प्रतिबंधनों के चलते, जिन्हें हमारी देह और हमारे जगत ने नियत किया है। वे बाधाएँ कार्य के लिए लघुत्तर या वृहत्तर जगह की अनुमति देती हैं। अर्थात् वृहत्तर या लघुत्तर सहिष्णुता। पर देह और ऐतिहासिक रूप से दिये गए संस्थागत ढांचों के बिना, कोई स्वतंत्रता नहीं होगी, क्योंकि ऐसा कुछ नहीं होगा (यानी देह) जिसके द्वारा, वह अभिनीत हो सके और आस पास कुछ नहीं होगा (यानी जगत) जिससे वह संबंध रख सके।

कुछ विवेच्य कोणों में, मर्लो–पॉन्टी की स्थिति मूलक स्वतंत्रता की अवधारणा फूको की अवधारणा से काफी मिलती जुलती है। दोनों ही देहबद्धता का महत्त्व स्वीकारते हैं और वे देह का जगत और उसके अभ्यासों से खुलाव भी पहचानते हैं। इसके साथ ही, इन दोनों अवधारणाओं में, वह मुक्तता व्यक्ति की स्वतंत्रता के परिसीमन से जुड़ती है। जो इन्हें अलग करता है वह है, सिर्फ विश्लेषण का स्तर, जिन पर ये स्वीकारोक्तियां आश्रित हैं। मर्लो–पॉन्टी की स्थितिमूलक स्वतंत्रता, आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। वे मानव देह और जगत के साथ, उसके गूँथने का एक व्यापक दार्शनिक लेखा प्रस्तुत करते हैं। वह लेखा दर्शाता है कि किस तरह मस्तिष्क और देह और साथ ही साथ देह और जगत, एकल समष्टि बनाते हैं। इससे, वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि, सार्त्र के उलट, सारी मानव स्वतंत्रता स्थितिमूलक ही होनी चाहिए। कहीं कोई मूलभूत स्वतंत्रता नहीं है, क्योंकि हमारे होने का ऐसा कोई भी पहलू नहीं है, जो इस जगत की चतुर्दिकता से बाहर हो। सारी स्वतंत्रता, एक देहबद्ध चेतना की स्वतंत्रता है, जो इस जगत और उसके इतिहास में सन्निहित है।

फूको को, इसमें से कुछ भी नकारने की जरूरत नहीं है। और ना ही उन्हें इसे अंगीकार करने की आवश्यकता है। उनकी पहुँच, एक दूसरे रास्ते से आती है। उनका प्रश्न मानवीय स्वतंत्रता की प्रकृति का आध्यात्मिक प्रश्न नहीं है। बल्कि, उनका प्रश्न राजनीतिक है कि विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों, यानी हमारी ऐतिहासिक परिस्थितियों के अंतर्गत, हमें कौन सी स्वतंत्रताएँ उपलब्ध हैं। जिस स्थितिमूलक स्वतंत्रता के बारे में फूको उत्सुक हैं, वह जगत में स्थापित देह की स्वतंत्रता नहीं है, वह हमारी स्थिति की स्वतंत्रता है। उपरोक्त दिये गए उल्लेख में, फूको इस बात पर बल देते हैं कि वर्तमान की प्रकृति का निरूपण, वर्तमान की व्याख्या, इस तरह से करे कि उसकी भंगुरता और उसका ध्वंस गोचर हो। वर्तमान की भंगुरता इसलिए नहीं है, क्योंकि मनुष्यों के पास आध्यात्मिक स्वतंत्रता है, पर, जैसा कि हमने पहले देखा, फूको किसी प्रकार की आध्यात्मिक स्वतंत्रता मान कर चलते हैं। वह इतिहास के अप्रत्याशित से बने ढांचे के कारण है।

इतिहास कभी पहले से दिये हुए या अंतर्जात ढांचे के कारण नहीं घटता है। वह चतुर्दिक फैले हुए अभ्यासों के आपस में प्रभाव और आकस्मिक अन्तरक्रिया का उत्पाद है और वह किसी अंतर्जात प्रतिमान के अनुरूप नहीं होता है। (इसका यह मतलब नहीं है कि इतिहास में प्रतिमान नहीं खोजे जा सकते, इसका मतलब यह है कि हम उन्हें तभी देख सकते हैं, जब उन प्रतिमानों

ने अप्रत्याशित से बने अभ्यासों के अंतरसंबंध से, अपना निर्माण कर लिया होता है।) स्थितिमूलक स्वतंत्रता, इतिहास की इसी अप्रत्याशितता से बने होने की उपज है। अतः व्यक्ति की, उसकी स्वतंत्रता 'कौन सी है' और उसकी स्वतंत्रता 'कहाँ है', का आध्यात्मिक प्रश्न नहीं है, बजाय इसके यह प्रश्न है कि व्यक्ति के विशिष्ट इतिहास ने उसे कहाँ रख छोड़ा है, और किस तरह उस इतिहास में हस्तक्षेप हुआ है? फूको के लिए, संक्षेप में, स्थितिमूलक स्वतंत्रता, आध्यात्मिक होने के बदले, ऐतिहासिक और राजनीतिक अवधारणा है।

स्वतंत्रता के प्रति फूको का दृष्टिकोण, फिर, उनके काम के दूसरे बहुतेरे पहलुओं के मानिंद, एक साथ 'ऐतिहासिक' और 'दार्शनिक' दोनों है।

फूको का यह दृष्टिकोण, दर्शनोन्मुखी अवधारणा होने के कारण, यह इतिहास को दूसरे इतिहासविदों के सामर्थ्य से बाहर, अपेक्षया, एक अधिक परिष्कृत दिशा में ले जाता है। ऐतिहासिक रुझान वाली अवधारणा होने के कारण, यह पारंपरिक दार्शनिक विश्लेषणों के प्रश्न उठता है। फूको का लेखन, इन दोनों अक्षों के, जो कि एक दूसरे से सतत संवाद में हैं, समानांतर पढ़े जाने की मांग करता है। अगर हम, अपने आप को इस द्विस्तरीय बहस में शामिल होने की अनुमति दें, तो हम न केवल हमारे विशिष्ट दार्शनिक रुझान वाले दृष्टिकोण, जिससे हम दुनिया देखते हैं, के प्रति सजग हो जाएंगे, बल्कि उस दृष्टिकोण के ऐतिहासिक रूप से, जो कि अप्रत्याशित से बना है और जिसकी प्रकृति है, के प्रति भी सजग हो जाएंगे। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो, कहना होगा कि, हम इसी तरह यह अनुभव करें कि हम, शायद हमारी स्वतंत्रता के आमने सामने आ पहुँचें।

मिहाएला मेरल अहमद

उत्तर आधुनिकतावाद दार्शनिक आख्यान : मिशेल फूको और जॉक देरीदा

इस विशिष्ट अध्ययन में हम, मिशेल फूको और जॉक देरिदा की भाषा से संबन्धित उत्तर आधुनिक चिंतन की उन ऐतिहासिक पुनर्स्थापनाओं का हम विश्लेषण करेंगे। मिशेल फूको भाषा और सत्ता और यथार्थ के अंतरसंबंध को विश्लेषित करते हैं, वहीं दूसरी ओर जॉक देरीदा, भाषा और 'पाठ' के अंतरसंबंध को विश्लेषित करते है। यहाँ यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि इस अध्ययन में उत्तर आधुनिक साहित्य ही, वह दायरा है, जिसमें इस सिद्धांत की रोशनी में ही, समालोचनाएं सामने आएंगी जिनमें, समीक्षात्मक–प्रज्ञा सक्रिय रह कर, तर्क के जटिल रूप को, विवेचित करती है।

मिशेल फूको, सत्ता की प्रकृति और उसके कार्य और व्यवहार की शैली को विवेचन के उपकरणों से आलचाल करते हैं, और पाते हैं कि सत्ता अपनी आत्यंतिकता में किस तरह से 'ज्ञान' तथा उससे संबंध और अंतर्निहित को, 'सामाजिक–नियंत्रण' के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करती है। क्योंकि, जो मनुष्य की 'आवयविकता' या शरीर से संबन्धित है, वही सत्ता की कामना के केंद्र के इर्द–गिर्द, ज्ञान का आवरण चढ़ा कर, उसे और अधिक 'समवेत' सत्ता में बदलती है। उन्होंने, अपने सामाजिक संस्था के आलोचनात्मक अध्ययन में, खास तौर पर, मनःचिकित्साशास्त्र, औषध विज्ञान, मानविकी तथा कारागार के अतिरिक्त

मनुष्य के यौन व्यवहार के विभिन्न पक्षों को समाहित किया है। ज्ञान की इस 'जीनियोलोजी' को रूपायित करने में निर्विवाद रूप से, जिस दार्शनिक से उन्होंने सर्वाधिक प्रबल प्रभाव ग्रहण किया है, वह है बीसवीं सदी के सर्वाधिक प्रखर दार्शनिक फ्रेड्रिक नीत्शे।

मिशेल फूको के लेखन की केंद्रीय निष्पत्ति यही है कि वे 'ज्ञान' और 'सत्ता' के बीच चतुर्दिक फैले सूक्ष्मतम सूत्रों को पकड़कर, उस आवरण को उतार सकें जिसके चलते वे दर्शन की दुनिया में दुःसाध्य बनकर, लगभग एक अबूझ–सी पहेली की तरह बन गए हैं। वे स्थापना देते हैं कि 'सामाजिक वर्चस्व' और 'ज्ञान की प्रविधि' के बीच, एक गहन लेकिन अप्रकट अंतरसंबंध है जिसके कि बहुतेरे आयाम हैं। फूको ज्ञान की विभिन्न प्रविधियाँ, सामाजिक नियंत्रण की तकनीकों और अभ्यासों का 'संहिताकरण' करते हुए, नियंत्रण की प्रकृति को उद्‌घाटित करते हैं। उदाहरणार्थ, कारागार, पागलखाना, विश्वविद्यालय, अस्पताल इत्यादि वे संस्थाएं हैं जिनमें 'सत्ता' विभिन्न भागों और क्षेत्रों में फैली हुई है। हम इनको समझने के लिए कोई सामान्य–सिद्धांतिकी ईजाद नहीं कर सकते, जो इनके मध्य और इनके भीतर के सत्ता के अंतर्संघर्षों को पूरी तरह बता सके।

हालाँकि, लेखक की मृत्यु जैसे जटिल मुद्दे को मिशेल फूको ने जितने तीक्ष्ण और सूक्ष्म विवेचन से, और लगभग एक विस्फोटक ढंग से प्रकट किया है, वह अन्य किसी विचारक ने, जो उत्तर आधुनिक विचारक के रूप में चिह्नित और स्वीकृति भी रहे हैं, ने नहीं किया है।

फूको, पुस्तक को एक 'ऑब्जेक्ट' की तरह देखते हैं, अर्थात साहित्य की एक 'जगह'। प्रकारांतर से एक 'ऑब्जेक्ट' के रूप में, पुस्तक की प्रतिष्ठा को वे व्याख्यायित करते हैं, तो साहित्य की विशिष्टता के रूप में ही, और पुस्तक का एक 'नियत स्थान' निर्धारण भी वह उसी अवधारणा के आश्रय से करते हैं। मिशेल फूको अवकाश (स्पेस) की अवधारणा को, स्पष्टतः इमैनुअल कांट के दार्शनिक चिंतन से ही प्रभावित होकर, अपनी व्याख्याओं के उपकरण के बतौर लाते हैं। क्योंकि, इमैनुअल कांट की दर्शन के क्षेत्र में यदि कोई महानतम उपलब्धि कही जा सकती है तो निःसन्देह, वह है, मानव तर्क के, शुद्ध–बुद्धि विवेक और न्यायिक संकाय में विभक्तिकरण का।

यह मनुष्य की बौद्धिक योग्यता का वह प्रादर्श है, जिसके चलते 'ज्ञान' का उपयोग जीवन और समाज के क्षेत्रों में संभव बनता है। यह भी त्रिस्तरीय वर्गीकरण है– सूचनाओं का परिवेश से संकलन, सूचनाओं को अवधारणा के रूप में व्यवस्थित करना, और 'विचार' का विस्तार करना। प्रथम स्तर है, मस्तिष्क अंतःबोध से सूचनाओं को ग्रहण करता है, फिर उसको बाह्य चेतना (स्पेस) से भी सुस्पष्ट ढंग से संबंधित करता है। हम किसी भी 'ऑब्जेक्ट' को तब तक ग्रहण ग्रहण नहीं कर सकते जब तक कि उनकी, स्पेस में होने की आंतरिकता को हम यथेष्ट ढंग से चिह्नित न कर सकें। हम 'ऑब्जेक्ट' को 'काल' के संदर्भ के बिना भी ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि 'काल' की अनुपस्थिति में हम गति और क्रोनोलोजी को भी नहीं समझ पाएंगे। मिशेल फूको का कहना यह है कि चूँकि इमैनुअल कांट के दार्शनिक विवेचन ने 'काल' की समस्या को हमेशा के लिए स्पष्ट कर दिया था, कदाचित इरादतन लेकिन उन्होंने यह किया 'स्पेस' की समस्या की अवहेलना करते हुए। चूँकि, कुछ अन्य महान दार्शनिकों मसलन, हेनरी

बर्गसां, हेगेल, मार्टिन हाइडेगर आदि ने मनुष्य के अस्तित्व को 'काल' के विशिष्ट संबंध के अंतर्गत केंद्रित कर लिया था।

अतः, मिशेल फूको, पाठ को 'स्पेस' के साहचर्य और 'स्पेस' के संबंध में ही रखते हैं। वे नैरेटिव (बखान) को मृत्यु के अवकाश की तरह विश्लेषित करते हैं, लेकिन पूरी तरह मृत्यु के विरुद्ध अभिमुखी होकर। इसके लिए स्पष्टीकरण यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क के भीतर मृत्यु की झलक, एक व्योम को उत्कीर्ण करती है, वही बोलने के लिए उकसाती भी है। हम जीवित हैं, यह जनचेतना में प्रमाणित करने के लिए हम बोलते हैं। हम लिखते हैं, इस उम्मीद से कि हम मृत्यु के बाद में लोगों की स्मृति में जीवित रह जाएंगे। और अगर यदि हम पढ़े जा रहे हैं, यदि हमने यश अर्जित कर लिया है, तो निश्चय ही हमारा स्मरण किया जाएगा, हम विस्मृत नहीं होंगे। यह मृत्यु की अनिवार्यता का अतिक्रमण है, क्योंकि यह काया से इतर एक 'यश–काया' का निर्माण करता है। जबकि उत्तर आधुनिकतावादी मनुष्य यह सुस्पष्टतया जानता है कि इस वक्त में, जिस में हम जी रहे हैं, उसमें हम सिर्फ एक ही उम्मीद कर सकते हैं, और वह यह कि हम एक 'क्षणिक चौंध' भर हैं। हम अपने पूर्वजों की कालजयी प्रसिद्धि पर विजय नहीं हो सकते, क्योंकि अब मनुष्य के ज्ञान का वृत्त अधिक बड़ा है। हमें कुछ भी अविस्मरणीय करने के लिए, अथाह ज्ञान का दावेदार बनना होगा। बावजूद इसके हम अपने 'लिखे हुए' (टेक्स्ट) से उठती हुई अमरत्व की पुकार पर नियंत्रण नहीं पा सकते। क्योंकि, लिखा हुआ प्रकारांतर से हमारे अस्तित्व के अंश को 'अंतरस्थ' कर लेता है। लुक फेरी का कहना है कि यह लिखने की, जब्त न हो सकने वाली इच्छा, नैराश्य के बावजूद भूलना संभव नहीं है। लुक फेरी का यही कहना है कि हम लिखते हैं क्योंकि हम मृत्यु से भयाक्रांत हैं।

बहरहाल, एक लेखक का लिखना, उसकी मुक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इसके उपरांत स्टारोबिंस्की का कथन है कि अमरत्व और एक लेखक और उसकी कृतियों के बीच एक अतर्क्य संबंध है। वे साथ ही गेस्टन पेरिस के एक अध्ययन 'पोण्डरिंग ज्यू' को उदाहरण की तरह प्रस्तुत भी करते हैं। इसके साथ ही, यह भी तय है कि लेखक अपनी मानसिक–पैथोलॉजी को ही प्रस्तुत करता है, जो इस शर्त से प्रभावित होकर, यह यकीन करने लगता है कि वह अमर है। यह अवस्था, उस सामान्य से व्यवहार से संचालित होने लगती है, कि अस्थाई सीमा को, अनंत से भिड़ा देता है। इस तरह, वे तर्क और अतर्क के बीच की खाली जगह में प्रवेश करके वहाँ से प्रश्न और उसकी भंगिमा को उठाते हैं।

यह अनंतकाल, वही समय है, जिसमें कोई संभावना शेष नहीं है। यह रचने की असंभाव्यता, उसके अंदर गहन कुंठा, उसे, मन और तन सहित एक 'इटरनल वांडरिंग' यानि कि भटकाव में डाल देती है। 'पैथोलॉजिकल मेलंकली', महान जैसा कुछ लिख पाने की असंभाव्यता से उपजती है। भाषा, मृत्यु के विरुद्ध विद्रोह का प्रतिनिधित्व करती है, जो इस बात से इंकार करती है कि वह अपने पीछे महान जैसा छोड़े बगैर मर सकता है। लेकिन, लेखन बोले गए से हमेशा अधिक ही है। एक आख्यान का मौखिक बखान, विचार का दोहराव होगा। लिखने का अर्थ दोगुने का दोगुना कहा जाएगा। लिखने का अर्थ एक आत्म–प्रतिनिधित्व के साथ आभासी 'स्पेस' के भीतर अवस्थित होना है। मिशेल फूको के अनुसार लिखने का अभिप्राय, वस्तुओं के साथ कर्म केंद्रित होना नहीं, बल्कि केवल 'विचार' के साथ निरंतर सक्रिय रहते हुए

कार्यरत रहना है। जबकि भाषा पहले से ही कर्म का प्रतिनिधित्व करना है, तथा तथ्यों की एक अवस्था भी है। भाषा हमारे कर्म का दर्पण है। दरअसल प्रकारांतर से 'लेखन' लेखक को दर्पण की सी एक सूक्ष्मतम नियति की ओर धकेलता है, फलस्वरूप, वह यह प्रतिरोपण का नैरंतर्य कर देता है, एक अंतहीन जीवन का। फूको, इसी जैविक–जटिलता को खोलने का यत्न करते हैं, जो कि एक गहरी दार्शनिक चेष्टा है।

मिशेल फूको, दर्शन के क्षेत्र में चर्चित रहे अपने प्रसिद्ध अध्ययन में 'पागलपन' को भी गहरे दार्शनिक कोण से विश्लेषित करते हैं। उनके इस अध्ययन का परिप्रेक्ष्य यह है कि 'पागलपन', भाषा से बहुत भिन्न है। पागलपन, अबौद्धिकता की एक वर्जित आवाज़ है। मनोरोगी, भाषा के स्पष्ट चिह्नित रुप से विलग और असंबद्ध है। विगत वर्षों के इतिहास में यही साक्ष्य मिलते हैं कि हम मनोरोगी की भाषा को ख़ारिज करने को उद्धत रहे हैं। क्योंकि, उसकी सामान्य बुद्धि की दृष्टि से, अतर्क्य लगती भाषा को, ढंग से 'डिकोड' नहीं किया जा सकता। जबकि, एक पागल व्यक्ति की कल्पना की तीव्रता ही उसकी भाषा और आंतरिक तार्किकता की निर्मिति करती है। और मनोरोग को एक 'टैबू लैंग्वेज' के रूप में ही उसकी तस्दीक करते हैं। और विक्षिप्तता को, एक निषिद्ध भाषा के दायरे में रखते आए हैं, जबकि दर्शन एक दूसरी किस्म की वर्जित भाषा का सामना करती है, इस तरह वह, भाषा में अव्यक्त को रखना चाहती है। यहाँ ही भाषा की सीमाएं प्रकट हो जाती हैं। क्योंकि, 'पागल' की कल्पना में जो है, वह अव्याख्येय है, उसका साधारणीकरण संभव नहीं है। एक सामान्य व्यक्ति की बुद्धि से कभी भी नहीं।

मृत्यु और लेखन के मध्य संबंध, वह सिद्धांतिकी जो कि शहरजाद के उस मिथक के विरुद्ध है, मिशेल फूको को उन उत्तराधुनिक चिंतकों के बीच चिह्नित करती है जो कि 'ऑथर' की मृत्यु का विश्लेषण करते हैं। वर्णन, मौखिक संप्रेषण से या पाठ के रूप में, मृत्यु को आहूत नहीं करता बल्कि, केवल लेखक की मृत्यु को ही इंगित करता है। लेखक अपनी वैयक्तिकता के संकेतों से पाठक को भ्रमित करता है। इस तरह लेखन की क्रीडा में लेखक 'मृतक' की भूमिका का निर्वाह करता है। पश्चिम में, सत्रहवीं शताब्दी तक, ऑथर की ऑथौरिटी थी। उसका होना और दावा करना, स्वीकारा जाता था।

मिशेल फूको आख्यान के ध्रुव को और उसके मनोनयन के बीच फर्क करते हैं। लेखक का नाम उस व्यक्ति का नाम नहीं है, जो लिखता है। हालाँकि, दोनों मिलकर एक ही व्यक्ति का ही बखान और उसे ही चिह्नित करते हैं, लेकिन, उसी यथार्थ को निर्दिष्ट नहीं करते। मिशेल फूको, लेखक के नाम के अंतर्विरोधी एकाकीपन को विश्लेषित करते हैं। लेखक का प्रकार्य 17वीं और 18वीं सदी के मध्य लुप्त हो गया था। लेखक की सत्ता, उसमें विलुप्त थी, जिसमें 'लिखे हुए' का संबंध उस सत्य से था, जो पहले भी स्वयं को स्थापित और अपनों को व्यक्त कर चुका था। साहित्यिक विमर्श भी, वैज्ञानिक विमर्श की तरह ही, लेखक के नाम को धारण करता है। उत्तर आधुनिक 'वैचारिकी', हमेशा मौलिकता की गुणवत्ता के बारे में केंद्रित नहीं रहती, बल्कि, इसके उलट वह मौलिकता को ही प्रश्नांकित करती है। क्योंकि, वह सृजन को 'दिक' और 'काल' में से गुजारने के बाद देखती है। इस वैचारिकी को अत्यधिक सुसंगत रूप में स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण दृश्य कलाओं से लेंगे। छायाकार शेरी लेविन, प्रख्यात चित्रों के चित्र लेने के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ 'प्लेजियारिज़्म' को उस तरह लागू नहीं किया जा सकता, जैसा

कि 'अन्य' मसलों में होता है, क्योंकि वे उन प्रसिद्ध चित्रों को एक मॉडल के रूप में ले रही हैं। यह समस्या उस संदर्भ में प्रासंगिक है– वे चित्र किसके हैं? क्या वे उसके चित्र हैं, चूँकि उसने बनाए हैं, या वे कि उस मूल 'ऑथर' (चित्रकार–छायाकार) के हैं, चूँकि उन्होंने पहली बार बनाए हैं। इसलिए, लेविन के फोटो की मीमांसा की स्थिति क्या है? वह फोटो क्या हैं? क्या लेविन के चित्र, कलाकृति हैं, यदि कलाकृति को 'मौलिकता' के रूप में ही देखा जाए तो सहसा हमारे सामने मौलिकता तथा ऑथौरिटी का अंतर्विरोध तब सहसा प्रकट होता है, जब हम आखरी प्रश्न का उत्तर खोजने लगते हैं। ये इस अर्थ में मौलिक हैं, क्योंकि लेविन के पूर्व किसी अन्य ने, चित्रकृतियों के चित्र नहीं लिए थे। लेकिन, दूसरे अर्थ में वह मौलिक बिलकुल नहीं है, क्योंकि जो वास्तविक 'छवि', वे चीज जो कि चित्रकृति प्रस्तुत करती है, वे मूलतः उसके पहले 'ऑथर' की ही मिल्कियत हैं। कुल मिलाकर, वह उन चित्रों के द्वारा, यह संप्रेषित करना चाहती हैं कि संप्रति कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे मौलिकता की तरह स्थापित या कि चिह्नित किया जा सके। उसका अभीष्ट यह बताना है कि उसने उन चित्रों की प्रतिलिपि ही की है। अतः उत्तर आधुनिकता मौलिकता के च्युत होने के प्रति पूर्णतः चेतस भी है, क्योंकि वह नवोन्मेष द्वारा स्थाई नवीनीकरण के आदर्श को त्याग देती है। इसलिए, सृजन व सृजक के अंतरसंबंध सामान्यतः देखने में सरल लगते हैं–लेकिन, वे दुरूह तथा जटिल हैं, और उसमें आवेष्टि 'वस्तुगत' साथ की मांग करते हैं।

लेविन का उदाहरण यहाँ बहुत प्रासंगिक है, क्योंकि हम उत्तर आधुनिक साहित्य में इस समस्या से रू–ब–रू होते हैं। उदाहरण के लिए 'फ्राइडे या अन्य द्वीप' विलियम डफो के 'रॉबिंसन क्रूसो' का पुनर्लेखन ही है। अतः इस उदाहरण को हम सूक्ष्मता से विवेचित करें तो पाते हैं कि न केवल 'गल्प' का सृजन होता है, बल्कि उसके साथ लेखक का भी। यदि उपन्यास का लेखक, वही वास्तविक व्यक्ति नहीं है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह कठपुतली का संचालन करने वाले का, अनंत तक से गुणनफल हो सकता है। लेकिन हम स्क्रैच से गल्प के संसार की रचना नहीं कर सकते, चूँकि हम यदि गल्प का सृजन करना चाहें, तो हमें यथार्थ से कुछ तथ्य उधार लेने पड़ेंगे।

अतः दर्शन और साहित्य के मध्य यही प्रमुख भेद है कि ऑथर (लेखक) केवल कंवेंशन का एक सेट बनाता है, या वह किसी अन्य लेखक द्वारा रचे गए सेट ऑफ कंवेंशन को लिखने के लिए प्रयुक्त करता है, ताकि वह बखान के आधार पर कोई पाठ निर्मित कर सके। जबकि दार्शनिक केवल विमार्शात्मक पैटर्न का ही निर्माण करता है। एक उपन्यास का लेखक, साहित्यिक शैली को भी उद्‌घाटित करता है जो कि किंचित समानताओं और उपमाओं के क्षेत्र को खोलता है। अतः दार्शनिक न केवल अपनी पुस्तक के लेखक होते हैं, बल्कि वह पाठ निर्मिति की संभावनाएँ और उसके नियम भी तैयार करता है। उदाहरण के लिए, फ्रायड न केवल, 'स्वप्नों की व्याख्या' नामक पुस्तक के लेखक हैं, बल्कि वह अन्य विमर्शों की नई संभावनाओं से भी परिचित कराते हैं। दार्शनिक स्वयं को, न केवल एक पुस्तक के संदर्भ में, बल्कि सिद्धांतिकी और परंपरा के संदर्भ में भी स्वयं को एक ट्रांस–डिस्कर्सिव (विमर्शात्मक) स्थिति में पाता है। जबकि, 'साहित्य' की पाठ निर्मिति का सर्जक, केवल अपने ही पाठ का सर्जन होता है। दार्शनिक, जहां नई संभावना, नई शैली और नये चलन के भीतरी संरचना में, एक चिंतन के पैराडाइम का भी

सृजनकर्ता है। पैराडाइम की सिद्धांतिकी मूलतः विज्ञान के एक थॉमस कून ने दी है। अतः पैराडाइम एक किस्म का विश्व के प्रति दृष्टिकोण है, एक चिंतन का मार्ग बनाता है, उस हर चीज के लिए जो एक शोध की रुचि का ऑब्जेक्ट होता है। पैराडाइम उनके बीच संप्रेषित नहीं करता। कून यह व्याख्या देते हैं कि उनके पास कोई झरोखा नहीं है, इकाइयों के बारे में जो, लाइबनीज का फार्मूला या सूत्र है। एक वैज्ञानिक पैराडाइम से दूसरे वैज्ञानिक पैराडाइम तक जाना, एक बहुत जटिल परिवर्तन के कारण संभव होता है, जो कि कभी कभार ही घटता है। हालांकि, ये जरूरी नहीं है कि, हरेक त्रुटिपूर्ण परिणाम, वैज्ञानिक पैराडाइम में परिवर्तित नहीं हो जाता। वैसे ज्यादातर परिणामों को एक तरह से त्रुटि की तरह ही लिया जाता है। केवल बहुत ही किसी विरले प्रकरण में ही, नए पैराडाइम का जन्म होता है। साहित्यिक 'टेक्स्ट' भी इन्हीं पैराडाइम का प्रतिभाग ही है, क्योंकि पैराडाइम का जो पैटर्न है, जो बहुत सारे कालखंडों को परावर्तित करता है, और बहुत सारे विचारों को भी। विमर्श का प्रवर्तक ही संभावनाओं को 'टेक्स्ट' से नाथता भी है। यह विमर्शात्मक उद्‌घाटन, विज्ञान के 'सत्य' के उद्‌घाटन से किंचित भिन्न होता है, लेकिन यह भिन्नता, इस अर्थ में भिन्न होती है कि वहां, शोधकर्ता किसी एक सिद्धांतिकी पर एकाग्र होता है, जबकि दर्शन में, एक नहीं अनेक विमर्शों का सर्जन होता है। मिशेल फूको, दर्शन में, वह मार्ग, जो दार्शनिक सिद्धांतों ने खोला था, वह वापस भी वहीं ले आता है, और पैराडाइम में डोमेन को रूपांतरित करने का सामर्थ्य भी होता है। यह सृजनोन्मुखी भी हो सकता है। इसके बरक्स, विज्ञान में केवल डोमेन के इतिहास में रूपांतर संभव है, मूल डोमेन में नहीं। और, यह सृजनोन्मुखी हो, यह भी अनिवार्य नहीं है। मिसाल के तौर पर ग्रीक से बिल्कुल आरंभ में, पुरातन दार्शनिकों को देखें, वे नीत्शे पर बहुत सृजनात्मक प्रभाव डालते हैं, वे खास तौर पर, पुरातन दार्शनिकों के काम में, अपनी रुचि रखते हैं, जैसे कि हेराक्लिटेस। लेकिन जब मिशेल फूको उन तक जाते हैं, तब मिशेल फूको की रुचि एक नई शोध–प्रविधि को जन्म देती है, जिसे वह कहते हैं, जिनियोलॉजी।

हाइडेगर भी नीत्शे के द्वारा प्राचीन दार्शनिकों के काम में रुचि प्रकट करने के अभीष्ट को पाते हैं कि समकालीनों की तुलना में वह कहीं ज्यादा चुनौतियां पैदा करते हैं। वह प्राचीन दर्शन के डोमेन को पुनर्जीवित और पुनराविष्कृत करते हैं, चाहे वह फिर सर्वाधिक प्राचीन मेटाफिजिक्स ही क्यों न हो। वह नीत्शे की रुचि को धारणा की शर्त की तरह ग्रहण करते हैं, उदाहरण के लिए हाइडेगर के काम को, विशेष तौर पर Sein Und Zeit को लें, वह लगभग एक नई भाषा में लिखा गया है, जिसमें, जर्मन, प्राचीन जर्मन और ग्रीक भाषा के तत्वों का मिश्रण कर दिया गया है। जैसी कि हम चर्चा कर रहे थे कि मिशेल फूको ने भी अपनी जिनियोलॉजी के दृष्टिकोण के लिए, नीत्शे से यह प्रविधि विरासत की तरह हासिल की है, जिनमें पागलपन, यौनिकता, और दंड विधान के संदर्भ में जीनियोलोजी शामिल हैं। वह शोध का मार्ग अतीत में ले जाता है, लेकिन समकालीन ज्ञान और समकालीन प्रविधियों के साथ, जिसके जरिए वह 'समकाल' की जटिलताओं का समाधान निकालते हैं। यह अतीत की वापसी का रास्ता, उत्तर आधुनिकतावादियों में अत्यंत प्रचलित है क्योंकि वे किसी भी साधन से उसे नवोन्मेषी नहीं बनाते।

देरिदा इस बात पर देर तक टिके रहते हैं कि 'पाठ' से बाहर कुछ भी नहीं है क्योंकि, मूलतः 'सत्य' को भी एक संरचना मान कर, उसे 'भाषा' के भीतर अवस्थित एक निर्णायक घटक

की तरह देखते हैं । इस दृष्टिकोण में, परिभाषाएँ किसी चरम–अर्थ को आवेष्टित करके नहीं रहतीं, बल्कि, यह दूसरी परिभाषाओं से एक पारस्परिक अवधारण बनाती है। विखंडन, विसर्जन बन जाता है, विनष्टिकरण नहीं। यही है, वह प्रक्रिया, जो इसके अनिवार्य तत्व में घुला देती है। सन् साठ के दशक में विखंडनवाद एक सांस्कृतिक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण कर लेती जिसमें देरिदा विशेषकर सर्वाधिक निष्णात दिखाई देते हैं। देखा जाए तो इसकी प्राथमिक शुरुआत, हाइडेगर के उस प्रयास से होती है, जब वे पुरातन सत्ता मीमांसा के विखंडन के सहारे, एक दूसरी सत्ता मीमांसा को संभव बनाने के काम में लगे थे। जब विखंडन को मेटाफिजिक्स से पृथक करते हैं, तब 'साहित्यालोचन' के डोमेन में प्रवेश कर जाता है। और खासकर अमेरिकी दर्शन के विखंडनवाद में। लेकिन, ओल्सन का कथन है कि यदि हम दर्शन के डोमेन से विदा नहीं लेते हैं तो 'विखंडन' अपनी प्रासंगिकता को कायम किए रहता है। विखंडन का अर्थ उसके कोई खंड खंड कर देने से नहीं है अपितु उसके आरंभिक तत्व में घुल जाना है। विखंडन की सिद्धांतिकी अतीत पर लागू नहीं होती है, सिर्फ वर्तमान और भविष्य के वैश्लेषिक में प्रयुक्त अवधारणा का होता है। हाइडेगर के लिए 'विखंडन' का अभिप्राय किसी जटिल दार्शनिक समस्या को निरस्त करके कूड़ेदान में फेंक देने से बचाने की चेष्टा को कहा जाएगा। और सबसे यदि कोई जटिल समस्या है, तो वह है 'होने' की अर्थात अस्तित्व के होने की। एक तरह से किसी वस्तु या विषय के बारे में सामान्यतः जो हमारी मान्यता होती है, उसके वास्तविक अर्थ का अभिलोपन है। हम क्या जानते हैं और हम क्या सोचते हैं, हम जानते हैं कि उस धारणा को हम छुपाना चाहते हैं, जो वह धारणा स्पष्ट करती है। जबकि हाइडेगर, विश्लेषित करते हैं 'विखंडन' की प्रक्रिया में 'होने' भर को। देरिदा किसी अर्थ की दशा में विभेद की क्रीड़ा पर जोर देते हैं। दूसरा जो प्रमुख प्रसंग है, देरिदा के चिंतन की परिधि में, वह है, उद्‌भव। कुल मिला कर, विखंडन का मुख्य अभीष्ट यह होता है कि वह भिन्न मेटाफिजिकल अवधारणाओं से मूल अर्थ को निकाल ले। देरिदा, फूको से भिन्न काम करते हैं। वह यह कि वे भाषा के विश्लेषण की शुरूआत phonemes (ध्वनि की न्यूनतम इकाई) से व्याख्या करते हैं कि यदि हम किसी phonemes को सुनते भी हैं तो, जो अनिवार्यतः भाषा के भीतर नहीं है, क्योंकि हम सुनते हैं, वह मात्र दो के बीच के भेद को सुनते हैं। Marges de La Philosophie में, देरीदा, भाषा की क्रीडा को स्थगित कर देते हैं। वे कहते हैं, यदि हम उसकी शुरुआत विमर्श से करेंगे तो भाषा को कदापि नहीं समझा जा सकता। विमर्श भी स्वयं को वहीं स्थिर किये रहता है, जहां उसके भीतर 'पाठ' का सिद्धांत मौजूद होता है। जबकि, भाषा ऐसा नहीं करती। विभेद अनसुना रह जाता है। जो आवश्यक तत्व है, भाषा का, वह है खामोशी। देरीदा तो इसीलिए आगे चल कर 'रचना' और 'सृजन' के बीच भी एक सूक्ष्म भेद की उपस्थिति को इंगित करते हैं। वे कहते हैं कि वे समानार्थी दिखते हैं, लेकिन अर्थ वैभिन्य है। 'रचना' केवल 'कंस्ट्रक्ट' है, जबकि 'सृजन' में संवेदना भी है। यहाँ देरिदा फूको के बरअक्स एक दूसरा दृष्टिकोण रखते हैं। हम किसी भी भाषा को तभी समझ सकते हैं, जब हम अनिवार्य अवधारणाओं के विमर्श को जिनियोलॉजी के द्वारा समझने की चेष्टा करें और साथ ही विमर्श के वैशिष्ट्य को विचारणीय मानें, फिर चाहे वह साहित्यिक हो, वैज्ञानिक हो या कि दार्शनिक। इसका अभिप्राय हुआ कि मिशेल फूको सिद्धांतः, विखंडन के अत्यंत सामीप्य में हैं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि कहीं कोई इतिहास नहीं है, जिसे 'इन सोलिटरी जिनियोलॉजी' का आधार स्वीकार कर लिया जाए। जिनियोलॉजी का अस्तित्व यह बताता है कि

हम इतिहास की एकात्मकता के बारे में अब और बात नहीं कर सकते। एक उदाहरण विखंडन का हम लें, खासकर विखंडन के जरिए सामने रखें तो यह भेद करना, देरिदा के विभेदीकरण की प्रविधि से। वैसे फ्रेंच के 'डिफरेंस' शब्द से अंग्रेजी के भेद शब्द का सही अभिप्राय नहीं समझ पाएंगे क्योंकि दोनों का ही उच्चारण एक सा ही है। लेकिन दोनों के मध्य काफी अर्थ वैभिन्य है। यहाँ हमें यह स्वीकार लेना चाहिए कि उत्तर आधुनिकता हमें बहुतेरे सिद्धांतिक विकल्प उपलब्ध कराती है, जिसके सहारे से हम समकाल में, जो गहरे और त्वरित सांस्कृतिक परिवर्तनों को जज्ब करके उन्हें समझने में हम सफल हो सकते हैं। यद्यपि वे कारक, जो इन परिवर्तनों को तय करते हैं, अनेकानेक हैं। मसलन, ज्ञान युग के आदर्शों का विलीनीकरण, व्याख्याओं को विस्तार दे देता है, फिर किसी भी प्रकरण में उत्तर आधुनिक सिद्धांतकार, हमें यह बता देंगे कि हम ऐतिहासिक को उसकी एकरेखीयता में देख नहीं सकते। आधुनिकतावादी लेखन में, गल्प जगत का संघटन 'कर्ता' चारों ओर ही रहता है जबकि इसके समांतर, उत्तर आधुनिक लेखन का दायरा संघटित नहीं, विखंडित होता है। इसमें साहित्य के पाठ के स्पेस का संघटन और विखंडन एक साथ होता रहता है। ये अवस्थितियाँ निम्नांकित हैं : सर्व प्रथम तो यह कि गल्प जगत का सीमोल्लंघन होता है और फलस्वरूप, पाठ के भीतर के जगत में कई अन्य पाठों के लिए अवकाश निर्मिति भी चलती रहती है। यह क्षेत्र दर्शन में भी निर्मित होता है और दिलचस्प बात यह कि यह प्रकृति काफी पहले से उत्तर आधुनिक दर्शन में रही आई है। क्योंकि कोई भी दर्शन परंपरा के योगदान के अभाव में अपने विगत के आलोचनात्मक दृष्टिकोण के साथ ही, पुनर्नवीनीकरण और नवोन्मेष करती है। क्लेरेंस मेजर के रिफ्लेक्स एंड बोन स्ट्रक्चर में हम चरित्र के कैंसलेशन को अत्यंत स्पष्ट तौर पर पाते हैं। डेल जो कि मेजर का प्रमुख पात्र है, दरवाजा खोलता है तो पाता है कि वह उसके सामने बैठा है, तब 'बाहर' का 'आख्यानकार', पाठक को सूचित करता है कि, उसने उसे कैंसिल कर दिया है। दर्शन में हम, इसी प्रविधि से मुठभेड़ करते हैं, जो देरीदा ने प्रयुक्त की है।

ग्रामेटोलॉजी में एक तकनीक प्रस्तावित होती है कि किसी शब्द को किन्हीं दो काटने वाली पंक्तियों से काटा जाता है। हम तभी 'पाठ' को समझ सकते हैं, यदि हम उन कटे हुए शब्दों को पढ़ते हैं, लेकिन यह भी कि उन कटे शब्दों के बीच का भेद नहीं समझ पाते हैं, क्योंकि उनका अर्थ बदल चुका होता है। पाठक विभ्रमित हो जाता है कि कटा हुआ 'पाठ' वहां है भी और नहीं भी है। ठीक ऐसे ही जैसा कि अनकटा पाठ वहां मौजूद है। दरअसल, मूलतः अभीष्ट यही है कि देरिदा के मेटाफिजिक्स से जुड़े कुछ मुख्य अवधारणाओं को प्रश्नांकित करना है। उत्तर आधुनिक साहित्य में, उसी प्रविधि के प्रयुक्त किए जाने के पीछे, प्रदर्शित गल्प जगत के कुछ ऑब्जेक्ट को सवालों से घेरना भी है। इस विखंडन के 'आवेग' से पाठ के भीतर 'अन्य' पाठ को आविष्कृत करना है, या कोई एक अन्य 'सूचना' को प्राप्त करना है, जिससे पता चले कि एक पाठ के भीतर दूसरे 'पाठ' की संरचना कैसे हो रही है।

विखंडनवादियों के चिंतनानुसार, कोई भी साहित्य या दर्शन का 'पाठ', किसी 'अन्य' और पूर्व पाठ से ही जन्म लेता है। और, वे यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि इसकी 'भनक' ऑथर को भी कतई नहीं होती। देरिदा के कथनानुसार यह वह प्रमुख कारण है, जिसके चलते उत्तर आधुनिक विमर्श से एक किस्म के कोलाज की प्रतीति होती है। इस तरह के कोलाज में, सूचना को ग्रहणकर्ता, एक प्रतिभागी है जैसे कोई सह–प्रस्तुतकर्ता हो, उत्तर आधुनिक दर्शन के

पाठ का, कलाकृति का, या साहित्यिक 'टेक्स्ट' आदि का भी। पाठक केवल कोई अक्रिय या निर्विकार उपभोक्ता नहीं है, चूँकि उसे उत्तरआधुनिक सृजन को एक अर्थ प्रदान करना है। इस तरह से, विखंडन की प्रक्रिया के प्रभाव के परिणामतः लेखक की वैधता का भी विखंडन अनिवार्य रूप से घटित होता है। न केवल साहित्य अपितु दर्शन में भी, देरिदा, sous rature टेक्स्ट के जरिए, अवकाश (स्पेस) के महत्त्व को रेखांकित करना चाहते हैं कि यह उत्तर आधुनिक 'थीम' के भीतर एक प्रमुख घटक है। वस्तुतः यहां यह स्पष्ट कर दें कि देरीदा के द्वारा 'स्पेस' के महत्त्व पर इतना अधिक जोर देने का एक कारण यह है कि आधुनिकतावादियों ने, अपनी गढ़ंत के कारण अवकाश (स्पेस) का बुनियादी थीम की तरह विलोपन कर दिया था, जिससे वे विकास और 'इवोल्यूशन' तथा द्वंद्वात्मकता को अभिव्यक्त करना चाह रहे थे। शब्द प्राथमिक रूप से, 'स्पेस' के जरिए ही अनावृत और अभिव्यक्त होते हैं, जब टेक्स्ट को प्रकृति की तरह प्रयुक्त किया जाता है। लिखित 'पाठ' विमर्श में उपस्थित 'संदेश' को उठा ले जाते हैं। जहां शब्द समय पर लंगर डाले रहता है और वह आकाशीयता में मुक्त रहता है। देरिदा का यह दावा महत्त्वपूर्ण इसलिए है चूँकि कुछ लेखक, 'काल' और 'दिक' के संदर्भ को रखकर, आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद के बीच भेद स्थापित करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, हार्वे के अनुसार आधुनिकतावाद 'काल' और 'दिक' से संबंधी एक नए अनुभव के कारण हमारे चिंतन के दायरे में दाखिल हुआ। संक्षेप में कहें कि 'काल' और 'दिक' के संकुचन की प्रतीति की तरह। आगे वह अपने विचार को विस्तार देते हुए कहने की चेष्टा करते हैं कि पुनर्मूल्यांकन और विश्व की आधुनिकतावादी प्रस्तुति, यह दोनों ही 'काल' और 'दिक' के परिवर्तन के प्रसूत हैं। और यह जो एक तरह का 'बायनरी अपोजीशन' है तथा होने और बनने के मध्य जो तनाव दृष्टिगोचर होता है, वह काल की विशिष्ट पहचान तथा 'दिक' का केंद्रीकरण है। और, यह एक भू–राजनीतिक संबंध है, जो केवल दर्शन के स्तर भर पर नहीं है। सत्तर के दशकारम्भ से ही, भू–राजनीतिक सिद्धांतिकी के लिए, बहुतेरी और विस्तृत रुचि की वजह भी है, जिसमें अवकाश का सौंदर्य खास तौर पर और स्थानिकता की समस्या आमतौर पर रही है।

रिचर्ड रोट्री तो इंगित करते हैं, यह बताने के लिए कि विखंडनवाद तथा साहित्य और दर्शन के मध्य उपस्थित विभेद को विलोपित कर दिया जाना चाहिए। इस बिंदु से देखा जाए तो जॉक देरिदा, नीत्शे की खींची हुई रेखा पर खड़े दिखाई देते हैं जिसने पुरातन ग्रीक त्रासदी और दर्शन के बीच के विभेद को निरस्त कर दिया था। मार्टिन हाइडेगर की प्रेरणा का स्रोत तो खास तौर पर जर्मन रूमानवादी कवि ही रहा था। यहाँ तक आते हुए हम यह भी स्पष्ट कर दें कि विखंडनवाद का एक अन्य अर्थ भी है जिसका संदर्भ, पाठ की व्याख्या की प्रविधि भी है, जो साहित्य और दर्शन के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचती है। दुर्भाग्यवश, देरीदा ने इसका उपयोग नहीं किया। दर्शन अपने उत्तर आधुनिक स्वरूप के पूर्व, एक वास्तविक और मिथ्याभास के बीच विभाजन और अदार्शनिक भाषा के चरित्र को पकड़ने का भी काम करता रहा है, क्योंकि वह परंपरागत तर्क पद्धति की जरूरत को पूरा नहीं कर पाती थी। हालाँकि, अंत में फूको, 'सत्ता' और 'ज्ञान' के अंतर्संबंधों के आलोचक नहीं हैं, बल्कि वे उनके बीच उपस्थित अप्रकट संबंध और संवाद को सबको उपलब्ध कराने की बहुत बड़ी दार्शनिक भूमिका के निर्वाहक का काम करते हैं।

क्लेर ओ' फेरेल

मिशेल फूको और उत्तर आधुनिकतावाद : सिडनी पेपर्स

सर्वप्रथम तो मैं श्री जेरार्ड हेंडरसन को धन्यवाद देना चाहूंगी, जिन्होंने मुझे सिडनी इंस्टिट्यूट में उद्‌बोधन के लिए आमंत्रित किया। बहरहाल, जो शोधपत्र यहां मैं पढ़ने जा रही हूँ, वह मुख्यतः प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक मिशेल फूको और उनकी जिरहों के साथ ही उनकी उपलब्धियों तथा उनके अवदान के आसपास केंद्रित है। मिशेल फूको जो सन 1926 में जन्मे और सन 1984 में जिन्होंने इस संसार से विदा ली, वे बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिक और चिंतक हैं। उनके विचार, सामाजिक विज्ञान, मानविकी तथा व्यावसायिक अनुशासन, जैसे कि शिक्षा, प्रबंधन अध्ययन और स्वास्थ्य की समूची परिधियों तक व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उनका काम, विस्मयजनक रूप से ध्रुवीकृत प्रतिक्रियाओं की तरफ ध्यान खींचने की चेष्टा करता है। मिशेल फूको का एक ओर जहाँ अत्यंत उत्साह के साथ प्रतिमा पूजन हुआ, वहीं दूसरी ओर उन्हें पर्याप्त निंदा के साथ निरस्त भी किया गया। मैं उनके ओजस्वी स्वागत के विषय में तो यथा आवश्यक दृष्टिपात करूंगी ही, लेकिन साथ ही साथ, उनके उस व्यक्तित्व पर भी दृष्टि डालूंगी, जो इतनी प्रबल प्रतिक्रिया और मताभिव्यक्ति को जन्म देता है।

मिशेल फूको का नाम, अक्सर उत्तर आधुनिकता के इर्द–गिर्द होने वाले विमर्शों में प्रकट होता है। बावजूद इस तथ्य के कि उन्होंने कभी भी इस 'विचार'

से संबंधित आंदोलन से जुड़े होने का दावा नहीं किया। इस 'ज्ञात–संबंध' की रोशनी में, मैं हाल ही में जनमाध्यम में उत्तर आधुनिकतावाद तथा उसके घातक प्रभावों को लेकर हुई ताजा बहस पर, अपनी कुछ टिप्पणियों के साथ, बात करूंगी, जिनका असर आमतौर पर, साहित्यिक हलकों पर तथा खास तौर पर स्कूलों में पढ़ाए जा रहे पर, हुआ है। यहाँ तक कि अंग्रेजी, इतिहास और इतिहास के शिक्षण पर तथाकथित उत्तर आधुनिकतावाद के नकारात्मक प्रभाव को लेकर प्रधानमंत्री जॉन हावर्ड ने भी इन बहसों को परखने के बाद टिप्पणी की, जो व्यापक रुप से पढ़ी–सुनी गई। वैसे यह अभी भी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि इन बहसों में योगदान देने वाले वास्तविक रूप से, उत्तर आधुनिकतावाद से क्या अर्थ रखते हैं। परंतु सामान्यतः कहने के लिए यह शब्द, उस एक किस्म की भंगिमा को प्रकट करता है, जो अवेध्य 'जार्गन' और 'पॉलिटिकल करेक्ट्नेस' को परस्पर मिलाता है। जिसके चलते, लोकप्रिय संस्कृति के उत्पाद की तरफ अकारण ही ध्यान आकर्षित करता है, साथ ही वस्तुगत सत्य और तथ्य के प्रति, असावधान सम्मान पैदा करता है।

तर्क कुछ यूं जाता है कि स्कूल के छात्रों को, फ्रेंच और जर्मन दार्शनिकों (जिसमें मिशेल फूको का नाम अक्सर प्रमुखता के साथ लिया जाता है।) से प्राप्त यह 'दुरूह सिद्धांतिकी' और 'पॉलिटिकल करेक्ट्नेस' की यह खुराक, जबर्दस्ती पिलाई जा रही है, बजाय उन्हें प्राथमिक कौशल, जैसे 'सही उच्चारण कैसे करें, या सही वर्तनी कैसे लिखें' सिखाने के, या बजाय उन्हें संस्कृति, इतिहास, और ऐतिहासिक कालक्रम के मूलभूत तथ्यों के पढ़ाने के।

और तो और, तर्क यह भी दिए जा रहे हैं कि 'ग्रेट वाइट योरपीय पुरुषों' के 'अमर' शास्त्रों को, जिनको कि हर स्कूली बालक को याद करवाया जाना चाहिए, वह, लोकप्रिय संस्कृति के क्षणभंगुर 'ज्ञान' पर अनुचित जोर देने से अपदस्थ हो रहा है। बहरहाल, 20 अप्रैल, सन 2000 को ए.बी.सी. से प्रसारित अपने प्रसारण में, प्रधानमंत्री जॉन हावर्ड ने, उनके उद्धरण के अनुसार, कहा कि, 'इस तथाकथित उत्तर आधुनिकतावाद के बारे में कई लोगों के दृष्टिकोण' से, वे पूर्णतः सहमत हैं। उन्होंने आगे जोड़ा, 'हम यह समझते हैं कि एक तरफ तो जहाँ उच्च स्तरीय साहित्य है, वहीं दूसरे ओर निरा कूड़ा भी है। दरअसल, हमें ऐसे पाठ्यक्रम की आवश्यकता है, जो उत्कृष्ट साहित्य की समझ को बढ़ावा दें, बजाय 'निरे कूड़े' के।'

निश्चित रूप से, यह समझने बात है कि प्रधानमंत्री की ऐसी टिप्पणी ने ध्यान आकर्षित करते हुए, मीडिया और शैक्षणिक वृत्तों में एक बहस को भी जन्म दिया है और साथ ही साथ 'द ऑस्ट्रेलियन' (सन 1964 से प्रकाशित होने वाला ऑस्ट्रेलिया का सबसे ज्यादा बिकने वाला अखबार–अनु.) के द्वारा 'उत्तराधुनिकता' और 'आलोचनात्मक–साक्षरता' की बुराइयों के विरुद्ध चलाए जा रहे एक लंबे अभियान में, आग में घी का काम किया है। यद्यपि, जैसा कि कुछ लोगों ने इंगित किया है कि उन बहसों में बहुतेरे भ्रम और अंतर्विरोध भी प्रकट होते हैं, जबकि दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जा रहा है कि, यह उत्तर आधुनिकता, इतनी उच्चस्तरीय सिद्धांतिकी जो कि स्नातकोत्तर विश्वविद्यालयीन कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी दुरूह है, वह स्कूल के स्तर पर पढ़ाई जा रही है। विडंबना यह है कि इस तर्क के साथ, यह तर्क भी जुड़ा हुआ है कि विद्यार्थियों को लोकप्रिय संस्कृति का 'कूड़ा' संस्करण पढ़ाया जा रहा है, और इसके फलस्वरूप, अगर हावर्ड के शब्दों में कहें तो, हम अंग्रेजी के पाठ्यक्रम के 'सरलीकरण' को देख रहे हैं। इसमें

कोई संदेह नहीं है कि 'अपर्याप्त' रूप से समझे गए विचारों को आत्मसात करने से कुछ गंभीर समस्याएं उत्पन्न हुई हैं, परंतु यह तर्क इतना सशक्त नहीं है कि 'चमड़े के लिए भैंस' मार दी जाये।

इस बहस में खास तौर पर एक अतिरेकी अवदान तो जाइल्स ओटी का है, जो उन्होंने हावर्ड द्वारा रेडियो को दिए गए साक्षात्कार के पश्चात, 21 अप्रैल को 'द ऑस्ट्रेलियन' प्रकाशित किया। ओटी, मार्क्सवाद और उत्तर आधुनिकतावाद– यह दो विश्वदृष्टियाँ, जो कि एक दूसरे से पर्याप्त रूप से विपरीत होने के रूप में मान्यता प्राप्त हैं– इन दोनों विश्व दृष्टियों को एक दूसरे में मिश्रित कर के अपना तर्क प्रारम्भ करते हैं और फिर उन्हें शिक्षा के 'वर्तमान, गुप्त रूप से राजनीतिकारण से ग्रसित, और शैक्षणिक रूप से विनाशकारी प्रारूप' के लिए दोष देते हैं। ओटी के अनुसार, वह व्यक्ति, जो इन दोनों विचारधाराओं का मूर्त रूप है और जो 'जिस तरह हमारे बच्चे और विश्वविद्यालय के छात्र पढ़ाये जा रहे हैं, उन तरीकों का 'मरणोपरांत मध्यस्थता' कर रहा है' वह और कोई नहीं बल्कि मिशेल फूको हैं, जो कि ओटी के विवरण में, बौद्धिक जगत के 'ओसामा बिन लादेन' के समकक्ष उभरते हैं, तथा जो 'ऑस्ट्रेलियन स्कूलों में हाजिर होने वाले हजारों–हजार बच्चों' पर अपना पापमय प्रभाव डाल रहे हैं।

ओटी के, मिशेल फूको के 'व्यक्तिगत' के इस 'स्याह' विवरण को दरकिनार करते हुए, ओटी के द्वारा लिखा गया, यह आलेख इसलिए उल्लेख के योग्य है क्योंकि, यह फूको के विरुद्ध दिये गए, उन घिसे–पिटे और अतिपरिचित आरोपों के कथानक को दोहराता है, जो कि निम्नलिखित हैं।

1. सर्वप्रथम, यह कि फूको 'वस्तुगत' सत्य या 'तथ्यात्मक' चीजों में विश्वास नहीं रखते, और 'सब कुछ चलता है' के उस अतिरेकी उत्तराधुनिक दृष्टिकोण को अंगीकार करते हैं। संक्षेप में, अगर आप किसी वस्तु में विश्वास रखते हैं, तो वह सत्य है। इसके अलावा, 'सत्य' जैसा कुछ भी नहीं है, जो है वह सिर्फ 'सत्ता' है। जिसे लोग 'सत्य' मान कर चलते हैं वह और कुछ नहीं सिर्फ 'सत्ता के संघर्षों' का उत्पाद है।

2. दूसरे, फूको एक अनैतिक नकारवादी हैं– एक अराजकतावादी, जिसकी एकमात्र रुचि सिर्फ आज जो अस्तित्व में है, उस समकालीन व्यवस्था को ढहाना और ध्वस्त करना है, और उस व्यवस्था के स्थान पर कोई अन्य वैकल्पिक प्रस्ताव नहीं देना और उन मूढ़ लोगों के मध्य, जो कि उसके लिखे को पढ़ते हैं, के मध्य सिर्फ एक सामान्य बदहवासी, उदासीनता और राजनीतिक नकारवाद फैलाना भर है।

3. तीसरे, फूको और अन्य जैसे कि, जॉक देरीदा (विखंडनवाद के प्रणेता), ज्याँ फ्रांसवा ल्योतार ('द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन' के लेखक) और ज्याँ बौदलियार (अपनी इस स्थापना के लिए प्रसिद्ध कि समकालीन संस्कृति, स्वयं के अलावा किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करती है।) दुरूह शब्दों के एक ऐसे शब्दजाल बुनने के लिए जिम्मेदार हैं, जिसका कि कई अकादमिक अनुशासनों में अँग्रेजी की स्पष्ट अभिव्यक्ति और गल्प पर गहरा दुष्प्रभाव पड़ा है। यह 'लक्कड़–जुबान', जैसा कि यह बहुरंगी फ्रेंच मुहावरा 'विचारधाराओं की शब्दावलियों' के बखान के लिए प्रयुक्त होता है, अँग्रेजी और इतिहास के पाठ्यक्रमों में, प्रताड़ित करने के लिए, छन कर आ गई है।

4. और अंतिम, यह भी कि फूको की व्यक्तिगत नैतिकता अत्यधिक संदिग्ध है।

वास्तव में, यह अत्यधिक 'बढ़ा–चढ़ा' हुआ तुच्छ बखान है जो कि कतिपय मीडिया में, ऑस्ट्रेलिया और उसके बाहर, अक्सर मिलता है। इससे अधिक सहानुभूतिपूर्ण और संतुलित विवरण, अमूमन, केवल अकादमिक पुस्तकों या पत्र–पत्रिकाओं में मिलता है, जो वैसे ही सीमित प्रसार में होती है, या फिर पढ़ी–लिखी, अकादमिक जन–समूह को लक्षित करते हुए उन विशिष्ट विषय केन्द्रित माध्यमों में, जैसे कि 'द बुक शो' और 'द फिलोसोफर्स जोन' (ऑस्ट्रेलियन रेडियो पर प्रसारित होने वाले ये दोनों कार्यक्रम साहित्यिक जनसमूह को केंद्र में रख कर बनाए और प्रसारित किए जाते–अनु०)। अतः, दुर्भाग्यवश, जन साधारण, जिन विचारों के बारे में हम बात कर रहे हैं, उनके बारे में, निरंतर, और इरादतन भ्रमित करने वाले बखान सुनते रहे। बिना किसी विकल्प के, जो कि उन विचारों के लिए प्रतिपक्ष भी रख सके। फूको के काम से संबन्धित इसी प्रकार के 'बक–वाद' की सार्वजनिक घटना, अभी हाल ही में फूको के विकिपीडिया पृष्ठ पर देखने में आई, जो कि सन 2006 के अगस्त माह में, एक भीषण, उन्मुक्त 'सम्पादन युद्ध' का विषय था। (इन्टरनेट पर उपलब्ध विकिपीडिया पर किसी भी विषय से संबन्धित, किसी भी पृष्ठ को, कोई भी व्यक्ति संपादित कर सकता है–अनु.)। विकिपीडिया, निश्चित रूप से, अधीरता में रहने वालों के लिए, ज्ञान के सर्वस्व का एक सुविधाजनक इंटरनेट फव्वारा है। इस ताजा 'सम्पादन–युद्ध', जो कि मिशेल फूको की विकिपीडिया की प्रविष्टि के 'बहस' के पृष्ठों पर पूरी तरह दर्ज है, के फलस्वरूप दो प्रविष्टिकर्ता स्थायी रूप से प्रतिबंधित हो चुके हैं और एक अन्य बर्खास्त है। चारों दृष्टिकोण, जो कि पहले उल्लेखित हैं, इस 'सम्पादन युद्ध' में उन्हें पर्याप्त तरजीह दी गई।

इस एक दीर्घ प्रस्तावना के उपरांत, मैं अब फूको के काम के प्रभाव के सकारात्मक मूल्यांकन को प्रस्तुत करूंगी। मैं अब मिशेल फूको के कार्य को संदर्भित करने वाली विभिन्न राजनीतिक और ऐतिहासिक घटनाओं पर विशेष बल देना चाहूँगी, क्योंकि अक्सर या तो इन मुद्दों की चर्चा ही नहीं होती या फिर जब पाश्चात्य सभ्यता की वर्तमान अवनति के बारे की जाने वाली उपदेशात्मक भाषणों में, मिशेल फूको का नाम बिना सोचे समझे ले लिया जाता है, तब इन घटनाओं का मात्र सतही विवरण भर दे दिया जाता है।

मिशेल फूको, सन 1926 में एक सुविधा–जीवी मध्यमवर्ग के एक नौकरी पेशा परिवार में जन्मे थे। उनके पिता एक चिकित्सक थे, और चाहते थे कि उनका पुत्र भी परिवार की परंपरा का अनुसरण करे और चिकित्सा–शिक्षा लेकर यशस्वी चिकित्सक बन जाएगा। सन 1946 में उन्होंने पेरिस के प्रतिष्ठित ईकोल नोर्माल सुपीरियर में दाखिला लिया। सन 1845 में स्थापित हुआ, यह संस्थान मूलतः अध्यापकों के लिए शैक्षिक महाविद्यालय था, लेकिन बहुत ही कम समय में उसने फ्रांस के सर्वोत्तम संस्थानों में अपनी जगह बना ली और फ्रांस के शीर्ष बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक और राजनीतिज्ञ और यहां तक कि नोबेल पुरस्कार विजेता भी दिये। लुई पाश्चर, ज्याँ पाल सार्त्र आदि इसी संस्था के पूर्व छात्र थे। सन 1950 में मिशेल फूको, उस समय के तमाम अन्य स्वाभिमानी, और क्रांतिकारी छात्रों के तरह, ईकोल के स्थानीय साम्यवादी पार्टी के प्रकोष्ठ से जुड़ गए। हालाँकि, उनका साम्यवादी पार्टी से जुड़ने का निर्णय, इण्डो–चाईना में चल रहे युद्ध से जुड़ी घटनाओं से प्रभावित था, परंतु, उनका कार्यकाल अत्यधिक उत्साहजनक नहीं

रहा—वे यदा—कदा ही पार्टी की बैठकों में भाग लेते थे और सन 1953 में उन्होंने पार्टी छोड़ दी, जब सोवियत संघ में कुछ यहूदी डॉक्टर कथित तौर पर राजद्रोह के लिए कारावास में डाल दिये गए। (मिशेल फूको के साम्यवादी पार्टी छोड़ने के इस प्रसंग का विवरण, इसी अंक में दिये गए मिशेल फूको के साक्षात्कार में विस्तार से है—अनु.) दिलचस्प बात यह है कि मिशेल फूको का यहूदियों के प्रति द्वेष, पूर्वाग्रह और भेदभाव की भावना की सीधी अस्वीकृति, उनकी जीवन यात्रा में, काफी बाद में सामने आई। सन 1982 में, पेरिस में, एक प्रसिद्ध यहूदी रेस्तरां पर एक गंभीर आतंकवादी हमले के पश्चात, जिसमें कि कई लोग घायल हुये और कई मारे गए, फूको, आतंकवाद के विरोध में, एक संकेत के रूप में, जितना हो सकता था, उतना वहाँ जाते थे और खाना खाते थे। परंतु, चलिये, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के, फ्रांस के राजनीतिक और बौद्धिक परिवेश की ओर पुनः लौटते हैं। दक्षिण पंथी विचार धाराएँ, जिन्होंने मातृभूमि से लगाव, पारंपरिक कुटुंबीय मूल्यों और सत्ता और सेना के सम्मान की बात की थी, वे जर्मन आधिपत्य और उसके पश्चात, वृद्ध होते प्रथम विश्व युद्ध के नायक मार्शल पितां के नेतृत्व में बैठाई गई कठपुतली सरकार के कार्यों के कारण, निर्ममता से लज्जित की गई थी। दक्षिण पंथी राजनीतिक दर्शन के ढहने से उत्पन्न शून्य को, प्रारम्भ में विभिन्न प्रकार के वाम पंथी, मार्क्सवादी, कैथोलिक और अस्तित्ववाद के नास्तिकतावादी संस्करणों ने भरने की कोशिश की। साम्यवादी पार्टी ने, जिसने कि (थोड़े विलंबे से ही सही) प्रतिरोध में अपना योगदान दिया, उस योगदान के फलस्वरूप जन साधारण की दृष्टि में एक यशस्वी और शानदार छाप स्थापित कर ली थी। दक्षिण पंथी राजनीतिक दर्शन के अवशेष, हालाँकि, फिर भी, विशेष तौर पर, चार्ल्स द गॉल की नीतियों और सिद्धांतों में जीवित थे। ये सारे भिन्न—भिन्न आंदोलन, 'मानवतावाद' के एक विस्तृत छत्र में समूहबद्ध कर दिये गए थे। इस दर्शन की मुख्य धारणा यह थी कि, 'मानवीय प्रकृति' जैसा कुछ ही यह निर्धारित करता है कि जनता किस प्रकार विश्व में रहे और जिये। 'मानवीय प्रकृति अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार, या तो ईश्वर—प्रदत्त थी, या एक प्रकार का प्राकृतिक जैविक साँचा थी, जो कि पूरे इतिहास में सतत् थी, और जिसे कि शनैः शनैः उद्घाटित किया जा सकता था और जिसे मानवीय और भौतिक विज्ञानों के प्रयासों द्वारा, या अगर कोई साहित्यिक या दार्शनिक रुझान का हो तो, कलात्मक और दार्शनिक आत्म— निरीक्षण की प्रक्रिया के द्वारा, परिभाषित भी किया जा सकता था।

हालाँकि, 1950 के दशक के अंत में, फ्रांस और फ्रांस के बाहर की कई घटनाओं, जैसे कि ख्रुश्चेव रपट, जिसने कि स्टालिन की नीतियों और सिद्धांतों की निंदा की थी, अल्जीरिया का युद्ध, और हंगेरियन क्रान्ति का साम्यवादी दमन, ने बुद्धिजीवियों के हलकों के बीच, एक व्यापक मोह—भंग को जन्म दे दिया था जिसके परिणामस्वरूप, कइयों ने प्रत्यक्ष राजनीतिक मुद्दों से अपना मुँह मोड़ लिया और उन 'वैज्ञानिक' क्षेत्रों की छान—बीन करने लगे, जो कि विचारधारात्मक रूप से तटस्थ थे और जो तात्कालिक प्रसंग थे। इन युवा बुद्धिजीवियों ने, मानवतावादी दृष्टिकोण, जो कि उन्हें राजनीतिक रूप से समझौतावादी और प्रचलन से बाहर लगता था, उसे रद्द कर दिया। इस नए आंदोलन के एक सदस्य थे, मिशेल फूको, जो इस काल खण्ड के संबंध में टिप्पणी करते हैं :

"युद्ध के अनुभव ने हमें एक ऐसे समाज की अविलंब आवश्यकता दर्शाई थी, जो कि

जिस समाज में हम रह रहे हैं—वह समाज जिसने कि नाजीवाद को अनुमति दी थी, उससे पूर्णतः भिन्न हो... फ्रांसीसी युवा के एक बहुत बड़े हिस्से की उस सबके प्रति घृणा की प्रतिक्रिया थी।"

इस नए आंदोलन को अखबारों ने 'संरचनावाद' का नाम दिया था।

आम तौर पर कहा जाये तो, 'संरचनावाद' इस विचार को रद्द करता है कि 'सार्वभौमिक मानवीय प्रकृति' जैसा कुछ है, जो कि सारे इतिहास और अस्तित्व की व्याख्या कर सकता है। 'संरचनावादियों' का यह तर्क था कि, 'अर्थ' का निर्धारण, वस्तुओं के अंतरसबंध से होता है— वह स्वयं 'वस्तुओं' में स्थित नहीं है। बजाय यह खोजने की कोशिश करने के कि 'मनुष्य' का वास्तव में अपना 'सार' क्या है, 'संरचनावादियों' की रुचि, ज्ञान, संस्कृति, समाज और भाषा की आधारभूत 'संरचनाओं' को समझने में थी। तो, उदाहरण के लिए, रोलां बार्थ, यह तर्क देते हैं कि 'लेखक' सिर्फ भाषा का 'वाहक' है, वह भाषा जिसकी कि पहले से ही, जब लेखक ने लिखना भी प्रारम्भ नहीं किया था, तब से ही अर्थ और संरचनाएँ हैं। मार्क्सवादी चिंतक, लुई अल्थुसर ने यह सुझाव दिया कि इतिहास महज एक प्रक्रिया है जिसे लोग क्रियान्वित करते हैं— वे एक व्यक्तिगत स्तर पर उसके प्रभारी नहीं हैं।

मिशेल फूको का काम, विचार के इस आंदोलन में बिलकुल ठीक बैठता था। अगर हम उनके काम को उसकी विषयों के रूप में देखें तो वह इस प्रकार होगा : सन 1950 और 1960 के दशक में, फूको का प्रारम्भ का काम, विज्ञान के इतिहास और विज्ञान के दर्शन के व्यापक क्षेत्रों में रहा है। सन 1970 के दशक में, उन्होंने अपना ध्यान प्रत्यक्ष रूप से संस्थानों और 'राज्य' के इतिहास पर एकाग्र किया। फिर सन 1980 के दशक में, वे नैतिक तंत्रों के इतिहास की जांच—पड़ताल में जुट गए। उन्होंने, साहित्य और कला, हिस्टोरियोग्राफी (इतिहास के लेखन और लिखे हुए इतिहास का अध्ययन—अनु.), समसामयिक विषयों और राजनीति पर भी लिखा। मूल, ध्यान देने योग्य शब्द यहाँ 'इतिहास' है। कहना न होगा कि फूको, उतने ही इतिहासकार भी थे, जितने की वे दार्शनिक। वे, ज्ञान की ऐतिहासिक प्रणालियों में, प्रतिमानों की व्यवस्था को, बिना अस्पष्ट श्रेणियों, जैसे 'जीनियस', 'प्रगति', 'तर्क—संगतता', 'कारण', और 'प्रभाव' में आयोजन के सहारे पहचानने के लिए उत्सुक थे। व्यवस्था के ये प्रतिमान, उनके तर्क के अनुसार, 'काल' और 'स्थान' के प्रति पूर्णरूपेण विशिष्ट हैं, हालाँकि, उनका प्रयोग, 'कल क्या होगा?' यह जानने में नहीं किया जा सकता, परंतु, ये उस 'आधार' को समझने के लिए उपयुक्त हैं जिन पर हमारे आज के 'समाज' टिके हुए हैं और उन रास्तों को सचेत ढंग से खोलने के लिए भी, जो संभाव्य परिवर्तन की दिशा में जाते हैं। परंतु, हम यहाँ पर संभवतः अमूर्तता की तरफ भटक रहे हैं, और यह एक उपयुक्त बिन्दु होगा जहाँ से हम फूको के काम के वास्तविक और ठोस कथ्य की ओर देखना प्रारम्भ करें।

फूको ने अपना पहला काम, सन 1954 में, मनोविज्ञान पर प्रकाशित किया था, परंतु उन्होंने व्यापक ध्यानाकर्षण, अपनी पुस्तक 'मैडनेस एंड सिविलाइजेशन' के प्रकाशन से, सन 1961 में किया। 700 पृष्ठों के इस वृहद खण्ड का अँग्रेजी में अनुवाद, अभी सन 2006 में जा कर ही हुआ है। इस कृति में, फूको, तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के कालखण्ड में, पाश्चात्य जगत ने किस तरह 'पागलपन' का सामना किया, इस इतिहास का अनुसंधान करते हैं। उनका कार्य, अनुशासनों के एक व्यापक दायरे को जिसका विस्तार एक

तरफ कला और साहित्य से लेकर, विज्ञान, औषधि–विज्ञान, और अर्थशास्त्र तक को सम्मिलित करता है। फूको, जो 'पागल' कहे जाते हैं उनकी दुर्दशा के प्रति सहानुभूति रखते हैं, और उन्होंने यह तर्क दिया कि 'मनोरोग' के रूप में 'पागलपन' की आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा, निश्चित तौर, मानव इतिहास में आवश्यक रूप से एक स्पष्ट प्रगति नहीं है। अगर उनकी इस पुस्तक ने प्रारम्भ में, लोगों पर कोई खास प्रभाव नहीं डाला, लेकिन सन 1960 के दशक में उसकी बिक्री कई गुना बढ़ गई, विशेषकर जब फूको की नई पुस्तक 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स' प्रकाशित हुई और अत्यधिक चर्चित हुई, और इसके साथ ही साथ, हाशिये पर डाल दिये गए समूहों और उनके अनुभवों के बारे में, लोगों की उत्सुकता जागृत हुई। सन 1969 में, फ्रांस में, परंपरागत मनोचिकित्सकों के एक समूह ने तो इस पुस्तक और उसमें वर्णित मानसिक रोगों की चिकित्सा की, कुछ हद तक संशयग्रस्त उत्पत्ति की, अप्रसन्न करने वाले वर्णन की निंदा के लिए, एक समूचे सम्मेलन का ही आयोजन कर डाला। मनश्चिकित्सा विरोधी आन्दोलन ने तो इस पुस्तक को अपने से चिपटा ही लिया, और मनश्चिकित्सा विरोधी डेविड कूपर ने तो इसके, सन 1967 में छपे अंग्रेजी अनुवाद के संस्करण की प्रस्तावना भी लिखी। भले ही फूको उस आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखते थे, परंतु उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि उनका काम, वास्तव में, इस आंदोलन की सीमाओं के भीतर ठीक–ठीक नहीं बैठता है। यह अंतर इस बात में था कि, जहाँ मनश्चिकित्सा विरोधी यह दावा करते थे कि 'पागलपन', सामाजिक बहिष्कार के फलस्वरूप उपजता है, फूको का यह मानना था कि उस व्यवहार को जिसको कि हम 'पागलपन' या मनोरोग के संकेतों के रूप में ले सकते हैं, का एक ठोस जैविक आधार है।

यह एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। फूको के काम से संबन्धित एक भ्रांत अवधारणा यह है कि वे तथाकथित आख्यान के एवज में ठोस यथार्थ की अनदेखी कर देते हैं। इस भ्रांत धारणा के अनुसार, वस्तुएँ, वास्तविकता का अधिग्रहण, या तो वे सामाजिक अभ्यासों के फलस्वरूप करते हैं, या फिर तब, जब उनके बारे में चर्चा की जाये। फूको की, इसके ठीक विपरीत, धारणा यह है कि दरअस्ल, एक दुःसाध्य भौतिक यथार्थ है– परंतु, जिस तरह हम उसका वर्णन करते हैं, उस पर परस्पर प्रभाव डालते हैं, और जिस तरह उस पर स्वयं को एकाग्र करते हैं, यह सब अपने आप में परिवर्तनशील है और किसी भी प्रकार से स्थिर नहीं है। और इस प्राकृतिक स्तर को पकड़ने का सिर्फ एक ही रास्ता है, और वह है उन जटिल संस्कृतिक और वैचारिक युक्तियों और साधनों के समूह को प्रयोग में लाना, जो कि ऐतिहासिक कालखंड और संस्कृति के अनुसार व्यापक रूप से भिन्न हैं। फूको, यह तर्क रखते हैं कि, जिस प्रकार से हम शब्दों और विचारों को जोड़ते हैं, वह अपने आप में प्रकट नहीं है, और ऐसा कोई भी सरल तरीका नहीं है, उन सारी कड़ियों को सर्वथा के लिए प्रकट करने का, जो कि हम शब्दों (या ज्ञान) और विचारों के बीच जोड़ते हैं। अगर निश्चितता का अभाव किसी को निराश कर देता है, तो वहीं दूसरी ओर फूको, इसे आशावाद की एक वजह के रूप में देखते हैं। वे विचार और अभ्यास, जो लोगों पर दमनात्मक और अनुचित प्रभाव डालते हैं, और ज्ञान और विज्ञान के अंतर्गत सीमित प्रभाव डालते हैं, हमेशा बदले जा सकते हैं। किसी कृत्रिम सत्य–भले ही वह वैज्ञानिक, धार्मिक या राजनतिक हो, के नाम पर हम, जन संख्या के वृहद समूहों को, जीवन भर की दुर्गति के लिए नहीं अभिशापित कर सकते। फूको लिखते हैं" रू "यह मेरा एक लक्ष्य है, लोगों को यह दिखाना कि बहुत सारी वस्तुएँ, जिनके बारे में लोग सोचते हैं कि वे सार्वभौमिक हैं, और जो कि उनके

परिदृश्य का भाग हैं, वे बहुत सटीक ऐतिहासिक परिवर्तनों के फलस्वरूप हैं। मेरे सारे विश्लेषण, मानवीय अस्तित्व में सार्वभौमिक आवश्यकताओं के विचार के विरुद्ध हैं।"

यहाँ यह तर्क नहीं है कि 'सत्य' जैसा कुछ नहीं है। फूको, यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि वे, 'सारे सत्यापित किए जा सकने वाले सत्यों को संशयात्मक या सापेक्षतावादी रूप से नकारने में नहीं लगे हैं'। बल्कि, उनकी रुचि इसमें है कि, वे कतिपय उन विशिष्ट सांस्कृतिक और ऐतिहासिक नियमों की जांच–पड़ताल करें जो यह नियंत्रित करते हैं कि किस तरह लोग 'सत्य' तक पहुँच सकते हैं और किस तरह 'सत्य' किसी सामाजिक निकाय में वितरित होता है। उदाहरण के लिए, हम यह देख सकते हैं कि समाज में, कौन–कौन (पुरोहित, वैज्ञानिक, विशेषज्ञ, पत्रकार, हर प्रकार के चिकित्सक) सत्य बोलने के लिए अधिकृत हैं। हम उन पद्धतियों की, जिनका उन कथनों (वैज्ञानिक शोध, ऐतिहासिक शोध, चिकित्सकीय या धार्मिक आत्मनिरीक्षण) को, जिन्हें कि हम 'सत्य' के रूप में मान्यता देते हैं, के उत्पादन और संयोजन की वैधानिकता स्वीकृत है, का विश्लेषण भी कर सकते हैं। तीसरे, हम उन संस्थानों (विद्यालय, मंदिर, राजनीतिक पार्टियां, विशेषज्ञों के विद्यालय, अकादमिक पत्र–पत्रिकाएँ, संचार माध्यम) को केंद्र–बिन्दु बना सकते हैं जो कि सत्य के विपणन के लिए सामाजिक रूप से अधिकृत हैं।

यह एक समयानुकूल बिन्दु है जहां हम उस विचार का परिचय दे सकते हैं जो कि पक्के तौर पर फूको के नाम के साथ सम्बद्ध है, वह विचार है 'सत्ता या अधिकार' का। फूको, 'अधिकार' की परिभाषा कुछ इस प्रकार देते हैं। वे क्रियाओं की एक 'संरचना' द्वारा, क्रियाओं की एक दूसरी 'संरचना' को, रूपांतरित करने की क्षमता को 'अधिकार या सत्ता' कहते हैं। यह ऐसा कुछ नहीं है कि जिस पर स्वामित्व पाया जा सके, बल्कि, यह अस्तित्व में तभी आता है, जब इसका प्रयोग किया जाये। फूको के मतानुसार, 'सत्य' का उत्पादन और परिनियोजन, 'अधिकार' के प्रयोग से, आंतरिक रूप से जुड़ा हुआ है। सामान्यतः, प्लेटो के समय से यह विचार चला आ रहा है कि 'सत्ता या अधिकार' और 'सत्य', एक वर्णक्रम के दो विपरीत ध्रुव हैं। परंतु, इस तर्क के विरोध के लिए हमारे लिए, शोध के लिए दिये जाने वित्तीय अनुदान की राजनीति पर एक फौरी दृष्टि डालना ही पर्याप्त रहेगा। स्पष्टतः, चिकित्सा–विज्ञान का एक शोधार्थी, जो कैंसर जैसे प्रचलित विषय पर शोध कर रहा है, और समुचित रूप से वित्तीय अनुदानों के द्वारा पोषित है, 'सत्य' जैसे कुछ को अत्यधिक प्रकट कर पाएगा, बजाय एक शोधार्थी के, जिसके पास उतने वित्तीय अनुदान नहीं हैं और जो फाइब्रोमाएल्जिया, जैसे 'अनाकर्षक' और अप्रचलित विषय पर शोध कर रहा है। फूको, 1963 की अपनी पुस्तक, 'द बर्थ ऑफ द क्लीनिक' में, फ्रांस में सन 1769 से 1825 के मध्य हुए, आधुनिक लाक्षणिक चिकित्सा के उत्थान के संदर्भ में, यही मुद्दा उठाते हैं, और औषधि–विज्ञान के विज्ञान के रूप में गठन को, अपने समय के जटिल राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक कारकों से जोड़ते हैं। फूको सतर्कता बरतते हुए, इस ओर इंगित करते हैं कि, इन तत्वों की भागीदारी, विज्ञान के आंतरिक वैचारिक प्रविधि या व्यवस्थित ज्ञान के अन्य रूपों को, अमान्य नहीं करती है। संक्षेप में, ज्ञान और विज्ञान, भौतिक और बाह्य जगत के संबंध में, फिर भी, परिचालित रहते हैं।

फूको की अगली पुस्तक, 'द ऑर्डर ऑफ थिंग्स', जो कि सन 1966 में प्रकाशित हुई, तुरंत ही सर्वाधिक बिक्री वाली सिद्ध हुई। उस पुस्तक के आते ही उसका स्वागत, नव

संरचनावादी आंदोलन के घोषणा पत्र की तरह हुआ– भले ही बहुतेरे लोगों ने, जिन्होंने वह पुस्तक खरीद ली हो लेकिन वे उसके पहले पृष्ठ से आगे भी न बढ़े हों– और एक वाजिब वजह के कारण। फूको, की यह संभवतः, सबसे कठिन और विचार वैशिष्ट्य की पुस्तक है, जो अर्थशास्त्र, जीव–विज्ञान और भाषा–विज्ञान के इतिहासों के बारे में बात करती है। पत्रकारों ने उसके विशिष्ट कथ्य को नजरअंदाज किया और फूको के उन उकसाने वाले कथनों पर स्वयं को एकाग्र किया, जैसे कि मार्क्सवाद, बच्चों के पैर छपछ्पाने वाले तरण–ताल में उठने वाले छोटे से तूफान से अधिक कुछ नहीं था, और यह कि वह 'मानव', जो मानवतावादियों का श्रद्धेय था, अगर पूरी तरह मर नहीं चुका था तो, मरने के निकट था। इस तरह के कथनों ने, दोनों खेमों, संरचनावादी और मानवतावादी, में विवाद के लिए पर्याप्त उर्वर भूमि प्रदान की।

इस पुस्तक के प्रकाशन के दो वर्ष पश्चात, सन 1968 में, पूरे विश्व में छात्र आंदोलन, प्रस्फुटित हो गए। प्रसंग से इतर, जिस तरह हम अमेरिकी संस्कृति की बढ़ती हुई व्यापकता देख रहे हैं, उसी तरह अभी हाल ही तक, सन 1968 में पेरिस में हुई घटना को 'प्रतिष्ठित' माना जाता था, अब अमेरिका, विश्व मंच पर, और साथ ही साथ अन्य कई सांस्कृतिक और ऐतिहासिक क्षेत्रों में, अपनी उपस्थिति दर्शाने के लिए धक्कामुक्की कर रहा है। बहरहाल, पुनः फूको पर लौटें। फूको उस समय ट्यूनीसिया में रह रहे थे, और छात्रों के साथ जो हुआ– मारपीट, प्रताड़ना, और राजनीतिक प्रणालियों में महज बाधा उत्पन्न करने के लिए वर्षों का कारावास– उससे वे अत्यधिक व्यथित हुए। उन्होंने स्वयम ने भी जोखिम उठाया– उन्होंने अपने घर में छात्रों द्वारा संचालित एक प्रेस को जगह दी– यह एक ऐसा काम था कि अगर वे पकड़े जाते तो उन्हें इसके गंभीर परणाम भुगतने पड़ते। वे सन 1968 के अंत में, एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता बनने और भागीदारी करने के दृढ़निश्चय के साथ, फ्रांस लौट आए। ऐसा करने में वे अकेले नहीं थे, सन 1968 ने सिर्फ बुद्धिजीवियों ही नहीं, बल्कि छात्र, सामाजिक रूप से वंचित कई दूसरे समूहों के कार्यकर्ताओं, का राजनीतिकरण देखा और सामान्य सामाजिक अशांति और प्रतिवाद के एक दशक की शुरुआत की।

सन 1970 के दशक के दौरान, सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करती हुई, बौद्धिक और अतिवादी, दोनों तरह की गतिविधियों में, फूको सबसे आगे पाये जाते थे। प्रदर्शनों में भाग लिया, समितियों की अध्यक्षता की, असंख्य याचिकाओं पर अपने हस्ताक्षर किए, और कई समूहों, जो की बंदियों, स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं, और अप्रवासियों की सहायता करते थे, में भागीदारी की और कईयों की स्थापना भी की। आश्चर्यजनक रूप से, फ्रांस में कोई वामपंथी आतंकवादी समूह उत्पन्न नहीं हुआ, हालाँकि, जैसा कि सन 1970 के दशक में इटली और जर्मनी के परिदृश्य में प्रकट हुआ। उस समय ऐसे कुछ प्रस्ताव जरूर थे, कि ऐसा फूको और दूसरे बुद्धिजीवियों, जिन्होंने फ्रांस के उन मसलों की हालत में योगदान दिया, के शांत और संयमित प्रभाव के कारण हुआ। सन 1975 में, कारागारों की स्थिति के बारे में उनकी सक्रियता के चलते, फूको ने सन 1757 से लेकर सन 1838 में, फ्रांस में, कारागारों की आपराधिक दण्ड के रूप में सार्वभौमिक स्वीकृति का इतिहास प्रकाशित किया। इस पुस्तक का शीर्षक था 'डिसिप्लिन एंड पनिश'। यह निस्संदेह फूको का सबसे ख्यात और सबसे प्रभावशाली काम है। कारागार को उदाहरण की तरह प्रस्तुत करते हुए वे, उस समाज के उद्भव का खाका खींचते हैं, जिसे वे 'अनुशासनात्मक समाज' कहते हैं, जिसमें कि आबादी के वृहद समूहों को, उस तरह से कार्य करने के लिये

प्रशिक्षित किया जाता है, जिससे कि वे सरलता से प्रबंधित किए जा सके। संस्थान जैसे कि, विद्यालय, कारागार, सैनिकों के लिए बने बैरक, कारखाने, और अस्पताल, ये सारे संस्थान, अपने स्थापत्य, दैनंदिन, और शारीरिक हाव–भाव और गतिविधियों के अनुशासन से, इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए एक वाहिका की तरह कार्य करते हैं। अनुपालन की आश्वस्ति, निगरानी की जटिल प्रणालियों के द्वारा आश्वस्त की जाती है।

सन 1976 में, फूको ने 'हिस्ट्री ऑफ सेक्स्युआलिटी' का पहला खंड प्रकाशित किया। यह पुस्तक, यह तर्क रखती है कि, बजाय यौनिकता के दमन के, आधुनिक योरपीय विचार– उससे निपटने के लिए, वैज्ञानिक और संस्थागत श्रेणियों की तादाद में बढ़ोतरी करते हुए, अनवरत उसकी चर्चा करता रहता है। वे, उन विचारों की रूपरेखा रखते हैं, जो यह बताते हैं कि किस तरह किसी सामाजिक निकाय या संस्था में, 'अधिकारों का प्रयोग और प्रतिरोध' होता है, और इस प्रकार वे, 'बायोपावर' की अवधारणा, जिसने कि हाल ही के वर्षों में टीकाकारों के कार्यों में यथेष्ट प्रतिष्ठा अर्जित की है, को प्रस्तुत करते हैं। 'बायोपावर' से फूको का अभिप्राय है, आधुनिक 'राज्य' के द्वारा जन संख्या में होने वाले जन्म, मृत्यु, प्रजनन, और बीमारियों के प्रबंधन का। 1970 के दशक के उत्तरार्ध में फूको ने 'गवर्नमेंटालिटी' की प्रस्तावना की, यह शब्द अँग्रेजी के दो शब्दों 'गवर्नमेंट' यानि सरकार और 'रेशनालिटी' यानि तर्क–संगतता के युग्म से बना है। फूको ने इस शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में, आधुनिक योरपीय इतिहास में, 'राज्य' की अवधारणा के उदय के संदर्भ में, जनसमूहों पर शासन के विशिष्ट तरीकों के वर्णन करने में किया था। बाद में उन्होंने इस शब्द की परिभाषा में विस्तार करते हुए, उन तकनीकों के वर्णन को भी शामिल कर लिया जो कि लोगों के दैनंदिन के कार्यकलापों और हर सामाजिक स्तर पर उपलब्ध स्वतंत्रताओं को दिशा देती हैं। यह विचार बहुत प्रचलित हुआ है, और इसने पूरे विश्व में एक उद्योग को जन्म दिया जो कि इस विचार को अधिकारी–वर्ग के पेशे और संचालन के विकास पर लागू करता है।

सन 1980 के दशक में, फूको ने अपना ध्यान, पश्चिम में नैतिक व्यवस्थाओं के इतिहास पर केन्द्रित किया और उन्होंने प्राचीन ग्रीक और रोमन दर्शनिकों के कार्य की जाँच–पड़ताल की। अब तक, हमेशा से, उनके चुनाव का ऐतिहासिक कालखण्ड, योरप में सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी रहा है। पुनः, उनका यह कार्य भी अत्यधिक प्रभावी रहा, इस कार्य ने टीकाकारों को इस बारे में चिंतन के लिए ऐतिहासिक उपकरण उपलब्ध कराये, कि किस तरह मानव जाति स्वयं को उस 'सत्ता' की तरह, जो कि चयन कर सकती है कि हम अपने बाह्य परिवेश और एक दूसरे के साथ पारस्परिक कैसे कार्य करें, आकार देती है। सन 1984 में, मृत्यु के एक महीने पहले उन्होंने 'हिस्ट्री ऑफ सेक्स्युआलिटी' के दो और खंड प्रकाशित किए। इन खंडों में उन्होंने, यौनिकता के प्रति प्राचीन ग्रीक और रोमन रवैयों और नीति–शास्त्रों को, जो कि दर्शन के कई ग्रन्थों में उल्लेखित हैं, की विवेचना की।

तो, इस सबसे हम, उस प्रकार की टिप्पणियों के संदर्भ में जिनकी रूपरेखा मैंने इस आलेख के प्रारम्भ मे रखी थी, क्या निष्कर्ष निकालें? फूको के काम को गंभीरता से क्यों लिए जाते रहना चाहिए? इसमें कोई संदेह नहीं कि फूको का काम कठिन है। वे स्वयं ही यह स्वीकारते हैं कि उनकी लेखन शैली जटिल है, परंतु, उसके साथ ही साथ यह तथ्य भी है कि, इस प्रकार का लेखन जो कि विचार के संयोजन के परंपरागत तरीकों को चुनौती देता है,

निश्चित रूप से पाठक की ओर से भी श्रम की आकांक्षा करेगा। फूको निश्चित रूप से एक पढ़े–लिखे और निस्संदेह विशिष्ट पाठक के लिए लिख रहे थे, और बिना इस पृष्ठभूमि के उनके कुछ कार्यों को समझना कठिन है। इसके साथ, उनके काम को अँग्रेजी में पढ़ना, दोनों, भाषा और सांस्कृतिक मान्यताओं के अनुवाद में आने वाली कठिनाइयों से जूझने की आवश्यकता पर भी बल देता है। यह जटिलता, फूको के काम को भ्रांतियों और उसके त्रुटिपूर्ण निरूपण की ओर भी ले गई हैं। फूको ने स्वयं इसके बारे में शिकायत की है, उनकी पुस्तकों के 'आप्त वाक्यों और नारों' में विघटन के बारे में बात करते हुए, और इस बारे में भी बात करते हुए कि लोगों ने उनके काम के बारे में अपनी धारणा, दूसरे दर्जे के साहित्य को पढ़ कर बनाई है, बनिस्बत उसके मूल पाठ को पढ़ने के।

फूको के व्यक्तिगत जीवन और उसके उनके कार्य से संबंध के बारे में प्रश्न, अत्यधिक जटिल और दीर्घकाल से दुहराये हुए, उन प्रश्नों को उठाते हैं, जो कि किसी लेखक और उसके कार्य के संबंध में उठाए जा सकते हैं और साथ ही साथ, समकालीन समाज में समलैंगिकता के प्रति समाज के रवैये के बारे में उठाए जा सकते हैं। उनके व्यवहार के बारे में लगाए गए अत्यधिक निंदनीय अभियोग, किसी भी प्रकार के साक्ष्यों और प्रमाणों द्वारा समर्थित नहीं हैं, और इसके साथ ही साथ यह भी स्पष्ट नहीं है कि यथार्थ में उनके कार्य के विषय–वस्तु में कोई निहितार्थ रहा हो। किसी भी लेखक के कार्य को 'एड होमिनम' तर्कों से रद्द करना, वाग्मिता की एक प्राचीन और संदिग्ध गुण वाली युक्ति रही है। कलात्मक और बौद्धिक उत्पाद, का उत्थान और पतन उनकी स्वयं की ही शर्तों पर होना आवश्यक है और सामान्यतः यह किसी भी रचना–कर्म के लिए एक ऐतिहासिक परीक्षण होता है।

लोग फूको के दृष्टिकोण से इतने व्यथित क्यों हो जाते हैं और उनका निरूपण एक ऐसे व्यक्ति के रूप में करने लगते हैं, जो सत्य को कदापि सम्मान न देता हो? मूलतः बात यह है कि, जो भी पारंपरिक रूप से 'सत्य' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसे उसके अंकित मूल्य पर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। ना ही वे इस बात के लिए तैयार थे कि वे लोगों को बताएं कि 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं', जैसा कि दार्शनिकों के आचरण के लिए एक प्रारूप रखा जाता है। उनका दृष्टिकोण यह था कि कई 'तथा–कथित' सत्य जो कि स्वयं–सिद्ध स्वीकार लिए जाते हैं, उनके सटीक ऐतिहासिक मूल हैं, और उन 'सत्यों' को, किसी भी सामाजिक निकाय में 'सत्ता' के उन विशिष्ट विभाजन के हितों की रक्षा के लिए बनाए रखा जाता है। उनका रचना–कर्म इन्हीं प्रक्रियाओं की चौकस ऐतिहासिक जाँच–पड़ताल और खँगालने का था। इससे कई सारे टीकाकारों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि फूको उस सब को ध्वस्त करने के लिए निकल पड़े थे, जिसे कि अच्छे सोच वाले लोग, निर्विवाद रूप से 'सत्य' मानके चलते हैं, और ऐसा करने के लिए फूको किसी भी सीमा तक जाने को तैयार थे, भले ही इसके लिए उन्हें पूर्ण 'गल्प' ही क्यों न ईजाद करना पड़े। यह सच्चाई कि, फूको के विचारों का, विकृत प्रयोग, अक्सर इस बिन्दु की ओर बढ़ जाता है, निश्चित रूप से सहायक नहीं होती है। परंतु, फूको के मूल रचना कर्म की महज फौरी जाँच–पड़ताल ही इस बात का खंडन करने में सहायक होती है। तकनीकी स्तर पर, फूको का रचना–कर्म, ऐतिहासिक पुरालेख संबंधी अन्वेषण की दृढ़ प्रणालियों और तुलना, सत्यापन और उद्धरण के विश्लेषणात्मक पद्धतियों के साथ, अनुभवजन्य शोध पर टिका हुआ है। फूको, पेरिस के राष्ट्रीय ग्रंथालय के परिचित व्यक्ति थे, और कई लोगों

ने उन्हें दिन–रात उस ग्रंथालय के 'रीडिंग–रूम' में पढ़ते देखने का जिक्र किया है। तो, प्रश्न यह उठता है कि, फिर भी यह उन लोगों को विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त नहीं है, जो यह कहते हैं कि फूको का 'सब–कुछ' मनगढ़ंत है? इसका एक कारण यह है कि फूको, उस अनुभवजन्य सामाग्री के साथ काम करते हैं जिसकी कि अक्सर दूसरों के द्वारा अवहेलना कर दी जाती है, और उस सामग्री को नए और अनपेक्षित तरीकों में क्रमबद्ध करते हैं। एक दूसरा कारण, फूको कहते हैं, यह भी है कि, यह अनुभावजन्य सामाग्री, पहले ही एक व्याख्या है, जो कि पहले से ही विशिष्ट तरीकों से चुनी गई, संकलित और व्यवस्थित की गई है। इस विचार कि शोध का 'कच्चा माल' अगर 'नया' नहीं है, तो अपने आप में तटस्थ भी नहीं है, अक्सर सुविधापूर्ण ढंग से उपेक्षा की जाती है, क्योंकि यह विचार दूसरे शोधार्थियों और विश्लेषकों के प्रयासों पर भी प्रश्न उठाता है, क्योंकि वे इस विचार से, उनके स्वयं के काम की नींव को क्षीण होता हुआ पाते हैं।

परंतु, कोई भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकता कि, फूको यह दावा कर रहे हैं कि कुछ भी 'सत्य' नहीं है और जो कुछ भी 'सत्य' जैसा निर्दिष्ट किया गया है, वह सिर्फ 'सत्ता' के हितों की सेवा करता है, और जो कि दूसरों के व्यवहार को सर्वदा हानिकारक दिखाने का प्रयास करता है। बल्कि, इसके बजाय, फूको यह प्रस्ताव दे रहे हैं कि, हमें अत्यधिक सतर्कता के साथ कार्य करने की आवश्यकता है– दोनों ही स्तरों, ज्ञान के स्तर पर या सामाजिक संयोजन के स्तर पर, यथास्थिति की एक सरल स्वीकृति, मिथक, अन्याय और सामाजिक निकाय में यथोचित स्वतंत्रताओं के बंधन की स्वीकृति और स्थायीकरण का कारण बन सकती है।

फूको के रचना–कर्म ने उस कठोर और सख्त हो चुके दृष्टिकोण को मुक्त करने में सहायता दी है, और कइयों को अपने विचारों के पुनर्मूल्यांकन के लिए, बहसों के प्रारम्भ के लिए, और फूको के रचना–कर्म को आधार बना कर दूसरे अनुशासनों के व्यापक दायरे में शोध करने के लिए उकसाया भी है।

फूको मूलरूप से एक आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। किसी भी क्षेत्र में 'वस्तुस्थिति' पत्थर की लकीर नहीं है, बल्कि, कई लोगों द्वारा, समय के एक लंबे अंतराल में की गई क्रियाओं और लिए गए निर्णयों के समूह का उत्पाद है। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तु–स्थिति बदली जा सकती है। वर्तमान में, इस तरह के आशावाद की आपूर्ति न्यूनतम है और मेरे विचार से, यही बिन्दु फूको के रचना–कर्म को पढ़ते रहने का मुख्य कारण है।


मिशेल फूको

जीवन

पुनर्वसु जोशी

मिशेल फूको : एक त्रासद जीवन का हासिल

मिशेल फूको, बीसवीं शताब्दी के ऐसे चिंतकों में से हैं जिन्होंने सदी के उत्तरार्ध्द में अपनी अवधारणाओं और उनसे उपजे विमर्शों से, 'आधुनिकता' के स्वीकृत तर्कों को अपदस्थ कर दिया। 'आधुनिकतावाद' ने, जिस तरह से 'पश्चिम के ज्ञानोदय' से, अपनी शक्ति अर्जित करके, विचारों और तर्कों का, जो भव्य–भवन खड़ा किया था, उसमें सेंध लगा कर, उसे भग्नावशेष में बदलने का काम जिन चिंतकों ने किया, वे कहलाये उत्तर–आधुनिकता के सिद्धान्तकार जिनकी लम्बी फेहरिस्त में, एक नाम मिशेल फूको का भी लिया जाता है। इन्होंने, यह प्रमाणित करने में, कतई

कोई कसर शेष नहीं रहने दी कि, 'ज्ञानोदय' के उस युग में ही, उसके 'नाश की नागरिकता' भी मौजूद थी। लेकिन, वह एक लम्बे समय तक, अ–मुखर ही बनी रही। लेकिन, सदी के उत्तरार्ध्द में, नई दार्शनिक अवधारणाओं का उदय हुआ, और उसने 'ज्ञानोदय' काल के 'समग्रतावाद' को खण्ड–खण्ड किया और उसकी दरारों से, निरन्तर नए–नए प्रश्न निकल कर आने लगे। उन्होंने 'समग्र' को ही संकटग्रस्त कर दिया। लगने लगा, 'ज्ञान' के उस 'आततायी' से लगने वाले युग का यह विदा का समय है।

नतीज़तन, सामाजिक वर्चस्वों के तमाम केन्द्रों में, उथल–पुथल मच गई। विचारों की दुनिया के लिए इसे 'भयाक्रांत' समय बताया जाने लगा। इसे 'कल्चरल मेलन्कली' भी कहा गया। क्योंकि, अवधारणाएँ, जो अभी तक अपने वर्चस्व के शिखर पर थीं, वे आहिस्ता–आहिस्ता ढहने लगी थीं। इस कारण, विचारों की दुनिया में एक नितान्त नए अवसाद ने जन्म लिया। 'अविश्वसनीयता' मूल–भाव की जगह लेने लगी। 'समग्रतावाद' के दुर्ग में ध्वंस शुरू हो चुका था। केंद्रीकृत विश्व, तिरोहित होने की तरफ़ कूच करने लगा। सत्ता विकेंद्रित होती दिखाई देने लगी। 'ट्राईसेक्शन ऑफ पावर' की वकालत की जाने लगी। 'ज्ञान', 'पूँजी', और 'हिंसा' के बाद, अब सत्ता 'देह' में खोजी जाने लगी। 'सत्ता, मनुष्य की कामना का ठोस और मूर्त उत्पाद है'––यह विचार एक सार्वदेशीय विचार बनने लगा। कहना न होगा कि मिशेल फूको, एक दार्शनिक की तरह, इसी हलचल से भरे क्षितिज पर उदय हुए, और 'हिस्ट्री ऑफ सेक्सुयालिटी', 'डिसिप्लिन एण्ड पनिश', 'मेडनेस एण्ड सिविलाइजेशन', 'बॉयोपावर' आदि पुस्तकों ने उन्हें महत्त्वपूर्ण चिंतक के रूप में, एक विशिष्ट पहचान दी।

उन्होंने 'ज्ञान', 'दण्ड', 'औषधि', और 'यौनिकता' जैसे विषयों पर स्वयं को एकाग्र करते हुए जो कुछ लिखा, उसने अमेरिका और ब्रिटेन की युवा पीढ़ी को पर्याप्त प्रभावित किया और वे मादक–द्रव्यों के सेवन तथा यौन–स्वछन्दता को, जीवन की एक नई शैली की तरह अपनाने के लिए तैयार होने लगे। वे निषेध में प्रवेश के लिए, नैतिकता को अवरोध की तरह देखने लगे। मिशेल फूको, दूसरे अन्य दार्शनिकों के साथ, इन सबके पीछे, एक अवेध्य–सी दार्शनिक पृष्ठभूमि के स्थापत्यकार की तरह अवतरित हुए थे। उनके विचारों से, वहाँ के केवल अकादमिक जगत में ही हलचल नहीं मची, बल्कि, कई आन्दोलनकर्ता समूहों ने भी, फूको से जुड़ कर, उनकी अवधारणाओं को चतुर्दिक स्वीकार्य बनाने की पूर्व–पीठिका बनाई। निश्चय ही, इस तरह की अवधारणाओं को आविष्कृत कर लेने के पीछे, फूको के व्यक्तिगत जीवन और उसमें फैली हुई अराजकता की भी, बहुत महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका मानी जाती है।

आरम्भिक वर्षों में, मिशेल फूको के व्यक्तिगत जीवन के बारे में, उनके पाठकों को, बहुत ही न्यूनतम जानकारी थी। उन्होंने स्वयं भी, अपने निजी जीवन के बारे में कहीं ज़्यादा कुछ लिखा ही नहीं, लेकिन मृत्यु के बाद, उनके साहचर्य में रहे कुछेक लोगों की लिखी किताबों से, थोड़ी बहुत बातें बाहर आयी हैं।

पॉल मिशेल फूको का जन्म 1926 के अक्टोबर माह की 15वीं तारीख को हुआ था। वे पश्चिमी फ्रांस के प्वातिए शहर के एक मध्यमवर्गीय परिवार की तीन संतानों में, दूसरे क्रम पर जन्मे बालक थे। पिता चिकित्सक थे और पारिवारिक परम्परा के अनुसार, उनका नाम पॉल फूको रखा गया। लेकिन, उनकी माँ के भावनात्मक आग्रह के चलते, उनके नाम में मिशेल शब्द जोड़ दिया गया। पिता, स्वभाव से एक क्रुद्ध व्यक्ति थे, नतीज़तन, उनके क्रोध से बचने के लिए, पॉल ने दो वर्ष पूर्व ही स्कूल जाना शुरू कर दिया था। स्कूल, उनके लिए, पिता के क्रोध से सुरक्षा की गारण्टी बन गया था। जहाँ वे स्कूल के पुस्तकालय में हर समय बरामद किये जा सकते थे। उन्होंने 1930 से 1936 तक पढ़ाई की और ख़ासकर, भाषा में उनकी कुशाग्रता के चलते, उन्होंने फ्रेंच और ग्रीक में उत्कृष्टता अर्जित कर ली, लेकिन दुर्भाग्यवश गणित में वे हमेशा फिसड्डी ही बने रहे। क्योंकि, इस विषय के उनके अध्यापक, स्वभाव से बहुत रूखे और चिड़चिड़े थे।

जब वे किशोर वय में ही थे कि 1939 में दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया और फ्रांस पर जर्मन नात्जियों का कब्ज़ा हो गया जो 1945 तक बना रहा। हालाँकि, उनके पिता और परिवार ने, इसका विरोध तो किया, लेकिन उन्होंने इसके प्रतिरोध के लिये होने वाले किसी आन्दोलन में, कोई सक्रिय भागीदारी नहीं की। अलबत्ता वे इस तरह के आन्दोलन से दूर ही रहे।

ज्याँ हिप्पोलाइट और लुई अल्थुसर के प्रभाव में आने के बाद युवा मिशेल का झुकाव दर्शनशास्त्र की तरफ़ हो गया और उसे नीत्शे के दार्शनिक विचार खींचने लगे। वे जीवन भर नीत्शे के दार्शनिक वर्चस्व से बाहर नहीं आए। वे फ्रेडरिक नीत्शे को, अनहोली–घोस्ट कहा करते थे। सन् 1966 से 1968 तक उन्होंने ट्यूनीसिया के एक विश्वविद्यालय में पढ़ाया और वहाँ से लौटने के पहले ही, वे पेरिस के एक प्रयोगात्मक विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष हो गए। सन् 1970 में, वे कॉलेज ऑफ फ्राँस से सम्बद्ध हुए और यह सदस्यता, उन्होंने मृत्यु तक बरक़रार रखी। हालाँकि, कई वर्षों तक वे विदेशों में सांस्कृतिक राजनयिक के पद पर भी रहे, और वहीं से लौट कर, उन्होंने अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, 'बर्थ ऑफ क्लीनिक', 'हिस्ट्री ऑफ सेक्स्युआलिटी', और 'मेडनेस एण्ड सिविलाइजेशन' पूरी की जिसने दुनिया भर के चिंतकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। वे कई वामपंथी समूहों से भी जुड़े रहे जो 'नस्लवाद' और 'फासिज़्म' के ख़िलाफ़ थे। वैसे, नीत्शे के दर्शन से प्रभावित होने के कारण, फूको को भी परम्परागत वामपंथियों ने फासिस्ट भी कहा, लेकिन जब उनकी 'आर्कियोलॉज़ी ऑफ नॉलेज' तथा उनकी 'बॉयो–पावर' जैसी किताबें सामने आयीं तो उन्हें उत्तर–आधुनिकतावादी विचार की प्रतिष्ठा मिलने लगी। यहाँ तक कि नव–वामपंथियों ने भी उन्हें अहमियत देनी शुरू की और उन्हें चतुर्दिक प्रतिष्ठा मिलने लगी। उन्होंने 'ज्ञान' और 'सत्ता' के गठजोड़ से, सामाजिक नियंत्रण के सांस्थानिक गढ़न्त पर, एक गहरे सामाजिक सिद्धान्तकार की तरह हस्तक्षेप किया। इसमें उनको, हेगेल के अध्ययन की विशेषज्ञता से पर्याप्त मदद मिली और उन्होंने अस्तित्ववाद और मार्क्स–हेगेल के 'द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त' को नाथ कर, नए निष्कर्ष निकाले। उन्होंने मार्क्सवाद को, 'आत्मनिष्ठता' (सब्जेक्टिविटी) से जोड़ा तो लोगों ने कहा कि वे मार्क्सवाद को बेदख़ल करना चाहते हैं जबकि वे फ्रेंच कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए थे। सन् 1953 में अन्ततः उन्होंने पार्टी छोड़ दी, लेकिन वे अल्थुसर के हमेशा पक्षधर बने।

उनका पूरा जीवन एक विचित्र त्रासदी से भरा रहा। इसके चलते 1948 में जब वे फ्राँस के सबसे ख्यात विश्वविद्यालय ईकोल नोर्माल के छात्र थे तब उन्होंने आत्महत्या की एक असफल कोशिश भी की थी। डॉक्टरों ने बाद में इसका कारण उनके समलैंगिक समूहों के साथ रह कर, मादक द्रव्यों के सेवन को जिम्मेदार बताया था। तब पिता ने राजधानी के सर्वोत्कृष्ट अस्पताल में उनका यथेचित उपचार भी कराया था लेकिन बाद इसके, मृत्यु को लेकर उनके अवचेतन में एक स्थाई गाँठ–सी पड़ गई थी।

फूको के विचारों से फ्राँस के बौद्धिकजगत में एक अपूर्व बौद्धिक चेतना बनी रही। एक अतिक्राम्य बुद्धिजीवी की तरह वे फ्रेंच बुद्धिजीवी बिरादरी के बीच स्वीकारे जाते रहे और राजनीतिक क्षेत्र में, हस्तक्षेपकारी भूमिका रखने वाले लोगों में वाल्टेयर, ईमाइल जोला से लगा कर ज्याँ पॉल सार्त्र तक आते हैं, ठीक इनके बाद मिशेल फूको का ही नाम आता है। नीत्शे को सबसे पहले, जब 1953 में फूको ने पढ़ा, तबसे ही वे ईसाइयत और 'पवित्रतावाद' के विरुद्ध निरन्तर लिखते रहे।

उनका कहना था कि जब किसी के लिए 'ईश्वर मर चुका हो, तब उसके लिए उस धर्म तथा उसके पवित्रतावाद द्वारा निर्धारित, नैतिक–प्रतिमानों की भला क्या प्रासंगिकता हो सकती है?' उन्हें लगने लगा था कि मादक द्रव्यों के सेवन, समलैंगिक सम्बन्धों और आत्महत्या की कोशिशों को लेकर, कोई अपराधबोध अनुभव करने की ज़रूरत नहीं है। उन्होंने 'ज्ञान की सत्ता' को भी अतिक्राम्य माना और 'पागलपन' तथा 'समाज के द्वैधों' पर मुखरता से लिखने और बोलने लगे।

उन्होंने अपनी पुस्तक में बन्दीगृहों को, मनुष्यता के विरुद्ध, सत्ता का आतताई विचार मान कर, उनको ख़त्म किये जाने की वकालत की। उन्होंने 'सत्ता' के गहरे दार्शनिक विमर्श पैदा किए और राजनीति जो कि आपातमस्तक स्वयं के नियंत्रण में रहने के साथ ही, वह सब को भी नियंत्रित करती है। बन्दीगृह और पागलख़ाने, सत्ता के उस विमर्श के उत्पाद हैं, जिसमें मनुष्य को मात्र प्रबन्धन के केंद्र में एक 'वस्तु' की तरह देखा जाता है, वह हरेक का 'ऑब्जेक्टीफिकेशन' अर्थात् 'वस्तुकरण' करती है। उसकी प्रपंचकारी भूमिका, दोनों स्तरों पर चलती है, अर्थात् प्रकट और अप्रकट। वह अपने विमर्शों की श्रृंखला में, 'जैव–सत्ता' के निकट पहुँच कर, मनुष्य को भी प्राणी जगत के एक जीव की तरह देखते हैं। वहाँ, 'देह' का भी वस्तुकरण हो जाता है। सत्ता द्वारा, 'कामना', 'इच्छा', और 'मांग' में वर्गीकृत होती मानव चेतना, अपने कर्ता का ऐसा विषयीकरण करती है कि वह समस्याग्रस्त हो जाता है। वे 'ज्ञान' और 'सत्ता' के समीकरण में, विषय (कर्ता) के विलोपन की ओर संकेत करते हैं। दरअस्ल, उनका सबसे सूक्ष्म बौद्धिक आकलन तो, उनकी मृत्यु के बाद आरम्भ हुआ।

अपनी मृत्यु के बाद तो मिशेल फूको पर, अकेले अमेरिका में ही लगभग, सौ बड़े चर्चित लेखकों और चिन्तकों की पुस्तकें प्रकाशन में आईं, और उनके विचारों को आधुनिकता के 'संश्लिष्ट पाठ' की तरह देखा गया। उनके विचारों में 'व्यक्ति' सत्ता की अमानविक कार्यवाहियों का अप्रकट शिकार होता है, और वह इस बात को जान ही नहीं पाता। इसलिए एक उदार जनतंत्र की संरचना ज़रूरी है। 'द पैशन ऑफ मिशेल फूको' शीर्षक से आई पुस्तक में, जेम्स मिलर ने यह प्रतिपादित करनी की चेष्टा की है कि किस तरह से वे अपने जीवन को ही, एक कला–चेष्टा में बदलने का यत्न करते रहे। वे व्यक्ति की निजता के निरन्तर होते चले जाने वाले 'विलोपन' को लेकर बहुत चिन्तित थे। हमें अपनी मूल्य–मीमांसा के साथ, जीवन में जीना और कार्य करना चाहिए। इसलिए, ताकि हम स्वयं के प्रति सच्चे और विश्वसनीय रहें। फूको ने, सामान्य से अतिक्रमित होते हुए, तमाम निषेधों को लाँघकर, नीत्शे के चिंतन के सत्य में, स्वयं की खोज की। मार्की दु साद के 'पोर्नोग्राफिक' रचनाओं को भी, उन्होंने गहरे सजग पाठक की तरह पढ़ा और उदार जनतान्त्रिक दृष्टि में जाकर, उनका विवेचन किया।

अपनी जीवन शैली की वजह से फूको को बहुत आसानी से ख़ारिज किया जा सकता था। 'पापियों से मैत्री करो' और उन लोगों के मिथ्या दम्भ को तोड़ो जो स्वयं को पुण्यवान् प्रतिपादित करते हैं। हमें सिर्फ, पवित्र गन्थ के प्रति विश्वसनीय रहना चाहिए क्योंकि वह पाप के लिए पश्चाताप प्रकट करने पर क्षमा कर देता है। सलीब पर चढ़ा दिये गए देवता के मूर्खतापूर्ण संदेश का कोई अर्थ नहीं रह गया है। इसलिए, व्यक्ति को बुद्धिमानी के साथ दुनियादार समझ भी चाहिए। सम्वेदना के वैयक्तिक धरातलों पर जिस तरह उन्होंने अपने तर्कों के स्थापत्य से, अपनी विचारधारा का भवन खड़ा किया, वह धर्माश्रित दृष्टि को लाक्षागृह की तरह लगा और उन्होंने

युवाओं को निरन्तर उपदेश दिया कि उस भवन में प्रवेश घातक है, लेकिन पिछले दशकों में जिस तरह उनके विचारों का वर्चस्व बढ़ा, वह हत्प्रभ करता है। बेशक उन्होंने अपने विचारों और जीवन–शैली से, एक प्रति–संस्कृति को जन्म दिया।

अपने जीवन के आख़िर के वर्षों में, वे कई अप्रकट व्याधियों से जूझते हुए, थक से गए थे, लेकिन उन्होंने हमेशा अपनी अभिव्यक्तियों को आत्मदया के दायरे से पूरी तरह बाहर ही रखा। हालाँकि उन्हें कभी–कभी अवैध इच्छाओं के काले नरक में भटकते हुए, ईश्वर की भूख लगती थी। इसलिए जब फूको को हम, उनकी समग्रता में आलचाल करते हैं तो लगता है कि वह कोई एक अभिशप्त व्यक्ति था, और जो नीत्शे के ईश्वर रहित संसार में घिर आए शून्य को भरने का बौद्धिक उपक्रम करते हुए चुपचाप मारा गया। वे हमेशा 'कर्ता' को हाशिये पर रख कर, 'विषय' के भीतर प्रवेश की माँग करते थे। अन्त में, मुझे यह याद आता है कि, मिशेल फूको, आत्महत्या की चेष्टा भी करते हैं और जीवन को जीने की ज़िद में मुब्तिला भी रहे।

एस असाध्य रोग की भयावहता से जूझने के बीच, मृत्यु के इस अधिवक्ता ने जीवन की दारुणता से मुक्ति की कामना, अर्थात् मृत्यु की इच्छा, किसी भी मित्र या व्यक्ति के समक्ष प्रस्तुत नहीं की। शायद, सब कुछ नष्ट होने के बीच भी, मनुष्य के भीतर वह आद्य जिजीविषा मरती नहीं है। मुझे एक लातिनी कवि की एक बात याद आती है– मनुष्य की आद्य–वृत्ति को जब–जब सामने के दरवाज़े से बाहर फेंक दिया गया, वह पिछले दरवाज़े से फिर प्रवेश कर गई है। मुझे लगता है कि एक अर्ध मृत और अर्ध जीवित कामना, मनुष्य के भीतर से सदा से ही उसे पुकारती रहती है।

पुनर्वसु जोशी

डॉ. पुनर्वसु जोशी की प्रारम्भिक शिक्षा इंदौर में हुई। अपनी विद्यालयीन शिक्षा के पूर्ण होने के पश्चात उन्होंने सन् 2001 में, एरिज़ोना, यू.एस.ए. की एरिज़ोना स्टेट यूनिवर्सिटी (ASU) में इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के बी.एस.ई. की पढ़ाई के लिए दाखिला लिया और वहाँ से सन 2005 में डिग्री हासिल की। बी.एस.ई. करने के दौरान, अपनी पढ़ाई के दूसरे वर्ष में वे, सेंटर फॉर सॉलिड स्टेट इलेक्ट्रोनिक रिसर्च के निदेशक और क्वान्टम इलेक्ट्रॉनिक्स के प्रोफेसर, डॉ. ट्रेवर थोर्न्टन, जिन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय, ब्रिटेन से भौतिकी में पीएच–डी की और उसके पश्चात अमेरिका की बेल लैब्स में शोध किया, के संपर्क में आए और उनके लिए अंडरग्रेजुएट शोधार्थी के रूप में काम करने लगे। सन 2005 में अपनी बी.एस.ई. डिग्री के अंतिम सेमेस्टर में, डॉ. थोर्न्टन के आग्रह, अनुशंसा और रिसर्च सेंटर द्वारा प्रदत्त छात्रवृति की सहायता से, पुनर्वसु को सीधे पीएच–डी में दाखिला दिया गया। डॉ. थोर्न्टन, उस समय, नैनो–टेक्नोलोजी के डी.एन.ए. सीक्वेंसिंग के क्षेत्र के अंतर्गत शोध कर रहे थे, और उन्होंने पुनर्वसु को भी उसी विषय पर शोध करने के लिए प्रोत्साहित किया। अपने शोध के दौरान पुनर्वसु ने कई अंतर्राष्ट्रीय जर्नल्स में शोध–पत्र प्रकाशित किए। पुनर्वसु जोशी को सन 2011 में पीएच–डी प्रदान की गई।

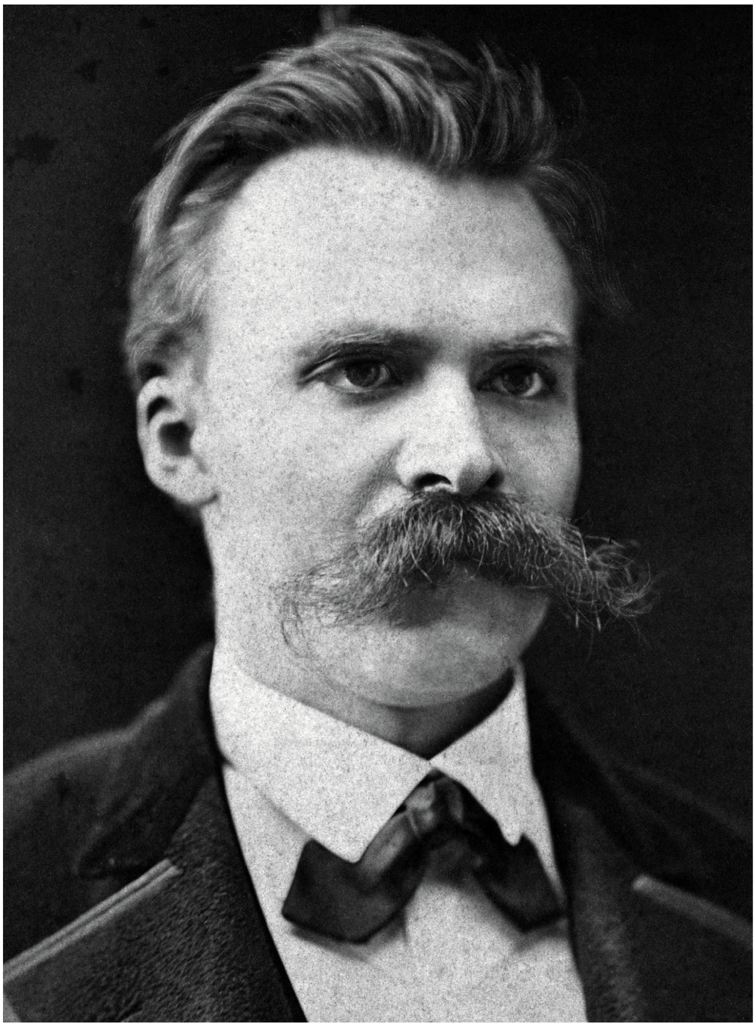
पुनर्वसु अपनी पीएच–डी की पढ़ाई के दौरान, सन् 2007 में, ASU के, सेंटर फॉर नैनो–टेक्नालजी इन सोसायटी द्वारा आयोजित, एक पंद्रह दिवसीय यात्रा के लिए विश्वविद्यालय से चुने गए, जो कि विज्ञान और इंजीनियरिंग के चुनिन्दा छात्रों को अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन डी.सी. ले जाती है, और सत्ता और विज्ञान, विज्ञान का इतिहास, राजनीति और विज्ञान, कानून और विज्ञान, जैसे विज्ञान और दर्शन से जुड़े कई मुद्दों पर न केवल विचार–विमर्श में भाग लेने का अवसर उपलब्ध कराती है, बल्कि, इन विषयों से जुड़े संस्थानों जैसे, नेशनल साइंस फाउंडेशन, नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ हेल्थ, केपिटल हिल, वाईट हाउस के अंतर्गत आनेवाला ऑफिस ऑफ साइंस एण्ड टेक्नालजी पॉलिसी आदि का दौरा भी करवाती है। सन 2010 में, पुनर्वसु ने इसी तरह की दूसरे प्रवास में आयोजक की तरह भागीदारी की।

सन् 2008 की यात्रा के पश्चात, पुनर्वसु ने सेंटर फॉर नैनो–टेक्नालजी इन सोसायटी के विमर्शों में भाग लेना प्रारम्भ किया। सन् 2008 में उन्होंने विश्वविद्यालय की ओर से, अमेरिका की नेशनल अकेडमी ऑफ साइंस में आयोजित, विज्ञान और राजनीति से संबन्धित एक आठ दिवसीय वर्कशॉप में भाग लिया। इसके अतिरिक्त, सामाजिक विज्ञानों, कला, और साहित्यिक विषयों में अपनी गहरी आसक्ति के चलते, पुनर्वसु को अमेरिका के कई विश्वविद्यालयों जैसे हार्वर्ड, स्टेनफोर्ड, यूनिवर्सिटी ऑफ पेंसिलवेनिया, हार्वर्ड बिज़नेस स्कूल आदि, में लोगों से मिलने और मैत्री का अवसर भी मिला। इसके अतिरिक्त अमेरिका के कई कला दीर्घाओं और संग्रहालयों जैसे, न्यूयॉर्क के मेट्रोपॉलिटन म्यूज़ियम, गुग्गनहाईम म्यूज़ियम, विटनी म्यूज़ियम, म्यूज़ियम ऑफ मॉडर्न आर्ट, वाशिंगटन डी.सी. की नेशनल गैलारी ऑफ आर्ट, सिएटल आर्ट म्यूज़ियम आदि देखने का अवसर भी मिला। अपनी पढ़ाई पूरी करने के पश्चात, पुनर्वसु ने तीन वर्षों तक नैनोटेक्नोलोजी संबन्धित एक कंपनी में भी काम किया। सन 2014 में पुनर्वसु पुनः भारत लौट आए।

पता : द्वारा प्रभु जोशी, 303, गुलमोहर निकेतन,
प्लॉट–सी, M-I बसंत विहार, शांति निकेतन के पास,
इन्दौर–462010 मो.–9575712989

रचना समय
की
नई प्रस्तुतियाँ

फ्रेडरिक नीत्शे विशेषांक



जॉक देरिदा विशेषांक

